भारत की भाषा-समस्या

रामविलास शर्मा

प्रथम संस्करण की भूमिका

भाषा की समस्या मूलतः जातीय समस्या का ही एक अंग है। इस देश में अनेक भाषाएँ बोलनेवाली जातियाँ रहती हैं। इनसे मिलकर भारत राष्ट्र बना है। इस राष्ट्र में जातियों की सम्पर्क भाषा क्या हो, एक ही सम्पर्क भाषा हो या अनेक हों—यह समस्या का एक पक्ष है। कुछ लोग इस देश को उपमहाद्वीप कहते हैं, उनका मत है कि राष्ट्रीयता का भाव अंग्रेजों का विरोध करने से पैदा हुआ, वास्तव में यह देश राष्ट्र नहीं है क्योंकि यहाँ एक भाषा के बदले अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। इस तरह राष्ट्रभाषा की समस्या का विवेचन करते हुए राष्ट्र की व्याख्या करना आवश्यक हो जाता है, विशेषकर भारतीय राष्ट्रीयता के ऐतिहासिक विकास पर कुछ कहना आवश्यक हो जाता है। राष्ट्रभाषा की समस्या विशुद्ध भाषा-विज्ञान की समस्या न होकर बहुजातीय राष्ट्र के गठन और विकास की ऐतिहासिक-राजनीतिक समस्या बन जाती है।

भारत की जातियों में हिन्दी-भाषी जाति संख्या की दृष्टि से सबसे बड़ी है। कुछ लोग इस जाति के अस्तित्व से ही इन्कार करते हैं। वे कहते हैं कि उत्तर भारत के पुराने जनपदों में रहनेवाले लोग स्वतन्त्र जातियाँ हैं; बुन्देलखण्डी, अवधी, ब्रजभाषा आदि हिन्दी की बोलियाँ नहीं हैं, वे हिन्दी से स्वतन्त्र भाषाएँ हैं। हिन्दी क्षेत्र में भाषा और बोलियों की यह समस्या हिन्दी-भाषी जाति के विकास की समस्या बन जाती है। इस विकास को समझे बिना भाषा और बोली के प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता। भाषा-समस्या का यह दूसरा पक्ष है।

इसी हिन्दी प्रदेश में बोलचाल की भाषा के आधार पर साहित्यिक भाषा के दो रूप—हिन्दी और उर्दू—विकसित हुए। उर्दू मुसलमानों की भाषा है या हिन्दुओं और मुसलमानों के मिलने से बनी, भारत में जो मुसलमान आये वे एक कौम के थे या कई क़ौमों के, उनकी एक भाषा थी या वे कई भाषाएँ बोलते थे, क्या हिन्दी का विकास हिन्दू राष्ट्रवाद के अभ्युत्थान के कारण हुआ, क्या मुसलमानों की अलग कौम है, उर्दू को क्षेत्रीय भाषा बनाया जाय या नहीं—

ये सभी प्रश्न हिन्दी-भाषी जाति के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के साथ जुड़े हुए हैं। भाषा-समस्या का यह तीसरा पक्ष हुआ।

भारतीय जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने बहुजातीय राष्ट्र की विशेषताएं पहचानें, इस राष्ट्र मे हिन्दी-भाषी जाति की भूमिका पहचानें। इस दृष्टि से भारत की भाषा-समस्या का व्यापक महत्त्व है, इसमे किसी को सन्देह न होना चाहिए।

इस पुस्तक मे पिछले तीस वर्षों मे भाषा-समस्या पर लिखे हुए मेरे अधिकांश निबन्धों का संग्रह है। इससे पाठक देख सकेंगे कि इस अवधि मे भाषा-समस्या के कौन से पक्ष, किस समय एक हिन्दी लेखक के मन को आन्दोलित करते रहे। इन वर्षों मे मेरे विचार बदले हैं। लेखो मे समस्या के विभिन्न पक्षो पर, अलग-अलग समय पर कम-ज्यादा जोर दिया गया है किन्तु मेरी तीन बुनियादी मान्यताओ मे कोई अन्तर नही आया। पहली यह कि अंग्रेजी भारत की सभी भाषाओ पर साम्राज्यवादियो द्वारा लादी हुई भाषा है और उसका प्रभुत्व जल्दी-से-जल्दी खत्म करना चाहिए। दूसरी यह कि हिन्दी और उर्दू मूलत: एक ही भाषा हैं और आगे चलकर दोनो घुल-मिलकर एक होंगी, बोलचाल की भाषा के आधार पर एक ही साहित्यिक भाषा का विकास होगा। तीसरी यह कि बुन्देलखण्डी, व्रज, अवधी आदि हिन्दी की बोलियाँ हैं, स्वतन्त्र भाषाएँ नही हैं।

भारत की बहुजातीय राष्ट्रीयता के बारे मे, हिन्दी-भाषी जाति के विकास के बारे मे, हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता और हिन्दी की जनपदीय बोलियो के परस्पर सम्बन्ध के बारे मे मेरी मान्यताओ मे कोई परिवर्तन नही हुआ।

भारतीय संविधान के अनुसार सन् '६५ मे केन्द्र के राजकीय काम-काज मे अंग्रेजी का व्यवहार समाप्त हो जाना चाहिए था। स्वभावत. इस वर्ष मैंने जो लेख लिखे हैं उनका सम्बन्ध अंग्रेजी-हिन्दी अथवा अंग्रेजी बनाम भारतीय भाषाओ वाले विवाद से अधिक है। मेरे कुछ मित्रो ने मुझे याद दिलाया है कि सन् '४६ मे मैं अनिवार्य राजभाषा का विरोधी था; अब हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनवाने के लिए अन्य राष्ट्रवादियो की तरह दूसरो पर जोर-जबर्दस्ती से हिन्दी लादने का आन्दोलन कर रहा हूँ।

इन मित्रो की सेवा मे निवेदन है कि जैसे मैं अनिवार्य राजभाषा का विरोधी सन् '४६ मे था, वैसे ही आज भी हूँ। मैं किसी भी भाषा पर हिन्दी लादने का विरोध करता हूँ। मैं हिन्दी को सम्पर्क-भाषा बनाने के पक्ष हूँ, दूसरी भाषाओ के क्षेत्र मे राजकीय और शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों मे हिन्दी के व्यवहार के पक्ष मे नही हूँ। सम्पर्क-भाषा को भी कुछ लोग हिन्दी का लादा जाना समझते हैं। मैं किसी भी प्रदेश की इच्छा के विरुद्ध उसके लिए हिन्दी को सम्पर्क भाषा बनाने का भी समर्थन नही करता। लेकिन मैं यह भी कहता हूँ, अंग्रेजी-प्रेमियो को हिन्दीभाषी प्रदेशो पर अंग्रेजी लादने का कोई अधिकार

नहीं है। अहिन्दी-भाषी प्रदेशों के नेता नहीं चाहते कि केन्द्र में अंग्रेजी की जगह हिन्दी का चलन हो, उनकी इच्छा। वे केन्द्र में हिन्दी के अलावा अन्य भाषाओं का चलन कर सकते हैं। इसमें उन्हें अराजकता दिखायी देती हो तो अंग्रेजी ही चलायें लेकिन वे हिन्दीभाषियों को बाध्य नहीं कर सकते कि लोकसभा, राज्यसभा तथा केन्द्रीय राजकाज में वे भी अंग्रेजी का व्यवहार करें।

हिन्दी-भाषी जाति भारत की सबसे बड़ी जाति है। वह केन्द्र में अपने प्रतिनिधियों को हिन्दी लिखने-बोलने के लिए बाध्य करके अंग्रेजी का प्रभुत्व खत्म कर सकती है। १४ मार्च, सन् '६५ के 'धर्मयुग' में इस आशय का सुझाव देखकर कम्युनिस्ट नेता श्री योगीन्द्र शर्मा ने लिखा था कि यह गृहयुद्ध की ललकार है।

मई, सन् '५८ के 'समालोचक' में मैंने लिखा था, "यदि हिन्दी-भाषी जनता संगठित हो, यदि वह अपने प्रदेश में हिन्दी को पूर्ण रूप से राजकाज की भाषा बनाये तो यह असम्भव है कि यह विशाल प्रदेश और बहुसंख्यक जनता सारे देश को अपने साथ खींचकर न ले चल सके।'

६ जनवरी, सन् '६३ के 'धर्मयुग' में मैंने लिखा था, "यदि समस्त हिन्दी-भाषी प्रदेश में शिक्षा-संस्थाओं, न्यायालयों, राजकीय कार्यों में हर स्तर पर हिन्दी का व्यवहार होने लगे, यदि विधान परिषदों के सदस्य प्रतिज्ञा करें कि व अपना सार्वजनिक कार्य हिन्दी में ही करेंगे, यदि लोकसभा के सदस्य तय कर लें कि वे राजभाषा के रूप में हिन्दी का ही व्यवहार करेंगे, तो क्या इसमें किसी को सन्देह हो सकता है कि समूचे राष्ट्र का वातावरण बदल जायेगा और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाते जरा भी देर न लगेगी।"

योगीन्द्र शर्माजी नोट कर लें, जिसे वह गृहयुद्ध की ललकार कहते हैं, वह बात काफी पुरानी है।

इस संग्रह में काफी लेख ऐसे हैं जो कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों और मार्क्सवादी लेखकों में आपसी बहस के लिए लिखे गये थे। सन् '४६ में जो लेख 'कम्युनिस्ट' पत्रिका में छपा था, उसके ऊपर लिखा था, 'बहस के लिए लेख'। सितम्बर, '६४ के 'न्यू एज' (मासिक) में हिन्दी और राष्ट्रीय एकता पर मेरा जो लेख छपा था, उस पर भी लिखा था, 'बहस के लिए लेख'। यह बताना इसलिए आवश्यक है कि पाठकों को यह भ्रम न हो कि मैंने अपने लेखों में जो बातें कही हैं, वे कम्युनिस्ट पार्टी की स्वीकृत मान्यताएँ हैं।

यद्यपि मैंने हिन्दी-उर्दू समस्या तथा हिन्दी क्षेत्र में भाषा और बोलियों के प्रश्न पर अनेक बार और काफी विस्तार से लिखा है, किन्तु मेरी स्थापनाओं का विरोध करनेवालों ने कभी भी मेरे तर्कों का खण्डन नहीं किया। इसके बदले वे मुँहजबानी मेरे बारे में अफवाहें फैलाते रहे हैं। इधर जब से अंग्रेजी को लेकर संघर्ष तेज हुआ है, वे उन अफवाहों को छापे के हरूफों में प्रकाशित भी करने लगे हैं। इन मित्रों से निवेदन है कि फतवे देने से भाषा समस्या का समाधान नहीं

हो सकता। तर्क का उत्तर तर्क से ही दीजिए।

भाषा-समस्या का घनिष्ठ सम्बन्ध राष्ट्रीय एकता से है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। जिस राष्ट्र में जितनी ही आन्तरिक दृढ़ता होगी उतना ही वह हर तरह का तनाव और बोझ सह लेने की स्थिति में होगा। जिस देश की फ़ौज और जनता में दृढ़ भाईचारा होता है, जिस फ़ौज में नायकों और सैनिकों के बीच दृढ़ भाईचारा होता है जिस देश की राजसत्ता के पीछे संगठित जनता की शक्ति होती है वह देश अपराजेय होता है। भाषा-समस्या का सही समाधान राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करके उसे अजेय बना सकता है, भाषा-समस्या का ग़लत समाधान लोगों में असन्तोष पैदा करके राष्ट्रीय एकता को कमज़ोर कर सकता है। इस तरह का असन्तोष हर अवस्था में विघटनकारी होता है; दीर्घकालीन युद्ध की परिस्थितियों में वह विशेष रूप से ख़तरनाक साबित हो सकता है। हमारी राष्ट्रीय एकता हर परिस्थिति में हर तरह का तनाव बर्दाश्त करके अटूट बनी रहे, हमें यही प्रयत्न करना चाहिए।

इस संग्रह के कुछ लेख अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुए थे; उनका यहाँ अनुवाद दिया गया है। 'भाषा और साहित्य में पाकिस्तान' सतरंगी की एक बँगला पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, उसका भी अनुवाद दिया गया है। अधिकांश लेख हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं और यहाँ पहली बार संकलित किये गये हैं। कुछ लेख मेरे अन्य निबन्ध-संग्रहों में आ चुके हैं। अन्तिम तीन लेख इस संग्रह में पहली बार प्रकाशित हो रहे हैं। कुछ लेखों के अनावश्यक अंश काट दिये गये हैं, किन्तु उनकी कोई मुख्य स्थापना न बदले, मेरी दृष्टि में आज वह सही हो या ग़लत, इसका मैंने ध्यान रखा है। सन् '४६ वाले निबन्ध में मैंने अनिवार्य केन्द्रीय राजभाषा का विरोध किया था और कहा था कि हिन्दी को केन्द्रीय राजभाषा बनाने से बड़े पूँजीपतियों को लाभ होगा। यह स्थापना उस निबन्ध में रहने दी है यद्यपि बड़े पूँजीपतियों की भूमिका और केन्द्रीय राजभाषा के बारे में मेरे विचार वही नहीं हैं। मैं केन्द्रीय राजभाषा को अनिवार्य बना देने, यानी दूसरों की इच्छा के विरुद्ध उन पर लादने का विरोधी हूँ किन्तु इस बात को आवश्यक और वांछनीय समझता हूँ कि भारत के विभिन्न दल हिन्दी को केन्द्रीय राजभाषा बनाने के लिए प्रयत्न करें, इन दलों के नेता ही जनमत के प्रतिनिधि बनते हैं, वे अपनी पार्टियों के केन्द्रीय दफ़्तरों से अंग्रेज़ी निकालें तो उन्हें अखिल भारतीय सम्पर्क के लिए पहले अपनी पार्टी में, फिर शासन-व्यवस्था में हिन्दी के व्यवहार की उपयोगिता दिखायी देने लगे।

भारत की राजनीतिक पार्टियों में मेरा सम्बन्ध कम्युनिस्ट पार्टी से रहा है। मैंने यह आवश्यक समझा कि ख़ुद कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर अंग्रेज़ी का व्यवहार ख़त्म करने के लिए आन्दोलन किया जाय। इस आशय से कुछ बातें मैंने सितम्बर, सन् '६४ की 'न्यू एज' पत्रिका में लिखी थीं। यह पत्रिका भारतीय कम्युनिस्ट

पार्टी का मुखपत्र है। 'भाषा की समस्या—अति आवश्यक' और 'भाषा की समस्या और राष्ट्रीय विघटन' लेख 'जनशक्ति' में प्रकाशित हुए। 'जनशक्ति' भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की बिहार शाखा का मुखपत्र है। इसमें श्री योगीन्द्र शर्मा ने मेरी मान्यताओं का खण्डन करते हुए दो लेख लिखे। 'भाषा की समस्या और मजदूर वर्ग' तथा 'भारत की राजभाषा अंग्रेज़ी और राष्ट्रीय जनतान्त्रिक मोर्चा' उनके लेखों के प्रत्युत्तर हैं। ये भी 'जनशक्ति' में प्रकाशित हुए थे।

मैं 'जनशक्ति' के सम्पादकों का कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी के एक अखिल भारतीय नेता के विरुद्ध मेरे तीव्र खण्डनात्मक लेख छापे।

मेरे अनेक भाषा सम्बन्धी लेख 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुए हैं जिससे मेरी बात हजारों ऐसे पाठकों तक पहुँची है जो मेरी पुस्तकों और लेखों से एकदम अपरिचित थे। इसके लिए मैं 'धर्मयुग' के सम्पादकों का कृतज्ञ हूँ। 'धर्मयुग' ने अंग्रेज़ी-विरोधी आन्दोलन में सक्रिय भाग लेकर सराहनीय कार्य किया है। उसका बीटनिक प्रेम थोड़ा कम हो जाय तो वह हिन्दी भाषा और साहित्य की और भी सेवा करे।

५ अक्तूबर, '६५ रामविलास शर्मा

दूसरे संस्करण की भूमिका

१९६५ में राष्ट्रभाषा की समस्या नाम से मेरी एक पुस्तक छपी थी। बहुत दिन से यह अप्राप्य है। उसी का दूसरा संस्करण 'भारत की भाषा-समस्या' नाम से अब प्रकाशित हो रहा है। पुस्तक में भाषा-समस्या के अनेक पक्ष हैं। राष्ट्र भाषा की समस्या वाला पक्ष उनमें से एक है। पुस्तक का पुराना नाम प्रकाशक का दिया हुआ था। उसे बदलना मैंने जरूरी समझा।

भारत में विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले आपस में सम्पर्क के लिए किसी एक भाषा का व्यवहार करें, यह समस्या का एक पक्ष है। हिन्दी-भाषी प्रदेश में हिन्दी और उर्दू दो भाषाओं के रूप में स्वीकृत न की जायें, हिन्दी प्रदेश की एक ही जातीय भाषा स्वीकार की जाय, विभिन्न जनपदों की उपभाषाएँ जातीय भाषा हिन्दी की तुलना में गौण स्थान पायेंगी, यह भाषा-समस्या का दूसरा पक्ष है। सारे देश के लिए हिन्दी को ही सम्पर्क भाषा बनाने की बात होती है और यही हमारी—हिन्दी प्रदेशवासियों की—जातीय भाषा भी है, इसलिए समस्या के ये दोनों पक्ष एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इन्हीं दो पक्षों पर इस पुस्तक के अधिकांश निबन्ध लिखे गए हैं। इन दो पक्षों के अलावा तीसरा पक्ष उन भाषाओं का है जिन्हें जातीय भाषाओं के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं हुई अथवा जो राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यों के लिए व्यवहार में नहीं आतीं। भारत में चार मुख्य भाषा-परिवार हैं, आर्य, द्रविड, कोल और नाग।

सभी परिवारो मे कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिन्हें अपना उपयुक्त स्थान नही मिला। आर्य भाषा-परिवार में ऐसी भाषाओं की सख्या कम है। इससे अधिक सख्या द्रविड भाषाओं की है और इनमे से अधिकाश द्रविड भाषाएँ ऐसी हैं जो अन्य द्रविड भाषा-क्षत्रो से ही घिरी हुई हैं। ऊपर से देखने मे लगता है कि विध्याचल के दक्षिण मे चार मुख्य द्रविड भाषाएँ हैं—तमिल, मलयालम, तेलुगु और कन्नड। प्रचार यह किया जाता है कि आर्यों ने उत्तर भारत जीतकर द्रविडो को दक्षिण भारत में ठेल दिया, द्रविड भाषाओं के क्षेत्र मे इन भाषाओं की कोई अपनी समस्या नही है। किन्तु अधिकाश पिछडी हुई जातियो और कबीलो की द्रविड भाषाएँ आर्य-भाषा क्षेत्रो मे नही हैं, वे द्रविड भाषा-क्षेत्रो मे हैं। दक्षिण भारत के चार द्रविड भाषा-भाषी राज्यो मे पच्चीसो द्रविड भाषाएँ ऐसी हैं जो चार प्रमुख द्रविड भाषाओं से भिन्न हैं। भाषाविज्ञानी इनका अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उनपर शोध कार्य किया जाता है, किन्तु उन्हें राजनीतिक और सास्कृतिक कार्यों के लिए मान्यता प्रदान नही की जाती। इन भाषाओं का व्यवहार करने वालो का जातीय जीवन पुनर्गठित करना आवश्यक है। जहाँ आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर इकाई बन सके, वहाँ उनका राज्य बनाना चाहिए। जहाँ ऐसा सभव न हो, वहाँ बृहद् राज्यो के अन्तर्गत उनके स्वायत्त क्षेत्र कायम करने चाहिए।

कोल भाषा परिवार भारत का अत्यन्त प्राचीन भाषा परिवार है। यही एक ऐसा परिवार है जिसकी भाषाएँ बोलने वालो का भारत में कोई अपना राज्य नही है। इस परिवार की भाषाएँ बोलने वाले अग्रेज़ो के विरुद्ध स्वाधीनता-सग्राम मे लड चुके हैं। इनमें सन्थालो का वीरतापूर्ण सग्राम विशेष रूप से स्मरणीय है। ये लोग पश्चिम से पूर्व तक पूरे मध्यभारत मे फैले हुए हैं। यदि आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर इनका राज्य बन सके तो उसे अवश्य बनाना चाहिए, न बन सके तो बिहार, उडीसा और मध्यप्रदेश जैसे राज्यों मे इनके स्वायत्त क्षेत्र कायम करने चाहिए। कोल भाषाएँ बोलने वाले लोग जातीय निर्माण की विभिन्न मञ्जिलो मे हैं। इनके सामाजिक विकास की विविधता का विस्तृत अध्ययन करके इनकी भाषा-समस्या सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ कोल शब्द के व्यवहार के बारे मे दो बातें कहना आवश्यक है। इस शब्द का एक अर्थ सूअर होता है। इस कारण कुछ लोग इस शब्द को अपमान-जनक समझते हैं। इसके बदले वे मुण्डा शब्द का व्यवहार करना पसद करते हैं। जिस कोल शब्द का अर्थ सूअर है वह कोल भाषा परिवार का ही है, इसमे मुझे सन्देह है। यह शब्द यूरप की लिथुआनियन भाषा मे भी है और वहाँ भी उसका अर्थ सूअर है। इस लिथुआनियन भाषा के लिए कहा जाता है कि इसमें इण्डोयूरोपियन परिवार के प्राचीन लक्षण अधिक सुरक्षित हैं। त सूअर के पर्यायवाची कोल शब्द को इण्डायूरोपियन परिवार का प्राचीन माना जा सकता है। इससे भिन्न है दूसरा कोल शब्द जिसका अर्थ है

वीर पुरुष या ओजवान। गण समाजों की यह परम्परा रही है कि उनकी भाषा मे जो शब्द पुरुषत्व-सूचक होता है, उसी को गणसमाज का नाम मान लेते हैं। उत्तर भारत का पुरु वंश प्रसिद्ध है। पुरुष शब्द उसी पुरु से बना है। नाग भाषा परिवार मे नाग या नगा मूलत नग शब्द है जिसका अर्थ है पुरुष। कश्मीरी, हिन्दी आदि भाषाओं मे अब भी एक नग, दो नग का अर्थ होगा, एक आदमी, दो आदमी। कबीले का नाम बताने वाले कोल शब्द का अर्थ गौरव-पूर्ण है। उसे हीन समझकर छोडना न चाहिए। पर कोल शब्द के लिए मेरे आग्रह का मुख्य कारण दूसरा है। अवध से लेकर छोटा नागपुर तक जहाँ भी कोल जनो की बस्तियाँ रही हैं, वहाँ स्थाना के साथ यह नाम जुड गया है और उसका ऐतिहासिक महत्व है। बैसवाडे मे एक गाँव कुलहा है। स्पष्ट ही इसका सम्बन्ध कोल जनों से है। छोटा नागपुर मे इससे ठीक मिलता-जुलता एक स्थान है कोलहा। मेरा अनुमान है कि गढा-कोला जैसे स्थानवाचक नामों मे भी गढ के साथ दूसरा शब्द विशेष जनसमुदाय अर्थात कोल जनो का सूचक है। कोल शब्द के सहारे भाषा-विज्ञान, समाजशास्त्र और इतिहास की अनेक गुत्थियाँ सुलझाई जा सकती हैं। अत मैं इसी शब्द का व्यवहार करता हूँ।

भारत मे नागभाषा परिवार ही एक ऐसा परिवार है जिसकी भाषाएँ बोलने वाले लोगो ने अपने राज्य की भाषा को अंग्रेजी बताया है। अगामि, सेमा आदि गण अपने दैनिक जीवन में अपनी-अपनी गण भाषाओं का व्यवहार करते हैं। आपस मे और दूसरो से सम्पर्क मे आने पर वे एक प्रकार की हिन्दी का व्यवहार करते हैं जिसमे अनेक भाषाओं के तत्व आकर घुलमिल गये हैं। अंग्रेजी बहुत थोडे लोग जानते हैं किन्तु ईसाई धर्म-प्रचारकों के प्रभाव से इनके राज्य का नाम नागालैण्ड है और इस राज्य की भाषा अंग्रेजी है। अन्य प्रदेशों की तरह यहाँ भी यह सत्य है कि जब नाग भाषाओं को अपना स्वत्व प्राप्त होगा, तब अंग्रेजी की स्थिति कमजोर होगी और वे लोग जो टूटीफूटी मिश्रित हिन्दी का व्यवहार करते हैं, उन्हें इस सम्पर्क भाषा को सुदृढ करने का अवसर मिलेगा। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि छोटा नागपुर मे कोल और द्रविड जन इसी प्रकार की टूटी फूटी मिश्रित हिन्दी का व्यवहार करते हैं। कोल भाषाओं को उनका स्वत्व प्राप्त होने के साथ साथ यह टूटी-फूटी हिन्दी भी सुदृढ सम्पर्क भाषा के रूप मे प्रयुक्त होगी।

यहाँ परिनिष्ठित भाषा और उसके अपरिनिष्ठित रूपो की चर्चा करना आवश्यक है। नागालैण्ड और छोटा नागपुर केवल दो ऐसे प्रदेश नहीं हैं जहाँ हिन्दी के अपरिनिष्ठित रूपों का चलन है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या सन् १९२८ से कलकत्ते की हिन्दी की वकालत करते रहे हैं। १८वीं सदी के अन्त में अंग्रेज तथा यूरप के अन्य व्यापारी, उत्तर भारत और बंगाल के विभिन्न पदों के लोग, इसी हिन्दी से काम चलाते थे। दक्षिण भारत मे दक्नी नाम से हिन्दी का एक रूप विख्यात है। वहाँ शिक्षित लोग साहित्य मे परिनिष्ठित

स्तर पर अंग्रेजी का स्थान लेती है या नही। १९४८ मे पैरिस की एक सभा मे डॉक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भी हिन्दी को राष्ट्र सघ मे स्थान देने की बात कही थी। किन्तु जब हिन्दी को केन्द्रीय राज्यभाषा बनाने का प्रश्न सामने आया, तो उन्होने भाषा-आयोग के बहुमत से अलग अपनी विरोधी राय प्रकट की। यदि, भारत के प्रतिनिधि राष्ट्र सघ मे हिन्दी का व्यवहार करें या किसी अन्य भारतीय भाषा मे अपने विचार प्रकट करें तो ससार को पता चल जाए कि भारत अब अंग्रेजी और अंग्रेजो का अर्ध उपनिवेश नही रहा। तब राष्ट्र सघ की एक भाषा हिन्दी हो, यह माँग करते हुए अच्छा भी लगेगा। पर अभी तो भारत की लोक सभा मे अंग्रेजी का बोलबाला है। जब भारत की लोक सभा मे अंग्रेजी छायी हुई है, तब विश्वसस्था राष्ट्रसघ मे हिन्दी को स्थान देने की माँग हम किस मुँह से कर सकते हैं? ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी को विश्वभाषा बनाने के प्रति राजनीतिज्ञो मे जो गहरी दिलचस्पी पैदा हो गयी है, उसका कारण ही यह है कि लोग यह न पूछें कि लोकसभा मे और अखिल भारतीय सेवाओ मे अंग्रेजी का चलन क्यो है।

भाषा की समस्या मात्र प्रशासन-सम्बन्धी समस्या नही है। इसका गहरा सम्बन्ध देश के जनतान्त्रिक आन्दोलन और देश की सुरक्षा से है। जनतन्त्र से जितना लाभ या हानि सम्पत्तिशाली लोगो को होती है, उससे अधिक लाभ या हानि श्रमिक जनता को होती है। भारत के सामाजिक विकास का यह अकाट्य तथ्य है कि हिन्दी प्रदेश से अलग, भिन्न प्रदेशो मे, हिन्दी भाषी मजदूरो की सख्या बहुत बड़ी है। जिन कारणो से हिन्दी प्रदेश के गरीब और मुफलिस किसान अपना देश छोडकर अफ्रीका, फीजी, मारीशस आदि द्वीपो, महाद्वीपो मे कुलीगीरी करने गये थे, उन्ही कारणो से इनके भाई बन्धु अपना प्रदेश छोडकर बम्बई कलकत्ता जैसे बडे नगरो मे मजदूरी करने गये थे। कलकत्ते के मजदूरो मे आधे से कुछ ज्यादा ही हिन्दीभाषी होगे। इसी तरह बम्बई के मजदूरो मे एक बहुत बडा हिस्सा हिन्दी मजदूरो का है। जिस तरह देश छोडकर जाने वाले हिन्दी मजदूरों ने अपनी भाषा को विश्वभाषा बनाया है, उसी तरह अपना प्रदेश छोडकर जाने वाले, बगाल महाराष्ट्र आदि मे मजदूरी करने वाले, हिन्दी श्रमिको ने अपनी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाया है। हिन्दी के बिना अखिल भारतीय स्तर पर मजदूरो का सगठन हो ही नही सकता। जनतत्र की एक अत्यन्त जागरूक शक्ति मजदूर हैं, इसलिए जो लोग जनतत्र की रक्षा की बातें करते हैं, उन्हे अविलम्ब भारत के सामाजिक जीवन से अंग्रेजी के व्यवहार को निकाल बाहर करना चाहिए।

दूसरी बात सुरक्षा की है। स्वाधीन भारत ने अभी किसी बडे युद्ध का सामना नही किया, पर हो सकता है, निकट भविष्य मे उसे ऐसे युद्ध का सामना करना पडे। आधुनिक युद्ध की विशेषता यह है कि वह सैनिको और असैनिक जनता मे विशेष भेद नहीं करता। सैनिको और असैनिक जनता

के सहयोग से ही युद्ध मे सफलता मिलती है। युद्ध के मोर्चे पर चाहे आगे बढना हो, चाहे सैनिक कारणो से पीछे हटना हो, दोनो स्थितियो मे परस्पर सहयोग अपेक्षित होता है। यदि युद्ध दीर्घकाल तक चला या छापमार लडाई चलाने की नौबत आयी, तो जनता का सम्पर्क और सहयोग और भी अधिक अपेक्षित होगा। इसके लिए बहुत जरूरी है कि जनता और सेना, दोना किसी एक भाषा का व्यवहार करके एक दूसरे की बात समझ सकें भले ही यह भाषा टूटी-फूटी हो, अपरिनिष्ठित हो, पर उसका कामचलाऊ होना बहुत जरूरी है। जनता के अलावा स्वय सेना के भीतर अफसर और सिपाही के बीच जितना फासला कम होता है, उतना ही फौज भीतर मे मजबूत होती है। यदि अफसर अग्रेजी के रग मे रँगे होगे तो उनके और साधारण सैनिको के बीच मे फासला ज्यादा होगा और उतना ही सेना की जुझारू शक्ति कम होगी। इसलिए अग्रेजी का प्रभुत्व समाप्त करना और उसकी जगह कामचलाऊ हिन्दी का व्यापक प्रसार करना राष्ट्र के जीवन-मरण का प्रश्न है।

निस्सन्देह जो लोग अग्रेजी के व्यवहार के आदी हैं, उन्हें इस भाषा का मोह छोडते थोडा कष्ट होगा। अपने दिल को हिम्मत बँधाने के लिए उन्हें यह बात याद कर लेना चाहिए कि १९वी सदी में 'राजपूताना' मे स्थित अग्रेज अफसर वहाँ के राजाओ स हिन्दी मे ही पत्र-व्यवहार करते थे। राजा बलवन्तसिंह कालेज के हिन्दी अध्यापक डॉ० श्री मोहन द्विवेदी की देख-रेख मे महेशचन्द्र गुप्त राजस्थान के प्रशासनिक 'कार्यों म हिन्दी का प्रयोग' (१८५७-१९७४) विषय पर शोध कार्य कर रहे हैं। उन्होने १८५७ से पहले के और उसके बाद के भी काफी दस्तावेज इकट्ठे किए हैं। इन दस्तावेजो में वे पत्र हैं जो अग्रेजो ने राजाओ को लिखे, इनके अतिरिक्त वे पत्र हैं जो राजाओ ने अग्रेजो को लिखे, साथ ही ऐसे पत्र हैं जो राजाओ ने एक दूसरे को लिखे। यदि राजस्थान मे १९वी सदी मे हिन्दी राजभाषा के रूप मे काम आती थी और उसका व्यवहार हिन्दुस्तान के लोग ही नही, अग्रेज भी करते थे, तो कोई कारण नही कि २०वी सदी के अन्तिम चरण मे अग्रेजी प्रेमी भारतवासी अपना अग्रेजी मोह त्यागकर हिन्दी का उपयोग न कर सकें।

राष्ट्रीय सुरक्षा के साथ राष्ट्रीय एकता का प्रश्न जुडा हुआ है। राष्ट्रीय एकता केवल हिन्दुओ और मुसलमानो की एकता नही है। पश्चिमी पाकिस्तान के धर्मान्ध लोगो ने पूर्वी बगाल के लोगो की भाषा और जातीय सस्कृति की अवहेलना करके धर्म के नाम पर उन्हें दबाकर रखने का प्रयत्न किया। इसम उन्हें सफलता न मिली। बचे हुए पाकिस्तान मे आन्तरिक सघर्ष विकट रूप धारण कर रहा है और धर्म के नाम पर अपीलें जारी करके उसे शान्त करना असम्भव हो गया है। यदि भारत म मूल सामाजिक समस्याएँ हल न की गईं, तो यहाँ भी भयानक अशान्ति फैल सकती है। राष्ट्रीय एकता विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले समुदायो की एकता भी है। इंग्लैण्ड की अग्रेजी-भाषी जाति का

दो राज्यों में बांट दीजिए तो क्या इससे इंग्लैण्ड की राष्ट्रीय एकता मजबूत होगी ? विभिन्न भाषाएं बोलने वाले मिलकर राष्ट्रीय एकता मजबूत करें, इसके लिए जरूरी है कि कोई एक भाषा बोलने वाला समुदाय भी विभाजित न हो, वरन् आन्तरिक रूप से मजबूत हो। महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, केरल, गुजरात आदि प्रदेशों के लोगों ने भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की मांग की। केन्द्रीय सत्ता ने पहले विरोध किया, फिर वही मांग स्वीकार की। अंग्रेजों ने बम्बई और मद्रास प्रेसीडेन्सी नाम से जो बड़े-बड़े सूबे बनाये थे, उन्हें तोड़कर नये राज्य गठित किए गए। हिन्दी प्रदेश में इससे उल्टी स्थिति है। यहाँ प्रश्न बड़े राज्यों को तोड़कर छोटे राज्य बनाने का नहीं है। प्रश्न है अनेक हिन्दी-भाषी राज्यों को मिलाकर एक बड़ा राज्य बनाने का। अनेक प्रशासन विशारद आपत्ति करते हैं कि इतने बड़े राज्य का शासन चलाना बहुत कठिन होगा, इसलिए उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्य को भी दो-तीन टुकड़ों में बाँटना उचित होगा। जहाँ तक शासन चलाने का सम्बन्ध है, आगरा नगर-महापालिका एक शहर की नालियों की ही सफाई नहीं करा पाती, यदि हर मुहल्ले की एक-एक पालिका बना दी जाय, तो शायद यह शहर आदमियों के रहने लायक हो जाय। पर विश्वास नहीं है कि मुहल्ला पालिका भी मुहल्ले की सफाई करा सकेगी क्योंकि आदत यह है कि अपने घर का कूड़ा दूसरे के घर के सामने डालो और हाजत रफा करने के लिए नालियाँ हैं— जिनमें गहराई बहुत ही कम है क्योंकि ठेकेदार कहता था, नालियाँ गहरी करें तो इंजीनियर को पैसा कहाँ से देंगे ! जनतंत्र की रक्षा करना, शासन तंत्र चलाना नये सिरे से सीखना है। प्रश्न छोटे-बड़े राज्य का नहीं है। प्रश्न है शासन चलाने की योग्यता का। आजकल विकेन्द्रीकरण की काफी चर्चा है। केन्द्रबद्ध शक्ति और शक्ति का विकेन्द्रीकरण परस्परविरोधी बातें नहीं हैं, वे एक-दूसरे की पूरक हैं। भारत जैसे विशाल देश में राष्ट्रीय योजनाएँ बनाना, राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना केन्द्रीय शक्ति का काम है। इस राष्ट्रीय ढाँचे के भीतर नीतियों को कार्यरूप में परिणत करना, आवश्यकता-नुसार उनमें परिवर्तन करना राज्यों का काम है। विकेन्द्रीकरण का एक स्तर राज्य है। पर विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया इसी स्तर पर समाप्त नहीं हो जाती। लोग गाँव, ताल्लुका, तहसील, ब्लाक आदि की बातें करते हैं। राज्य के बाद वाला स्तर जनपद का है। हिन्दी-भाषी प्रदेश में ब्रज, अवध, बुन्देलखण्ड, मिथिला, मगध आदि जनपद साफ पहचाने जाते हैं। मुख्य बोलियों के ऐसे विशेष *क्षेत्र महाराष्ट्र, बंगाल, तमिलनाडु आदि प्रदेशों में भी हैं। इन्हीं को शासन का* मूलाधार बनाना चाहिए, यही विकेन्द्रीकरण का दूसरा स्तर है। हमारे यहाँ जो कमिश्नरियाँ बनी हैं, उनमें जनपदों की सीमाओं का ध्यान नहीं रखा गया। जैसे भोजपुरी क्षेत्र आधा बिहार में है और आधा उत्तर प्रदेश में, जैसे ब्रज क्षेत्र कुछ उत्तर प्रदेश में है और कुछ राजस्थान में, जैसे बुन्देलखण्ड मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश में विभाजित है, वैसे ही कमिश्नरियाँ जनपदों की सीमाएँ तोड़ती

है। जब कोई एक जनपद दो अलग राज्यों में विभाजित होगा, तब किसी एक ही कमिश्नरी के अन्तर्गत वह संयुक्त कैसे होगा?

बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, दिल्ली, हरियाणा आदि हिन्दी राज्यों को मिलाकर एक विशाल राज्य बनाना चाहिए। इस राज्य की इकाइयाँ उसके जनपद होंगे, विशेष बोलियों के क्षेत्र होंगे। प्रत्येक जनपद में कम से कम एक विश्वविद्यालय, एक आकाशवाणी केन्द्र और उच्च न्यायालय की एक शाखा होनी चाहिए। तब हिन्दी प्रदेश का—देशी-विदेशी राजनीतिज्ञों द्वारा उलझाया हुआ—गोरखधन्धा कुछ सुलझ सकता है। अनेक राज्यों की विधान सभाओं पर जो करोड़ों रुपया खर्च होता है, वह बचाकर विकास कार्यों में लगाया जा सकेगा। व्यापार के प्रसार में राज्य स्तर की चुंगी आदि की रुकावटें दूर की जा सकेंगी। हिन्दी-भाषी जनता अपनी शक्ति पहचानेगी और राष्ट्र के जीवन में अपनी भूमिका निबाहेगी। विभिन्न राज्यों में बँटे होने से उसकी सांस्कृतिक एकता छिन्न भिन्न हो गयी है, वह फिर सूत्रबद्ध होगी। जनपद को राजकीय और सांस्कृतिक कार्यवाही की मूल इकाई बनाने से इस प्रदेश के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन को पुष्ट जनतांत्रिक आधार प्राप्त होगा। केन्द्रबद्ध शक्ति और विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों का समन्वय होगा। अभी जहाँ सिद्धान्त-हीनता और नियमविहीन अव्यवस्था है, वहाँ सैद्धान्तिक आधार पर जातीय प्रदेश का पुनर्गठन होगा।

यह हिन्दी प्रदेश काफी बड़ा होगा किन्तु सोवियत संघ के रूसी क्षेत्र से और चीनी गणतंत्र के चीनी क्षेत्र से वह बड़ा न होगा।

अशोक, समुद्रगुप्त, अकबर और औरंगजेब के समय से इस देश के भीतर जितनी भी राजनीतिक एकता कायम हुई है, उसका आधार हिन्दी प्रदेश की एकता रही है। हिन्दी प्रदेश को विभाजित रखकर राष्ट्रीय एकता की बातें करना प्रलाप मात्र है। हिन्दी प्रदेश की एकता सबसे पहले राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक है।

इस पुस्तक के दूसरे संस्करण में दो निबन्ध और जोड़ दिए हैं। एक निबन्ध हिन्दी के आधुनिक विकास-सन्दर्भ में ब्रजभाषा की भूमिका है, दूसरा निबन्ध हिन्दीभाषी प्रदेश के बहुभाषाभाषी होने की समस्या से सम्बन्धित है।

१४ जून, १९७७ रामविलास शर्मा

अनुक्रम

१. स्वदेशी भाषा और अहिंसावादी साहित्य	२१
२. राजनीतिक नेता और हिन्दी	२४
३. भाषा और राष्ट्रीयता	२६
४. भाषा और साहित्य में पाकिस्तान	२७
५. हिन्दी गद्य-शैली पर कुछ विचार	३१
६. राष्ट्रभाषा हिन्दी और हिन्दू राष्ट्रवाद	३८
७. हिन्दी का 'संस्कृतीकरण'	४४
८. उर्दू-साहित्य की सांस्कृतिक परम्परा	५०
९. भारत की भाषा-समस्या	६६
१०. जातीय भाषा के रूप में हिन्दी का प्रसार	८४
११. हिन्दी-उर्दू समस्या	९२
१२. भाषा और प्रान्तीयता	९९
१३. अनिवार्य राजभाषा का सवाल	१०२
१४. अंग्रेजी के हिमायती	१०८
१५. सोवियत क्रान्ति और भाषा-समस्या	११२
१६. अंग्रेजी-प्रेमी भारतवासी	११५
१७. बहुजातीय राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा हिन्दी	१२१
१८. हिन्दी की व्याकरण-सम्बन्धी कठिनाइयाँ	१२६
१९. उर्दू की समस्या	१३१
२०. जातीय प्रतिद्वन्द्विता और हिन्दी	१३८
२१. राष्ट्रभाषा अंग्रेजी	१४४
२२. सोवियत संघ में भाषा-समस्या-समाधान	१५०
२३. हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता	१५३
२४. राष्ट्रीय एकता और अंग्रेजी	१५७
२५. राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय प्रभुसत्ता	१६२

२६ हिन्दीभाषी प्रदेश मे हिन्दी प्रचार की आवश्यकता १६६
२७ सरकारी कोशकार और राष्ट्रभाषा १७४
२८ वामपथी कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम का मसौदा १८१
२९ राष्ट्र, जाति और मार्क्सवाद १८५
३० 'अन्तर्राष्ट्रीय' वैज्ञानिक शब्दावली १९२
✓३१ सस्कृति और भाषा १९४
३२ भाषा की समस्या—अति आवश्यक १९८
३३ अग्रेज़ी की सुरक्षा के लिए सघर्ष २००
३४ भाषा की समस्या और राष्ट्रीय विघटन २०५
३५ भाषा की समस्या और मजदूर वर्ग २१२
३६ भारत की राजभाषा अग्रेज़ी और राष्ट्रीय जनतान्त्रिक मोर्चा २२५
३७ देश का विघटन और अग्रेज़ी २४२
३८ प्रगतिशील साहित्यकार और भाषा-समस्या के जनतान्त्रिक समाधान २५१
३९ हिन्दी के आधुनिक विकास-सन्दर्भ मे व्रजभाषा की भूमिका २७७
४० हिन्दीभाषी प्रदेश—बहुभाषाभाषी प्रदेश ? २८६

परिशिष्ट—१

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उन्नीसवी सदी मे हिन्दी-आन्दोलन ३०१
२ गाधीजी और भाषा समस्या ३१५

परिशिष्ट—२

१ प्रेमचन्द और भाषा-समस्या ३४५
२ उत्तर प्रदेश की सरकार और हिन्दी ३५३
३ भारत का भाषा-सकट ३५५

भारत की भाषा-समस्या

१

स्वदेशी भाषा और अहिंसावादी साहित्य

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अनेक पदाधिकारी इस वार अपनी असाहित्यिकता के कारण एक विशेषता लिये हैं। साहित्य मे जितने भी जन अधिक संख्या मे दिलचस्पी लें, हमे उससे प्रसन्न होना चाहिए। परन्तु ये मेधावी हिंन्दी-साहित्य के पास विद्यार्थी के रूप म नही आए। उसे जानने-पहचानने की उन्होंने चेष्टा नही की। राजनीतिक क्षेत्र मे कार्य करनेवाली अपनी प्रकृति के अनुसार उन्होंने हिन्दी-साहित्यिको को तरह-तरह के उपदेश दिए है। यदि वे हमारे साहित्य का सहृदयतापूर्वक अनुशीलन कर उसकी त्रुटियाँ साहित्यिको को बताते तो उनके कार्य पर सबको हर्ष होता। पर उनकी असाहित्यिकता और साहित्य के अज्ञान का घोष उनके उपदेश की मधुर वाणी से मेल नही खाता।

सम्मेलन के सभापति ने, शायद अपने पूर्व राष्ट्रपति होने का स्मरण कर, कहा है—"सुविधा के विचार से हिन्दी को राष्ट्रभाषा हमने माना है।" फिर इस सुविधा के मार्ग मे जो अड़चनें आएँ, उन्हें क्यो न हटाया जाए? आप कहते हैं—"हिन्दुस्तान मे हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सिख बसते हैं और तो भी वह हिन्दुस्तान है। उसी प्रकार हिन्दी मे सभी भाषाओ से उत्तम शब्द हम लेंगे और तो भी वह हिन्दी ही रहेगी।" जैसे काग्रेस, राष्ट्र की एकता का प्रतीक, अपने भीतर सभी प्रान्तो के प्रतिनिधि रखती है, वैसे हिन्दी तब तक राष्ट्रभाषा न होगी, जब तक उसमे सभी भाषाओ के प्रतिनिधि शब्द न होंगे। सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष श्री व्रजलाल बियाणी ने इस बात को भली-भाँति समझा है और उसे सबसे अधिक स्पष्ट रूप में कहा है—"हिन्दी-भाषा के प्रचार तथा सर्वप्रियता के लिए आवश्यक है कि उसका शब्द-भण्डार सब भाषाओ से लिए हुए शब्दो से भरा हो। हरेक प्रान्तवासी में हिन्दी के लिए ममत्व पैदा होने के लिए हिन्दी के शब्दकोश मे उसका भी हिस्सा होना आवश्यक है।" जब तक यह शब्दकोश न बने, तब तक इस भाषा की कल्पना करना कठिन है। अभी अन्य प्रान्तों के भिन्न भाषा भाषी हिन्दी ही सीखते थे, अब वे उसके साथ थोड़ी-थोड़ी सभी प्रान्तीय भाषाएँ सीखेंगे। हिन्दी बोलनेवाले, जिन्हें

तमिल, कन्नड, बँगला, मराठी, गुजराती आदि का ज्ञान नहीं—कोश देखकर शुद्ध हिन्दी बोलेंगे। यह भाषा हिन्दी होगी या और कुछ, इसे काका साहब श्री कालेलकर ने अच्छी तरह समझा है। इस भाषा का अपना नामकरण करते हुए उन्होंने कहा है—'स्वदेशी भाषा में हम बोलेंगे।"

भाषा-संस्कार के साथ इन हिन्दी के शुभेच्छुकों को हमारे साहित्य की उन्नति का भी ध्यान है। राजनीतिक सुविधाओं के लिए हिन्दी की आवश्यकता नहीं। बाबू राजेन्द्रप्रसाद के अनुसार "राष्ट्र का प्राण साहित्य होता है और उस साहित्य *का निर्माणकर्ता समाज का बहुत बड़ा सेवक होता है।" तब हिन्दी-साहित्य* की त्रुटियाँ दूर होनी ही चाहिएँ। काका कालेलकर के अनुसार आधुनिक साहित्य का पूर्व भाग दूसरों की नकल का फल है। "इस जमाने का हमारा प्रारम्भिक साहित्य अनुकरणरूप ही था और अनुकरण तो निष्प्राण ही हो सकता है।" 'हमारे साहित्य' में किन-किन साहित्यों की गणना है, नहीं मालूम, यदि हिन्दी की है तो उसके साथ अन्याय है। 'इस जमाने का हमारा प्रारम्भिक साहित्य' एक ऐसा गोल वाक्य है कि समय ठीक से निर्धारित नहीं हो सकता। फिर भी भारतेन्दु से लेकर आज तक जो नये युग का जीवन है, उसमें उत्पन्न किसी भाग के साहित्य पर ऊपर का आक्षेप लागू नहीं होता। अन्य साहित्यिक जागृतियों की भाँति हमारे यहाँ बाहरी साहित्यों के सम्पर्क से विचारों में नवीनता आई है, पुरानी रूढ़ियों का ध्वंस और नई धाराओं का निर्माण हुआ है। यदि यह अनुकरण है तो कोई भी जीवित साहित्य उससे *नहीं बचा।*

"पिछले थोड़े वर्षों में हिन्दी ने बँगला, मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय साहित्यों से अपना साहित्य कम समृद्ध नहीं किया है। आदान प्रदान में हिन्दी सिद्ध हो चुकी है। हम हिन्दी को जो कुछ देते हैं, वह उसे संशोधित कर देश के कोने-कोने में पहुँचा देती है।" किसी नवजाग्रत भाषा के साहित्य की ऊँचाई जल्दी आँकना आसान नहीं। जो कृतियाँ शीघ्र प्रसिद्धि पाती हैं, वे बहुधा पाठकों की पूर्व-निश्चित धारणाओं के बहुत-कुछ अनुकूल तथा कुछ-कुछ पुरानी रूढ़ियों का अवलम्ब लिये होती हैं। हिन्दी में अब भी इतने रूढ़िवादी हैं कि पक्के क्रान्तिकारियों को उचित श्रेय या विज्ञापन नहीं मिला। जो हमारे यहाँ का वास्तविक मौलिक साहित्य है, उसकी समुचित छानबीन धीरे-धीरे ही सम्भव है। परन्तु वैसा करना उसकी ओर से आँख मूँदकर राय देने से सम्भव नहीं, उसके लिए अध्ययन करना पड़ेगा।

हिन्दी-भाषा में अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों के बहिष्कार के समान हमारे नेताओं ने हिन्दी साहित्य में अश्लीलता का दुःस्वप्न भी देखा है। गांधीजी का वश चले तो वह साहित्य-सम्मेलन से उस रस को त्याज्य ही मनवा दें। वश चले तो गांधीजी ब्रह्मचर्य द्वारा सबसे सन्तति-निग्रह करवा दें। परन्तु वश चले तो भी यह हानिकर होगा। समयानुकूल प्रकृति की पुकारों को न मानने से बुरा फल मिलता है। असाधारणों का नियम सब पर लागू नहीं हो सकता।

यदि साहित्य का सम्पर्क जीवन से रहेगा तो उसमें शृंगारी वर्णन अवश्य आएँगे। क्या हिन्दी, क्या संस्कृत, बड़े-बड़े सन्तों ने अपने साहित्य में जीवन का पूर्ण चित्र उतारने के लिए शृंगार का बहिष्कार नहीं किया। देखना केवल यह होता है कि यह शृंगार पतित मनोभावों का परिचायक तो नहीं है। हिन्दी के गुजरे साहित्य के लिए यह आक्षेप नहीं हो सकता है। तब कवि जिस रस का वर्णन करता था, चाहता था कि उसी के अनुकूल आचरण करने के भाव पाठक या श्रोता के मन में उत्पन्न हों। आधुनिक साहित्य में कलात्मक आनन्द की ओर अधिक ध्यान है। किसी खूनी का चित्रण करके कवि हमें खूनी बनने के लिए नहीं कहता। समार के बड़े-से-बड़े साहित्यिकों ने पाप को अपना विषय बनाकर अद्भुत कृतियों को जन्म दिया है। अस्तु, यदि स्त्री पुरुष के पारस्परिक मनोभावों और आकर्षण-प्रत्याकर्षण का स्वस्थ वर्णन हो तो वह साहित्य भी समाज को उठानेवाला होगा।

बाबा कालेलकर को साहित्य-नियन्त्रण के सम्बन्ध में और किसी से कम चिन्ता नहीं। आज साहित्य पर न राजसत्ता का नियन्त्रण है, न धर्माचार्यों का। "जो लोग साहित्य का रस जानते हैं और समाज का हित चाहते हैं, इतिहास और आदर्श, दोनों को दृष्टि रखकर जो लोग समाज की प्रगति में मदद कर सकते हैं, ऐसे पुरुषों का ही नियन्त्रण साहित्य पर रहना चाहिए। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे साहित्य-जगत् में मनमानी मचाने की ठान ली है।" हमें काका साहब से सहानुभूति प्रकट करने की आवश्यकता नहीं, हमारे यहाँ आचार्य लोग अब भी अधिकांश प्यूरिटन प्रवृत्ति के हैं। यह सभी जानते हैं कि अश्लीलता का कहीं आभास पाते ही वे धरती सिर पर उठा लेते हैं। परन्तु काका साहब को इस पर विश्वास नहीं। उन्हें आशा है, एक दिन साहित्यिक शासन की बागडोर उनके हाथों में आएगी; तब वह इन उच्छृङ्खल व्यक्तियों को गिन-गिनकर फाँसी पर लटकाएँगे।—"भारतीय साहित्य परिषद् जब पूर्ण रूप से विकसित होगी, तब साहित्य-शुद्धि संभालने की जिम्मेदारी कानून या धर्मतन्त्र के हाथों में नहीं रहेगी, साहित्य ही अपने क्षेत्र को सँभाल लेगा।"

आदर्श साहित्य-निर्माण के लिए गांधीजी, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, काका साहब आदि सभी ने उपदेश दिए हैं। इन्हें देखकर कोई अपरिचित यही समझेगा कि हिन्दी में एकदम पतित और समाज का अहित करनेवाला साहित्य रचा जा रहा है। इसका उत्तर एक लेख में देना सम्भव नहीं। साहित्यिकों के नाम गिनाने की अपेक्षा उनकी कृतियों का सुचारु विवेचन अधिक श्रेयस्कर होगा। तब तक अपने नेताओं की शुभकामनाओं के लिए अनुगृहीत होते हुए हम यही आशा करते हैं कि यदि उनका हमारे साहित्य से कुछ दिन और सम्पर्क रहा तो वे उसमें अपने अनेक सिद्धान्तों को कार्य-रूप में परिणत पाएँगे। (१९३६)

स्वदेशी भाषा और अहिंसावादी

२

राजनीतिक नेता और हिन्दी

राजनीतिक नेता लोग साहित्य पढ़ेंगे, इसकी आशा करना व्यर्थ जान पड़ता है। फिर भी साहित्य राजनीति से अलग नही किया जा सकता। नेताओं की राजनीति गंदली होने पर उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड सकता है, विशेषकर जब थोडा-बहुत शासनाधिकार हाथ मे होने से वे बालको और नवयुवको की शिक्षा के लिए उत्तरदायी भी हो। ऐसी दशा मे शिक्षा और भाषा मे हस्तक्षेप करने के पहले उन्हे साहित्य के विकास और उसकी मूलधारा का ज्ञान होना आवश्यक है। आज की भारतीय राजनीति समझौते पर निर्भर है। यह समझौता कभी 'इंडिया एक्ट' के लिए अंग्रेज सरकार से कुछ शर्तें मनवाकर होता है, कभी केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन मे बँटवारा करने के लिए श्री जिन्ना से महात्मा गाधी और श्री जवाहरलाल नहरू की बातचीत के रूप मे प्रकट होता है। हमने हिन्दी-साहित्य मे समझौता करना नही सीखा। हम समझौता नही, एका करने में विश्वास रखते हैं और यह एका एक स्वतन्त्र अविभाजित राष्ट्र की भूमि पर ही हो सकता है। जो प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता लेकर आगे बढता है, वह राष्ट्रीयता का द्रोही है, उससे एक राष्ट्र-प्रेमी समझौता कैसे कर सकता है? इस उग्र राष्ट्रीयता की भावना मे राजनीतिज्ञ हिन्दी-साहित्य मे शिक्षा ले सकते हैं। हमारे साहित्य का उद्भव ही एक विदेशी साम्राज्यवाद के प्रतिरोध से हुआ था और सदियो तक देश की भाषा और संस्कृति की रक्षा के लिए हमारे साहित्यिको ने इस विदेशी साम्राज्यवाद से मोर्चा लिया है। यह मोर्चा नये ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध भी जारी रहा है। इस दासता मे भी हमने अंग्रेजी को क्यो नही अपनाया? इसलिए कि हमारी भाषा हमारी राष्ट्रीय चेतना की प्रतीक है। अरबी और फारसी के विरुद्ध इसी तरह तुलसीदास और भूषण ने हिन्दी की पताका ऊंची रखी, इसलिए कि समाज के जीवित रहने का अर्थ हिन्दी का जीवित रहना भी था। यद्यपि हिन्दी का रूप बदलता रहा है, लेकिन उसकी एकता नष्ट नही हुई। गुलाम देशों की यह मनोवृत्ति रही है कि वे विदेशी संस्कृति और भाषा को जल्दी अपना लेते है क्योंकि उनका अपना सामाजिक

जीवन नहीं के बराबर होता है। क्रान्ति के पूर्व के रूस में वहाँ के शिक्षित और धनी वर्गों में इसी प्रकार फ्रेंच भाषा का बोलबाला था। रूसी भाषा को लोग गँवारू और अर्थगाम्भीर्य में हीन समझते थे। यदि वहाँ के साहित्यिक इस कुत्सित मनोवृत्ति के सामने सिर झुका देते तो आज का रूसी-साहित्य कहाँ होता ? हमारे देश में भी अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करके लोग अपनी शिक्षा का परिचय देना आवश्यक समझते हैं। जो बाबू वर्ग इंग्लिस्तानी में बातचीत करता है, वह इसलिए कि अपनी भाषा में विचार करने की उसमें अक्षमता है। उसकी भाषा तीन कौड़ी की होती है और भाव दो कौड़ी के। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए कुछ लोगों ने अंग्रेजी, अरबी, फारसी—सभी से शब्द भर लेने की सलाह दी है। जहाँ नये नये अर्थों के शब्द खोजने पड़ें, वहाँ संस्कृत से न लेकर उन्होंने अंग्रेजी से लेने को कहा है। माना अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्द खुद उसके घर के हों, उसने उन्हें लैटिन और ग्रीक से उधार न लिया हो। ग्रीक और लैटिन के शब्द अंग्रेजी की चलनी में छनते हुए हिन्दी में आएँ, उन्हें स्वीकार हैं, संस्कृत से हम शब्द लें, उन्हें स्वीकार नहीं।

जो भारत की जलवायु में पला है, उसे भारत की भाषा और संस्कृति अपनानी होगी, उसे भारत की ही महत्ता का स्वप्न देखना पड़ेगा। भारतीय भाषाओं को अभारतीय ढाँचे में ढालने की चेष्टा पुरानी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का एक अवशिष्ट चिह्न है, हम उससे किसी प्रकार समझौता नहीं कर सकते। जिस तरह हम भारत की भूमि से अन्न जल ग्रहण करते हैं, उसी तरह उसकी भाषा भी। जब हम देश से प्रेम करना सीखेंगे, तब उसकी भाषा से भी प्रेम करेंगे। न हम देश-प्रेम में किसी से समझौता करना चाहते हैं, न भाषा प्रेम में। देश-प्रेम और भाषा प्रेम दो अलग वस्तुएँ नहीं, एक हैं। (१९३९)

३

भाषा और राष्ट्रीयता

इसी साल अभी अगस्त के महीने में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कलकत्ता में महाजाति भवन का शिलान्यास करते हुए बताया है कि बंगाल ने भारतवर्ष के नये अभ्युत्थान में किस प्रकार योग दिया है। बंगाली भाषा, साहित्य, कला और संगीत—सभी का उन्होंने उल्लेख किया। इसके साथ ही उन्होंने इस बात पर भी अभिमान प्रकट किया कि विदेशी सभ्यता का स्वागत करने में बंगाल सर्वप्रथम था। अंग्रेजी समाचारपत्रों में उनका वाक्य इस प्रकार छपा था—"Bengal led India in welcoming European culture to her heart." यूरोप की सभ्यता अपनाने में बंगाल भारत का अग्रणी था। विदेशी सभ्यता विदेशी शासन के ही साथ हमारे देश में आई है। स्वाभाविक था कि राष्ट्र-प्रेमी व्यक्तियों ने विदेशी शासन के समान उस सभ्यता से भी अपने-आपको दूर रखा। परन्तु बंगाल में ऐसे ख्यातनामा व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने उत्थान के लिए अंग्रेजी शिक्षा को आवश्यक समझा। उस शिक्षा के प्रसार के साथ बंगाल के नये साहित्य का उद्भव भी हुआ। इसलिए अनेक बंगाली अपने साहित्य पर गर्व करते हुए उस शिक्षा पर भी गर्व करते हैं। फिर भी गुलामी गुलामी है, उस पर अभिमान करना किसी को शोभा नहीं देता।

बंगाली विद्वानों के हृदय में विदेशी शिक्षा और सभ्यता के प्रति यह भावना कितनी दृढ़ता से घर कर गई है, इसका एक और प्रमाण देखिए। बंग-साहित्य-सम्मेलन के सभापति सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इसी बात का उल्लेख कर कहा था—"ऊनविंश शतके इंग्रेजेर अनुगामी बंगाली इंग्रेजी शिक्षाय भारतेर गुरुस्थानीय छिल।" और यही नहीं कि केवल घटनाचक्र में पड़कर अंग्रेज के अनुगामी बंगाली को अंग्रेजी शिक्षा लेनी पड़ी हो, बंगाल के अन्यतम भाषातत्त्वविद् डा० चटर्जी ने उसी शिक्षा की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है—"इंग्रेजी के बाद दिया अन्य कोन भाषा के ताहार स्थाने बसाइते गेले आमादेर मानसिक क्षति घटिबे।" इतना बढ़ा चढ़ा अंग्रेजी के प्रति इनका प्रेम है कि उसके स्थान पर अन्य किसी भाषा को रखने से मानसिक क्षति की संभावना है। ऐसे शब्द उसी व्यक्ति के मुँह से निकल सकते हैं जिसकी परमुखापेक्षिता चरम सीमा को पहुँच चुकी हो। (१९३९)

४

भाषा और साहित्य में पाकिस्तान

राष्ट्रभाषा को लेकर बहुत दिनों से विवाद चल रहा है। हिन्दीभाषी कहते हैं कि हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी। बंगाली लोग बँगला को राष्ट्रभाषा बनाने में लगे हुए हैं। उर्दू भाषी लोग उर्दू को भारत की 'आमफहम' और 'मुश्तर्का जबान' मानते हैं। कांग्रेस के नेता कहते हैं, देश की 'कॉमन लेंग्वेज' हिन्दुस्तानी है। हिन्दुस्तानी नाम की कोई भाषा है या उस भाषा को अभी जन्म लेना है, यह स्पष्ट नहीं है।

राष्ट्रभाषा के बारे में इतनी बातें सुनकर लगता है कि हमारा भी एक राष्ट्र है। राष्ट्र के गठन के रास्ते में कोई अड़चन नहीं है, इसीलिए राष्ट्रभाषा की समस्या इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई है। किन्तु कुछ दिन से देश में एक 'पाकिस्तान' की चर्चा होने लगी है। अखबारों को देखने से लगता है कि 'पाकिस्तान' हास-परिहास का विषय बना हुआ है। आश्चर्य की बात यह है कि जिन्होंने देश के अन्दर एक नये पाकिस्तान की कल्पना की है, वे उर्दू को भी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

मुस्लिम लीग के नेता यह आन्दोलन करते हैं कि कांग्रेसी नेता उर्दू के शत्रु हैं और उनका उद्देश्य केवल हिन्दी-प्रचार करना है। इससे पहले मुस्लिम लीग के यही नेता कहते थे कि देश की राष्ट्रभाषा उर्दू है। अब उर्दू-प्रचार में अड़चनें देखकर या अड़चनों की कल्पना करके उन्होंने तय कर लिया है कि उनकी भाषा राष्ट्रभाषा न होगी, इसलिए राष्ट्र भी कायम न रहेगा! तब यह पाकिस्तान की चर्चा कोरा राजनीतिक आन्दोलन है या उसका और भी कोई आन्तरिक महत्त्व है? पाकिस्तान का 'गुल' खिलते देखकर अनेक मुसलमानों का चित्त चंचल हो उठा है। इस भारत-उद्यान में यह 'गुल' क्या अत्यन्त तुच्छ और निकृष्ट खाद्य पाकर ही नहीं खिला है? साहित्य और भाषा में मुसलमानों ने जो आन्दोलन छेड़ दिया है, उसे देखकर लगता है कि इस विषवृक्ष की जड़ें धरती में बहुत गहरी चली गई हैं।

मध्य भारत में बहुत दिनों से हिन्दी और उर्दू का विवाद चलता रहा है। लखनऊ और दिल्ली को मुस्लिम संस्कृति का केन्द्र कहा जाता है। इस कारण

देश के इस भाग मे दरबारी संस्कृति के साथ भारत की एक अन्य व्यापक और अधिक प्राचीन संस्कृति का संघर्ष स्वाभाविक हो गया। किन्तु हिन्दीभाषी समझते हैं कि इस तरह का संघर्ष उन्ही के साहित्य मे पाया जाता है, अन्य प्रान्तों में भाषा-सम्बन्धी कोई समस्या है, ऐसा उन्हें नहीं मालूम होता। किन्तु वर्तमान काल मे अन्य प्रान्तों में भी भाषा को लेकर संघर्ष चल रहा है, वह संघर्ष चाहे तेज हो, चाहे धीमा हो, उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। बँगला के हास्य-रसात्मक पत्रों मे भाषा को उर्दू का नया लिबास पहनाने की बात लेकर अनेक व्यंग्य प्रकाशित हुए हैं। किन्तु मौलवी फजलुलहक का मंत्रि-मण्डल कायम होने के बाद बँगला भाषा को विकृत करने की चेष्टा और जोरो से होने लगी है। अब वह चर्चा हास-परिहास का विषय नही रह गई। देश मे आन्दोलन द्वारा उसका प्रतिकार आवश्यक हो गया है।

बंगीय-साहित्य-सम्मेलन में डॉ० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय ने इस बारे मे कई बातें कही हैं। उन सब पर विचार करने से भाषा समस्या की गम्भीरता समझ मे आ जाती है। आजकल के अरबी फारसी प्रेमी अनेक मुस्लिम नेताओं की तुलना मे भारत के आदि मुस्लिम आक्रमणकारी भी इतने साम्प्रदायिक नहीं थे। डा० चट्टोपाध्याय ने कहा है, "वे बुतशिकन या मूर्तिध्वसी थे, किन्तु जबान-शिकन या भाषा-ध्वसी वे नहीं थे।" उन्होंने कलमा मूल भाषा में प्रकाशित न करके उसका अनुवाद देशी भाषाओं में प्रकाशित किया था। किन्तु आज साम्प्रदायिकता इतनी प्रबल हो गई है कि कलमा तो दरकिनार, साहित्य को कलमे की भाषा मे लिखने का प्रयत्न हो रहा है।

तुर्की से अरबी फारसी शब्दो का बहिष्कार हुआ, फारसी से अरबी शब्दो का बहिष्कार हुआ, यह सब साम्प्रदायिक मुस्लिम नेताओ को दिखाई नहीं देता। वे 'पैन इस्लामिज्म' की बातें करते हैं। किन्तु अन्य मुस्लिम देशो की राह छोडकर उन्होने अपनी नई राह पकडी है, यह बात वे भूल जाते हैं। भाषा के अलावा भावों मे भी साम्य होता है। भारत के साम्प्रदायिक नेता, भाव और भाषा दोनों ही क्षेत्रों में, अन्य स्वाधीन मुस्लिम राष्ट्रों से एकदम अपरिचित हैं। डा० चट्टोपाध्याय ने बगाल मे यह भाषा-ध्वसी कुचेष्टा देखकर सखेद कहा है, 'पश्चिम के मुसलमान लेखकों मे अन्धाधुन्ध भाषा मे अरबी फारसी शब्द भरने की प्रवृत्ति को रोकने की बात चली है। क्या केवल बँगला भाषा मे उस रीति को नया रूप देकर ग्रहण किया जायगा और पाँच करोड से ऊपर जनता की दुर्लभ भाषागत एकता को स्वेच्छा से विनष्ट कर दिया जायगा?"

मध्य भारत मे उर्दू को सहज और सरल बनाने के लिए उसे अरबी फारसी के शब्द जाल से मुक्त करने के लिए आन्दोलन हो रहा है। इस आन्दोलन के सूत्रधारों मे अनेक प्रगतिशील लेखक हैं। वे कोशिश कर रहे हैं कि साहित्य यथासम्भव जन-साधारण के लिए बोधगम्य हो। लोकप्रिय सुबोध साहित्य रचने के लिए उसे अरबी फारसी के कठिन शब्द जाल से मुक्त करना ही होगा।

सभी लोग प्रयत्न करते हैं कि उनकी भाषा का प्रसार हो। किन्तु अन्ध साम्प्रदायिकता का जाल अरबी फारसी के शब्द समेटकर बहुसख्यक जनता के लिए भाषा को दुर्बोध बना देता है। इस तरह का प्रयत्न मुस्लिम साम्राज्य के वैभव के दिनो मे न हुआ था। आज वह प्रयत्न इतना समर्थ क्यो हो गया है?

मुस्लिम साम्राज्य मे पुराने हिन्दी-साहित्य का चरम विकास हुआ था। तुलसीदास, सूरदास आदि कवि उसी युग मे हुए थे। और उस युग के साहित्यिक थे रहीम, रसखान जैसे मुसलमान कवि। वे हमारे देश के, हमारी भाषा के कवि हैं। क्या उनकी ख्याति किसी भी मुसलमान लेखक के चाहने योग्य नही है? सर इकबाल का हम नाम सुनते हैं। रहीम के दोहे और रसखान के छन्द गाँवो के हिन्दू और मुसलमान दोनो के ही कठ मे बसे हुए हैं। क्या वह लोकप्रियता पाकिस्तान के जन्मदाता के लिए दुष्प्राप्य नही है? मुस्लिम साम्राज्यकाल मे मुस्लिम साहित्यकार अपनी भाषा मे अपना कोई स्मृतिचिह्न न चाहते थे। साम्राज्य का नाश होने पर अनेक लोगो के हृदय मे यह इच्छा हुई कि बीते वैभव का एक सास्कृतिक चिह्न सुरक्षित कर लिया जाय। उर्दू भाषा का विकास तभी सम्भव हुआ जब मुस्लिम साम्राज्य का अध पतन आरम्भ हो गया। उस युग के साहित्य मे सामाजिक और राजनीतिक पतन के अनेक लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। जन-साधारण की भाषा छोडकर दरबारी साहित्यकारो ने एक नई दरबारी भाषा का आविष्कार किया। उसे खूब मार्जित करके उन्होने उसे अपना सास्कृतिक चिह्न मान लिया। भाषा मे ऊपरी चमक दमक थी। किन्तु उस भाषा मे देश के प्राणो की गूँज नहीं थी। कविता का प्रधान गुण हो गया चमत्कार-प्रदर्शन। उस चमत्कार-प्रदर्शन की भाषा हुई उर्दू। इस चमत्कार-प्रियता ने ही सर्वनाश की राह दिखाई। इस सर्वनाश से कोई भी 'चमत्कार' उनका उद्धार न करेगा, यह बात उनके दिमाग म नही आई। ईरान की पतनकालीन साहित्यिक परम्परा को अपनाकर मुसलमान दरबारी कवियो ने अपने साहित्य का विकास किया। आज अरबी फारसी शब्दो का मोह त्यागने की बात आने पर उन्हे लगता है कि उनके गौरव का इतिहास नष्ट हो जायगा। मुस्लिम साम्राज्य के वैभवकाल मे मुसलमान साहित्यकारो ने लोकभाषा का व्यवहार करके कितनी शक्ति प्राप्त की, यह बात इनके दिमाग मे पैठती ही नहीं।

देश मे जो लोग पाकिस्तान चाहते है, वे पाकिस्तान लेकर भी सन्तुष्ट न होगे। वे अब भी विगत साम्राज्य की मधुर स्मृति मे निमग्न है। उनकी समझ मे उस स्मृति के साथ अरबी-फारसी शब्दो से लदी हुई भाषा का कोई आध्यात्मिक सम्बन्ध है। इसलिए राजनीति म जो पाकिस्तान के समर्थक है, वे भाषा का भी विभाजन करने को तैयार है। वे सोचते है कि उनकी नई भाषा समय बीतने पर देश की अन्य भाषाओ पर अपना आधिपत्य कायम कर लेगी। इसीलिए अरबी-फारसी सस्कृति को आधार बनाकर उन्होने भारत की अनेक भाषाओ मे विध्वस-कार्य आरम्भ कर दिया है।

हमने अरबी, फारसी या अन्य विदेशी शब्दों का बहिष्कार किया हो, ऐसा नहीं है। हिन्दी-साहित्य की लोकप्रिय और धर्मग्रन्थ के समान पूजनीय पुस्तक रामायण में अनेक विदेशी शब्द हैं। हिन्दी के किसी भी उत्तरदायी साहित्यकार ने कभी यह नहीं कहा कि हमारी भाषा केवल संस्कृत शब्द लाकर समर्थ बनेगी। लेकिन अस्वाभाविक रूप से हिन्दी में अपरिचित शब्द भरने से विकासक्रम भंग होगा, यह बात भूलना न चाहिए। भारत की अधिकांश भाषाओं का एक सामान्य सांस्कृतिक आधार है। थोड़े परिश्रम से लोग हिन्दी, बँगला, मराठी आदि भाषाएँ समझ लेते हैं, कारण यह कि इन भाषाओं में बहुत से शब्द सामान्य हैं। देश को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए भाषा की यह एकता प्रधान साधन है। अपनी कुचेष्टा से अनेक जन इस एकता पर आघात कर रहे हैं किन्तु जितना आघात करेंगे, उतना ही देश की भाषाओं का परस्पर साम्य-बोध और भी दृढ़ होगा। तभी देशवासी इस राष्ट्रघातक प्रयत्न को समूल नष्ट कर देंगे। (१९४१)

हिन्दी गद्य-शैली पर कुछ विचार

आज से लगभग सत्तर वर्ष पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नये हिन्दी गद्य की व डाली थी। वैसे ब्रजभाषा से भिन्न नई हिन्दी लिखने का प्रयास और भी हले आरम्भ हो गया था। इसलिए हम कह सकते हैं कि अब तक नये हिन्दी गद्य सौ वर्ष बीत चुके हैं और अब इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि ाधारण गद्य के लिए हम एक साफ-सुथरी शैली बना सकें हैं या नहीं। हिन्दी गद्य विकास मे जो दो-तीन मार्ग-चिह्न स्पष्ट दिखाई देते हैं, उनमे सबसे पहले तो ाधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियो ने ो हिन्दी गद्य-शैली पर एक अमिट छाप डाली है। इस शैली पर विचार करते हुए ा बातें सभी आलोचक मानते हैं। पहली तो यह कि इसमे एक ऐसी जिन्दादिली जो बाद के गद्य मे प्राय नहीं मिलती। दूसरी यह कि इस भाषा मे परिष्कार की रूरत है और अपने तात्कालिक रूप मे वह शैली आज ग्रहण नही की जा सकती।

इन दोनो बातो पर कुछ ठहरकर विचार करना आवश्यक है। भारतेन्दु-युग लेखको की शैली मे जिन्दादिली क्या है और बाद के गद्य से वह लोप क्यो हो ई? इसका कारण कुछ लोग यह बतलाते है कि भारतेन्दु और उनके सहयोगी हुत गम्भीर चीजें न लिखते थे। इसलिए उनकी शैली मे हँसी-मजाक की ुजाइश ज्यादा रहती थी। आगे चलकर हमारी शैली मे भाव-गाम्भीर्य आया और इसलिए यह जरूरी हो गया कि इस गहराई मे जिन्दादिली डूब जाय। एक बात ध्यान देने की यह है कि भारतेन्दु-युग के लेखक इस पीढ़ी के लेखकों की तुलना मे संस्कृत के अधिक निकट थे। उनके सामने हिन्दी गद्य की कोई विकसित परम्परा न थी और इसलिए होना तो यह चाहिए था, कि संस्कृत के शब्दो की भरमार से उनकी शैली बोझिल बन जाती, लेकिन हुआ इसका उल्टा ही। इसके सिवा यह बात भी सही नही है कि उस युग मे गम्भीर आलोचना नही लिखी गई। उस युग के मासिक पत्रो की जिल्दों मे सैकड़ो सुन्दर आलोचनात्मक निबन्ध आज भी सुरक्षित हैं। (यानी जहाँ उन्हे रद्दी मे बेच नहीं डाला गया या जिल्दों मे दीमक नही लग गया।) उनका सकलन करके अब तक किसी ने उन्हे प्रकाशित

नहीं किया, इसका बहुत बड़ा श्रेय हमारे प्रवादकों को है। उन निबन्धों से आज के बहुत ही मामूली आलोचनात्मक निबंधों की तुलना की जाय तो दोनों की शैली का भेद मालूम हो जायगा। उस समय के अधिकतर लेखक यह कोशिश करते थे कि कठिन और दुरूह बातों को भी आसानी से समझा दें। आज के काफी लेखकों की यह कोशिश होती है कि साधारण बातों को भी असाधारण शब्दावली में प्रकट करके अपने निबन्धों को गम्भीर बना दें।

यह सही है कि भारतेन्दु-युग की गद्य-शैली में परिष्कार की जरूरत थी। लेकिन यह जरूरत इतनी बड़ी न थी जितनी कि लोग समझते हैं। बालकृष्णभट्ट के निबन्ध, भारतेन्दु के नाटकों में वार्तालाप, राधाचरण गोस्वामी के प्रहसन—इनमें बहुत परिष्कार की गुंजाइश नहीं है। इसके अलावा जो परिष्कार आप करेंगे, वह कुछ शब्दों को लेकर होगा, वाक्यरचना, शब्दों के चुनाव, शैली के प्रवाह आदि में उसमें ज्यादा अन्तर न पड़ेगा। यानी भारतेन्दु-युग का कोई सचेत लेखक व्याकरण की दो-चार अशुद्धियाँ बराता हुआ गद्य लिखता तो उसकी जिन्दादिली में ज्यादा फर्क न पड़ता। इसलिए जिन्दादिली का सबब साहित्य का हल्कापन नहीं है। अगर ऐसा हो तो हल्केपन के डर से कोई भी जिन्दादिल लेखक साहित्य की दुनिया में पैर ही न रखे।

भारतेन्दु-युग की गद्य-शैली पर थोड़ा और विचार करने से उसकी कुछ ऐसी विशेषताएँ सामने आती हैं जो बाद के गद्य में, विशेषकर सन् '२० से सन् '४० तक के गद्य में, कम मिलती हैं। पहली विशेषता यह है कि इन लेखकों के मन में शब्दों का चुनाव करते हुए किसी तरह के निषेध का विचार आड़े नहीं आता। द्विवेदी-युग में हमारे भीतर एक निषेध-भावना घर कर गई थी—एक शब्द को हम जानते हैं, बातचीत में उसका प्रयोग भी करते हैं लेकिन गद्य में उसे लिखें या न लिखें, यह प्रश्न बार-बार लेखकों के सामने आता था। भारतेन्दु-युग के लेखकों ने नई हिन्दी का रूप सँवारते हुए बँगला और संस्कृत की ओर भी ध्यान दिया, लेकिन सबसे ज्यादा ध्यान उन्होंने उस बोलचाल की भाषा पर दिया जो नित्य ही उनके कानों में पड़ती थी। भारतेन्दु-युग की गद्य-शैली का आधार बोलचाल की भाषा है। उस समय के निबन्धों को पढ़िये तो यह नहीं लगता कि उन्हें किसी ने लिखा है। ऐसा मालूम होता है कि लेखक हमसे बातें कर रहा है और हम छापे के अक्षरों में भी उसकी आवाज सुनते जाते हैं। द्विवेदी-युग में परिष्कार के बहाने गद्य-शैली का आधार बदल दिया गया। अनेक लेखकों ने बोलचाल की भाषा से बार बार बचने की कोशिश करते हुए शुद्ध साहित्यिक हिन्दी को अपनी शैली का आधार बनाया।

बोलचाल की भाषा को आधार बनाने से ही भारतेन्दु-युग के लेखक अपनी शैली में एक बहुत ही बलवती ग्राहिका शक्ति पैदा कर सके थे। वे जिस शब्द को भी चाहते थे, उसे हिन्दी में पचा लेते थे। इस तरह वे फारसी, अरबी और अंग्रेजी के शब्दों का ही रूपान्तर न कर लेते थे बल्कि हिन्दी और संस्कृत का भेद मानते

हुए संस्कृत शब्दों का रूपान्तर भी कर लेते थे। हमारी ग्रामीण भाषाओं में यह प्रवृत्ति है कि संस्कृत के शब्द अपने सरल तद्भव रूप में काम में लाये जाते हैं। भारतेन्दु-युग के लेखकों ने अपनी शैली में इस प्रवृत्ति को उभारा। उन्होंने तद्भव शब्दों का बहुतायत में प्रयोग किया, इसके अलावा ग्राम-भाषाओं से भी जहाँ तक हो सका शब्द लीये और इस तरह नई हिन्दी को समृद्ध किया। आगे चलकर यह प्रवृत्ति बदल गई। संस्कृत शब्दों के तद्भव रूप पर जोर देने के बदले हम तद्भव शब्दों को भी तत्सम रूप देने लगे।

यहाँ पर हिन्दी-भाषा के मौलिक विकास पर दो शब्द कहना असंगत न होगा। पं० अमरनाथ झा अक्सर कहते सुने जाते हैं—"मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं है परन्तु संस्कृत-गर्भित होने के कारण हिन्दी देश के अधिकांश भाग में बोली और समझी जाती है।" इस तरह की बातें सभा-समाज में आये दिन हम दूसरों के मुँह से भी सुना करते हैं। यह बिलकुल सही है कि हिन्दुस्तान के अधिकांश भाग में हिन्दी बोली और समझी जाती है। देश की और किसी भाषा को यह गौरव प्राप्त नहीं है। लेकिन 'हाथ कंगन को आरसी क्या?' कलकत्ता की हरीसन रोड या बम्बई के परेल में उन लोगों की बोली सुनिये जिन्होंने हिन्दी को वास्तव में यह गौरव दिया है। इनकी बोली हुई हिन्दी का रूप पं० अमरनाथ झा की संस्कृत-गर्भित अ-मातृभाषा हिन्दी से बहुत भिन्न है। झा महोदय के लिए क्षम्य है कि मातृभाषा न होते हुए भी वह हिन्दी को उसके किसी भी रूप में बोल लेते हैं लेकिन जो लोग हिन्दी को मातृभाषा मानते हैं, उन्हें तो अपनी भाषा के उस रूप की रक्षा करनी चाहिए जो सचमुच उनके आये दिन के व्यवहार में प्रकट होता है।

संवत् ९०० से लेकर संवत् २००० तक हिन्दी का विकास किस प्रकार हुआ है? हिन्दी-भाषा की भागीरथी हिमालय से समुद्र की ओर बही है या समुद्र से हिमालय की ओर? गोस्वामी तुलसीदास, भारतेन्दु और प्रेमचन्द ने हिन्दी के संस्कृत रूप को सँवारा है या उसके प्राकृत रूप को? यदि यह दावा सच होता कि भारतीय भाषाओं की एकता का आधार संस्कृत के तत्सम शब्दों का समान रूप से प्रयोग है तो बँगला, गुजराती, हिन्दी, मराठी आदि-आदि भाषाओं का अलग-अलग विकास बिलकुल अस्वाभाविक होता। इतिहास की माँग कुछ और थी, भाषा विज्ञान के आचार्यों की माँग कुछ दूसरी है। गुजराती, मराठी, बँगला, हिन्दी आदि भाषाओं का अलग-अलग विकास इसलिए हुआ है कि इन भाषाओं ने अपने प्राकृत रूप को सँवारा है। उन्होंने तत्सम शब्द भी लिए हैं और साहित्य-रचना में विशेष रूप से लिये हैं लेकिन बँगला, हिन्दी या मराठी की जातीयता, उसका विशेष रूप, उसका बोलापन या वह भदेसपन जिसका उल्लेख गोस्वामी तुलसीदास ने किया था, संस्कृत शब्दों के प्रयोग के कारण नहीं है। भाषा की भागीरथी प्राकृत रूप समुद्र की ओर ही बह रही है, संस्कृत रूप हिमालय की ओर नहीं। हिमालय की बर्फ घुल-घुलकर जड़ से जल बन

"आखिर आप रमणी हैं न ? जिस दिन आप कमल-कुसुम के समान वर्तमान सामाजिक पानी की तह से ऊपर उठ आएँगी, उस दिन यह कह देंगी कि त्यागवाद महान् नहीं हो सकता। जिस त्याग का ढिंढोरा पीटा जा रहा है वह या तो समाज में इस समय जो धर्म प्रचलित है उस धर्म के भय से किया जा रहा है या वह समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने के लिए किया जाता है। सारे दान पुण्य, सत्कर्म कहे जानेवाले कार्य इन्हीं दो कारणों के परिणाम हैं। सारा सामाजिक सगठन अवैज्ञानिक नहीं है। जो चीज वैज्ञानिक नहीं है, वह महान् हो ही नहीं सकती। मिस विमला, इस युग के दो सबसे बड़े तत्ववेत्ता हैं—डारविन और कार्ल मार्क्स। दोनों ग्रहणवादी हैं।"

बाईस साल की लड़की के धीरज की प्रशसा करनी होगी। लगभग पूरा पृष्ठ सुन जाती है और एक बार भी उस चौबीस साल के युवक को नहीं टोकती। नीतिराज ने भी, मालूम होता है, कालेज म हिन्दी में नाटक ही पढ़े हैं। इसलिए विमला स कहता है—"आखिर आप रमणी हैं न !" क्या ही अच्छा हो कि कालेज के लड़के सहपाठिनी विद्यार्थियों के लिए ऐसे ही सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया करें। 'सामाजिक पानी की तह' से ऊपर उठाना भी कमाल है। एक वाक्य म नीतिराज सर्वनामों का प्रयोग भूल गया है इसलिए 'जो धर्म प्रचलित है उस धर्म के भय से,'—बार-बार धर्म की दुहाई देने लगता है। 'समाज म प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करना' आदि ऐसे टुकड़े हैं जो नाटक की वाक्य रचना मे ठूँठ-जैसे खड़े हैं। नीतिराज ने डारविन और कार्ल मार्क्स को ही पानी नहीं दिया, बोलचाल की हिन्दी पर भी पानी फेर दिया है।

नाटकों मे इस तरह की शैली ज्यादा दिन नहीं चल सकती। पाठ्य-क्रम मे शामिल करने पर भी इस तरह के नाटक हिन्दी के रगमच का उद्धार नहीं कर सकते।

आलोचना मे गम्भीर चिन्तन के नाम पर हर तरह की वाक्य-रचना क्षम्य समझी जाती है। एक उदाहरण देना ही काफी होगा। 'सामाजिक शक्ति के सगठन मे परस्पर-विरोधी शक्तियों का सघर्ष होता है, साहित्य उसका सजीव चित्रण कर यह स्पष्ट कर देता है कि उसमे वह सक्रिय रूप स भाग ले रहा है और यह कि वह सामाजिक सगठन एक स्थिर वस्तु नहीं है, बल्कि गतिमान और परिवर्तनशील है।' इस बात को और भी सरल ढग स कहा जा सकता था और इस तरह का वाक्य रचने के लिए गम्भीर चिन्तन की दुहाई नहीं दी जा सकती। वाक्य के बेढगेपन का कारण गम्भीर चिन्तन नहीं, अग्रेजी के 'that' का भद्दा अनुवाद है 'यह कि वह।

सक्षेप म हिन्दी की गद्य शैली को सँवारने के लिए वाक्य-रचना पर ध्यान देना सबसे ज्यादा जरूरी है। लिखते समय हम वाक्यों को सुनते भी जाएँ या लिख लेने पर उन्हें जोर स पढकर सुनें सुनाएँ जिससे कि उनका अस्वाभाविक प्रवाह तुरन्त मालूम हो जाय और हम उनमे आवश्यक सुधार कर सकें। इसके

अलावा ससार की हर भाषा के पुष्ट गद्य का आधार आम जनता की बोलचाल की भाषा रही है। हमें अपनी गद्य शैली को सबल और समर्थ बनाने के लिए फिर यही आधार कायम करना है। ऐसा करने से हिन्दी भारत की दूसरी भाषाओं से दूर न जा पड़ेगी। यह भय इसलिए पैदा होता है कि हम भारतीय भाषाओं के विकास को ही गलत समझ बैठते हैं। यह विकास संस्कृत की ओर नही लौट रहा है बल्कि तद्भव रूपो को अपनाता हुआ भाषा के प्राकृत रूप की ओर बढ़ रहा है—प्राकृत, अपने मौलिक और व्यापक अर्थ में। भारतेन्दु और प्रेमचन्द की शैली इसी विकास की ओर संकेत करती है। हिन्दुस्तान की अधिकांश जनता हिन्दी बोलती है या उसे समझती है। लेकिन हम अपनी गद्य-शैली को उस जनता के बोलने समझनेवाले रूप से बहुत दूर ले आए हैं। इस तरह हिन्दी लोकप्रिय नही बन सकती। साक्षरता फैलने पर यह गद्य शैली बदलेगी। नई पीढ़ी के लेखकों पर विशेष रूप से यह भार है कि वे अपनी शैली को इस तरह गढ़ें कि शिक्षा-प्रसार मे उससे सहायता मिले और देश की कोटि-कोटि जनता के सम्पर्क से वे स्वय भी अपनी भाषा और साहित्य को समृद्ध बनाएँ।

(१९४७)

६

राष्ट्रभाषा हिन्दी और हिन्दू राष्ट्रवाद

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग कुछ नई नहीं है। भारतेन्दु से लेकर अब तक इस माँग का आधार यही रहा है कि हिन्दी जनता की भाषा है; बोलने, लिखने और समझने में वह सरल है, हिन्दुस्तान की अधिकांश जनता अभी भी उसे बोलती और समझती है। अपनी माँग को पुष्ट करने के लिए हिन्दी-भाषियों ने जनता को अपनी कसौटी बनाया था। उन्होंने राष्ट्रभाषा की समस्या को जनतान्त्रिक ढंग से ही सुलझाने का प्रयत्न किया था। लेकिन इधर कुछ वर्षों से यह परिस्थिति बदल रही है। साहित्य-सम्मेलन के मंच से हिन्दी-हिन्दुस्तान का नारा लगाकर अपनी भाषा के प्रसार को संकुचित करने और उसके सहज विकास को रोकने का प्रयास किया गया है। एक तरफ तो हम गर्व के साथ कहते रहे हैं कि हिन्दी आम जनता की भाषा है जिसके बोलनेवाले सभी जातियों और धर्मों के लोग हैं, दूसरी तरफ राष्ट्रीयता के नाम पर साम्प्रदायिकता का जहर फैलानेवाला यह नया हिन्दू राष्ट्रवादी दल भाषा को धर्म के साथ जोड़कर हिन्दी को जनता की भाषा के पद से हटा देना चाहता है। ऊपर से देखने में मालूम होता है कि ये हिन्दू राष्ट्रवादी हिन्दी के समर्थक है, जो उसका प्रसार और विकास चाहते हैं, वास्तव में इनसे बड़ा शत्रु हिन्दी का कोई दूसरा नहीं हो सकता। राष्ट्रों की तरह भाषा का विकास भी जनतान्त्रिक आधार पर होता है, जनता की उपेक्षा करके फासिज्म को आधार बनाने पर राष्ट्र की तरह भाषा का भी सत्यानाश होना अनिवार्य है। हिन्दी का सत्यानाश करना तो विधाता के लिए भी कठिन होगा। विधाता की इच्छाओं के एकमात्र टीकाकार ये हिन्दू-राष्ट्रवादी उसके विकास में कुछ देर के लिए बाधा जरूर डाल सकते हैं।

राष्ट्रभाषा के साथ हिन्दू-राष्ट्रवाद के गठबन्धन की सबसे ताजी मिसाल श्री रविशंकर शुक्ल की लिखी हुई एक पुस्तक है जिसका नाम है—'हिन्दीवालो, सावधान!' 'इस्लाम खतरे में है' की तरह लेखक ने हिन्दू-धर्म खतरे में है, कहकर हिन्दीवालों को सावधान करने की चेष्टा की है। जहाँ-जहाँ 'इस्लाम

तरे मे है' का नारा लगाया गया है, वहाँ-वहाँ साबित हो चुका है कि इस्लाम के खतरे किसी की जमीन-जायदाद ही खतरे में थी जिसे बचाने के लिए यह खतरे की घंटी बजाई गई थी। इस बहाने जायदाद की हिफाजत हो नहीं पाती और जनता इस ढंग विद्या को पहचानकर जायदाद को जब्त करके ही दम लेती है। लेखक ने इतिहास को गांधी न मानकर मुस्लिम-लीग धर्मान्धता को आदर्श मानकर उसके पीछे चलने की सिफारिश की है। प्रत्येक हिन्दू-राष्ट्रवादी ऊपर से जिन्ना का विरोधी होते हुए भी हृदय से उन्हीं को अपना आदर्श मानता है। कांग्रेस और देश के स्वाधीनता संग्राम के बारे में यह लीग के प्रतिक्रियावादी नेताओं के समान ही झूठा प्रचार करता है। रविशंकर शुक्ल का अभियोग है कि कांग्रेस ने हिन्दुओं के साथ 'घोर विश्वासघात किया है।' (हिन्दी-जनता, सावधान'; परिशिष्ट, पृ० ६७)। हिन्दुओं का विश्वासघात तो कोई हिन्दू जिन्ना ही हो सकता था लेकिन लेखक के दुर्भाग्य से 'हिन्दुओं का ऐसा कोई नेता नहीं है जो मि० जिन्ना से टक्कर ले सके।' (उप०) हिन्दुओं में ऐसा नेता पैदा करने के लिए जरूरी है कि हर हिन्दू के हृदय से राष्ट्रीयता की परम्परा को निर्मूल कर दिया जाए। इसलिए कांग्रेसी नेताओं के लिए लेखक ने यह दावा किया है कि उन्होंने 'जन्म-भर मनसा, वाचा और कर्मणा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है, और अब भी कर रहे हैं, कि वे हिन्दू नहीं हैं।' (उप०) कांग्रेस पर अहिन्दू होने का अभियोग लगाने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि कांग्रेस की प्रेरणा से जो जनवादी परम्परा कायम हुई है, उससे निहित स्वार्थों की रक्षा की जाए। इस हिन्दू प्रेम के पीछे पूँजीवाद और जमींदारी प्रथा का प्रेम छिपा हुआ है जो लेखक से इस तरह की दलीलें पेश कराता है—पं० नेहरू को हिन्दुस्तान के नाम से चिढ़ है क्योंकि उसमें हिन्दू नाम जुड़ा हुआ है। इसलिए वह चाहते हैं कि देश को 'इंडिया' ही कहा जाए और इस मामले में गांधीजी 'उनकी पीठ थपथपा रहे हैं' (परिशिष्ट, पृ० ६८)। पं० नेहरू के भाषणों को जनता भी सुनती है और वह अच्छी तरह जानती है कि वे इंडिया शब्द का प्रयोग करते हैं या हिन्दुस्तान का। लेकिन फासिज्म का आधार झूठ होता है और हिन्दू-राष्ट्रवाद एक फासिस्ट विचारधारा है।

हिन्दू और मुस्लिम प्रतिक्रियावादी एक-दूसरे के कितने निकट हैं, इसकी एक मिसाल देखिए। दोनों ही नेहरू-सरकार की एक हिन्दू सम्प्रदायवादी सरकार के रूप में कल्पना करते हैं। फर्क इतना ही है कि मुस्लिम प्रतिक्रियावादी उसे हिन्दू सरकार पहले से ही मानते हैं और उनके हिन्दू भाई उसे ऐसी बनाना चाहते हैं। शुक्लजी कहते हैं कि 'हमारा संसार नेहरू सरकार को हिन्दू सरकार बताता और समझता है—जबकि वास्तव में अर्थात् असल में वह हिन्दू सरकार नहीं है। ऐसी भ्रान्ति का कारण नहीं रहने या भविष्य में उत्पन्न होने दिया जा सकता। (उप०) सारे संसार में चर्चिल और उनके पिट्ठू ही ऐसा प्रचार करते हैं और बी० बी० सी० दुनिया-भर में विज्ञापित करती है कि पं० नेहरू

की हिन्दू सरकार मुसलमानों का नाश कर देना चाहती है। लेकिन संसार में सब चर्चिल, फीरोज खाँ नून या उनके हिन्दू नक्काल (रविशंकर शुक्ल जैसे) ही नहीं हैं। दुनिया का हर जनतन्त्रवादी न तो नेहरू सरकार को एक हिन्दू सम्प्रदायवादी सरकार मानता है और न उसे होने देना चाहता है।

हिन्दू राष्ट्रवाद की खुली घोषणा इस प्रकार है—

'हिन्दुस्तान एक हिन्दू राष्ट्र हो जिसका राज-धर्म हिन्दू धर्म हो और जिसमें सब प्रमुख पदों पर हिन्दुओं और अमुस्लिमों की नियुक्ति हो। ऐसा कोई व्यक्ति जो स्पष्ट रूप से हिन्दू धर्म न मानता हो, हिन्दुस्तान सरकार का प्रधान नहीं हो सकता।" (उप०) स्पष्ट रूप से हिन्दू धर्म मानने का मतलब क्या है? यह कि जो मुसलमानों को हिन्दुस्तान में रहने दे, वह पूरा हिन्दू नहीं है। "इस्लाम धर्म के किसी अनुयायी को हिन्दुस्तान में नागरिकता के अधिकार नहीं मिल सकते" और "अल्पसंख्यक के किसी झूठे नाम पर पाकिस्तान के फिफ्थ कॉलम को स्वच्छन्द नहीं छोड़ा जा सकता" (पृ० ६६)। यह है सच्चे हिन्दूपन की कसौटी! अगर लीगी नीति धर्मान्ध है तो क्या हम नहीं हो सकते? अगर वे एक बार कुएँ में गिरे हैं तो हम सौ बार गिरेंगे! हिन्दू राष्ट्रवाद की वीरता इसी प्रकार की है।

इस हिन्दू राष्ट्रवाद को भाषा के क्षेत्र में लागू करना मुश्किल नहीं है। जैसे हिन्दुस्तान का हर मुसलमान पाकिस्तान का फिफ्थ कॉलम है, वैसे ही हिन्दी में आया हुआ अरबी-फारसी का हर शब्द फिफ्थ कॉलम है, जिसे निकाल बाहर करना चाहिए। बात कुछ बहुत मौलिक नहीं है क्योंकि मराठी में वीर सावरकर भी यह काम कर चुके हैं। उन्हें सफलता कितनी मिली है, यह मराठी का कोई अखबार उठाकर देख लीजिए।

कठिनाई तब पैदा होती है जब जनता के व्यवहार का प्रश्न सामने आ जाता है। हिन्दू राष्ट्रवादियों के दुर्भाग्य से इस देश की जनता हिन्दू-मुसलमान शब्दों की पहचान नहीं कर पाती। फल यह होता है कि इस जनता से प्रेरणा पाने वाले कवि और लेखक भी हिन्दू-मुस्लिम शब्दों का भेदभाव भूल जाते हैं। इसलिए हिन्दू राष्ट्रवाद के इन आचार्य ने जनता का झगड़ा ही खत्म कर दिया है। आपने लिखा है—"जनता तो भेड़ों के झुण्ड के समान है, उसे नेताओं ने जिधर हाँक दिया उधर चल दी"'जनता को पेटभर खाने और तनभर कपड़े के सिवाय किसी और चीज़ की चिन्ता नहीं होती।" (मूल पुस्तक, पृ० ८५)।

यह तर्क भी अधिक मौलिक नहीं है। जब हिन्दुस्तान में आज़ादी का आन्दोलन चला, तब अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने भी यही दलील पेश की थी कि हिन्दुस्तान की आम जनता को तो खाने-पहनने से मतलब है, कुछ थोड़े से असन्तुष्ट लोगों ने उसे आज़ादी का नाम लेना सिखा दिया है। अगर उन्हें पकड़कर जेल में बन्द कर दिया जाय तो वह आज़ादी का हल्ला भी एक दिन में खत्म हो जाएगा, इस विचार के अनुसार जनता को भेड़ और अपने

को भेड़िया समझनेवालों ने काम भी किया लेकिन उसका फल क्या हुआ, इसे सारी दुनिया जानती है। श्रीमान् रविशंकर शुक्ल जनता को 'अंग्रेज वाक्तास' करने के फेर में स्वयं जनता की शक्ति से 'अनवाक्तास' हो गये हैं। लेकिन अंग्रेज बहादुर की शक्ति पर आपका विश्वास अडिग है। भारतीय जनता तो अपनी भाषा के प्रति कभी जागरूक नहीं रही लेकिन 'भला हो अंग्रेज बहादुर का जिसने फारसी को हटाकर प्रान्तीय भाषाओं को प्रतिष्ठित किया' (पृ० ५८)। गोया लार्ड मैकाले ने हिन्दी का सर्वनाश करने के लिए कुछ उठा रखा था और उनकी चलाई हुई शिक्षा-प्रणाली के लिए हिन्दुस्तानियों को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। अपनी जनता को गाली कि वह मूढ़ है और अंग्रेज के उठा लिए शाबाशी कि वह इन्साफपसन्द है—यह है हिन्दू राष्ट्रवाद का सच्चा रूप!

हिन्दी-भाषी जनता को भेड़ियाधसान बनाकर इस लेखक ने हिन्दी के बड़े-से-बड़े साहित्यिकों को भी उसमें शामिल कर लिया है। यह हिन्दी के लिए गर्व की बात है कि उसके बड़े-बड़े साहित्यकारों ने बोलचाल की भाषा को अपना आधार बनाया है। रविशंकर शुक्ल की समझ में इस बोलचाल की भाषा को अपनाने का मतलब है उर्दू कोष को अपनाना। लिखा है—"उर्दू कोष केवल हिन्दी शब्द-सागर में ही नहीं समाया हुआ है, वह व्यवहार में भी बहुत हद तक हिन्दी पत्रों और पुस्तकों के पन्नों पर विद्यमान है, और हिन्दी के बड़े-से-बड़े साहित्यिकों की बोलचाल में भी विद्यमान है, बल्कि यों कहिए, बोलचाल में और भी अधिक प्रबल रूप से विद्यमान है" (पृ० ३)। इस बोलचाल के खतरे से बचने के लिए आपने यह बाबा-वाक्य प्रमाण रूप में रखा है—'कण्ठगतेऽपि प्राणे यावनी न वदेत्।' और टीका की है—'संस्कृत की इस प्रखण्ड पीढ़ी में आज हिन्दी है। आज हिन्दी को वही काम करना है जो संस्कृत ने, पाली ने और अपभ्रंश ने किया है' (पृ० ६)। संस्कृत की अखण्डता से अपभ्रंश कैसे पैदा हो गई, अपने अद्भुत भाषा विज्ञान का प्रकाश इस प्रश्न पर भी डाल देते तो हिन्दीवाले और सावधान हो जाते।

लेखक को हर जगह हिन्दी हारती हुई और उर्दू जीतती हुई दिखाई देती है। उर्दू की जीत का कारण उसका विशुद्धतावाद यानी हिन्दी शब्दों के बहिष्कार की प्रवृत्ति बताई गई है। अब उस विशुद्धतावाद को हिन्दी में लागू करने का हठ किया गया है। वास्तव में हार न हिन्दी रही है, न उर्दू, हार रहे हैं दोनों तरफ के विशुद्धतावादी जो दोनों को बोलचाल के अस्सी फीसदी शब्दों के आधार पर नजदीक आते देखकर हाय हाय करके छाती पीट रहे हैं। उनका यह काम उचित भी है क्योंकि दोनों के पास आने को वे बिलकुल नहीं रोक पाते। लेखक ने कई जगह ऐसे शब्दों की सूची बनाई है जिन्हें वह हिन्दी से निकाल देना चाहता है। पृ० २२-२३ पर ऐसे शब्दों की सूची देखने लायक है। इसमें तलाश, सूराख, वजन, शोरगुल, पैदावार, दाग, दर्द, रोशनी, हजम करना, सख्त, नजदीक, मेहमान, कमरबन्द, बीवी, दिल, किताब, अन्दर, तरफ, इन्कार,

खरीदना, आवाज देना, खून जैसे शब्द हैं जिन्हें हिन्दू संस्कृति के लिए घातक बताया गया है। पाठक स्वयं सोचें कि हिन्दी भाषा को इन शब्दों से खतरा है या रविशंकर शुक्ल जैसे उसके समर्थकों से।

इन शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची तो और भी मनोहर हैं! किताब के लिए केवल 'पोथी' लिखना चाहिए और बीवी के लिए 'वहू।'

हिन्दीवालों को सावधान करनेवाले इन सज्जन से अगर कोई पूछे कि क्या आपने यह 'पोथी' अफीम खाकर लिखी थी तो कोई बेजा सवाल न होगा। ऐसे एक-दो नहीं पचीसों शब्द हैं जिन्हें आपने हिन्दी से निकालने की सलाह दी है लेकिन जो दूसरी जगह आपके 'लैंग्वेज कान्शस' दिमाग पर भी सवार हो गए हैं। मिसाल के लिए पृ० ३३ पर आप 'किला' शब्द निकाल देने की सलाह देते हैं लेकिन पृ० १५६ पर हिन्दी शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए 'किले' की ही शरण ले बैठे हैं।

इसी सूची में आपने 'बच्चा' शब्द भी रखा है जिसे हिन्दी से आप विदेशी समझकर निकालना चाहते हैं! पाठकों को ऐसी अपार मूर्खता पर विश्वास न हो तो इस पुस्तक के पृ० ३४ की दूसरी लाइन देख लें। लेकिन वाह रे बच्चो, शाबाश! पृ० १७६ पर जब लेखक महाशय हिन्दी रक्षा संघ स्थापित करने में लगे थे, तभी आठवीं पंक्ति में तुम भी आ कूदे ('हिन्दी जनता में प्रबल आन्दोलन किया जाय कि वह अपने बच्चों को··· ·' इत्यादि)। इसी तरह 'आबादी' का आप विरोध करते हैं लेकिन पृ० २५ पर अवध को 'आबाद' करते हैं। आदत आपको पसन्द नहीं लेकिन पृ० २७ पर आप खुद उसके 'आदी' दिखाई देते हैं। जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले और वह आपके ही नहीं, हिन्दी-उर्दू दोनों के विशुद्धतावादियों के सिर पर चढ़कर बोलता है। जितना ही बोलचाल के शब्दों से पर झाड़ते हैं, उतना ही वे चिपकते जाते हैं!

पृ० ४०-४१ पर एक दूसरी सूची है, उन शब्दों की जो बोलचाल में प्रचलित नहीं हैं। इनमें बगावत, कुर्बानी, गद्दार, हिमायत, उस्ताद, हमदर्दी, नाराज, नाखुश, सर्दी जैसे शब्द भी हैं। पूछना चाहिए कि आप किस देश के रहनेवाले हैं जो इन शब्दों को बोलचाल का नहीं समझते। आपका दुराग्रह कितना बढ़ा हुआ है, यह इस बात से जाहिर है कि आपने 'देशदूत' जैसे पत्र और बेढब बनारसी जैसे लेखक को भी—जिन पर हिन्दी उर्दू के मामले में उदार होने का कलंक कभी नहीं लगाया जा सकता—उर्दू परस्तों की पाँति में बिठा दिया है!

आप पर प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया जायगा, यह आप पहले से ही जानते हैं। इसलिए पृ० ८३ पर आपने गर्व से घोषणा की है—'हमें एक बार नहीं सौ बार प्रतिक्रियावादी कहलाना स्वीकार है।' उसके बाद यह भी मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि 'ये सब बातें पुनरुत्थान की भावना से प्रेरित हैं।' (उप०) बोलचाल के शब्दों के आने से आप भाषा का कृत्रिम मानते हैं, अधिक संस्कृतनिष्ठ होने से हिन्दी स्वाभाविक हो जायगी! (पृ० ८८-८९)

एक सुझाव मार्क का है। अगले प्रान्तीय चुनाव के लिए हिन्दी जनता को अभी से तैयार करना चाहिए। (पृ० १७६)। राष्ट्रवादी मुसलमानो और काग्रेस के नेताओ पर यह विषवमन उस चुनाव की तैयारी का ही एक अग है। ऐसे लोगो की कमी नही है जो देश को जनतन्त्र की तरफ बढने से रोककर साम्राज्यवाद की पाली-पोसी हुई व्यवस्था कायम रखना चाहते हैं। इनके प्रचार म एक ऐसी हिन्दी को स्थान दिया गया है जिसका भारत की जनता स यथा-सम्भव कम सम्बन्ध है। जितना सम्बन्ध हिन्दू राष्ट्रवाद का हिन्दू जनता स है, उतना ही हिन्दी के इन समर्थको का हिन्दी से है। कलम पकडते चार दिन नही हुए कि तुलसीदास, भारतेन्दु और प्रेमचन्द—सभी की परम्पराएँ उलटने को तैयार है। मानो ईश्वर के यहां से हिन्दी की जायदाद का बैनामा कराके लौटे है। हिन्दी के उस एक बडे लेखक का नाम बताइए जिसने इन सिद्धान्तो को मानकर रचना की हो। भाषा के निर्माता कुछ अन्धे प्रतिक्रियावादी नही हो सकते। उसके निर्माता हिन्दुस्तान के करोडो किसान, मजदूर और साधारण लोग हैं जिनकी बोलचाल की भाषा से आपको असली खतरा दिखाई देता है। हिन्दी बोलनेवालो ने जिन शब्दो को अपना लिया है, उन्हे तमाम मुसलमानो को कत्ल करके भी हिन्दी से नही निकाला जा सकता। यह सस्कृति की राम-दुहाई जनता के भय से उत्पन्न हुई है क्योकि एक बार अग्रेजी से टक्कर लेने के बाद यह जनता उनके देसी नक्कालो स डरकर चुप रहनेवाली नही है। जिस समय हिन्दी-उर्दू के कथित हिमायती एक-दूसरे को कोसते रहे है, उस समय यही जनता खेतो, खलिहानो और कारखानो मे एक मिली जुली भाषा गढती रही है जिसकी उपेक्षा करना दोनों म से किसी के लिए भी सम्भव नही है। हिन्दी अमर है, इसलिए कि वह अपनी स्वाधीनता के लिए लडनेवाली जनता की सजीव भाषा है।

(१९४८)

७

हिन्दी का 'संस्कृतीकरण'

बहुत से लोगो का विचार है कि सस्कृत ने मृत भाषा का रूप इसलिए ले लिया कि पडितो ने उसे व्याकरण के नियमो से जकड दिया था। परन्तु व्याकरण और भाषा की सजीवता मे कोई ऐसा अन्तर्विरोध नही दिखाई देता कि सस्कृत की मृत्यु के लिए व्याकरण को दोषी ठहराया जाय। अगर आज की जीवित भाषाओ को लें तो देखेंगे कि वे व्याकरण से कम अनुशासित नही है और किसी हद तक तो उनके व्याकरण मे ऐसी विशेषताएँ मौजूद हैं जो तर्कबुद्धि को स्वीकार ही नही होतीं। कौन नही जानता कि अग्रेजी-व्याकरण बारह साल पढने के बाद भी भाषा मे अशुद्धियां रह जाना एक साधारण बात है। फिर भी अग्रेजी ससार की सबसे सजीव भाषाओ मे है। सस्कृत की अपेक्षा उसम स्वच्छन्दता कही कम है। सस्कृत वाक्य-रचना मे आप शब्दो का हेर-फेर कर सकते हैं—'एतद् मम पुस्तकम्' को मम, पुस्तकम्, एतद् किसी भी शब्द से प्रारम्भ करके लिख सकते है। लेकिन अग्रेजी मे 'दिस इज माई बुक' को 'इज दिस माई बुक' लिखकर देखिये, कितना अन्तर हो जाता है! और कही 'बुक माई इज दिस' लिख दीजिये, तब तो वाक्य का कचूमर ही निकल जायगा! छोटे बच्चे अग्रेजी सीखते हुए अक्सर इस तरह की वाक्य-रचना करते हैं। और बच्चे ही क्या, बालिग भी हिन्दी से अग्रेजी शुरू करते हैं, तो आरम्भ मे यही गलती करते हैं। अगर कोई समझे कि 'राम रामौ रामा' की रटन्त से अग्रेजी ही अच्छी तो उसे हिन्दी के 'राम से, राम म, राम पर' आदि रूप याद रखने चाहिएँ और बिहारी भाइयो को 'ने' सम्बन्धी कठिनाई को न भूल जाना चाहिए।

इसका यह मतलब नही है कि सस्कृत, हिन्दी और अग्रेजी दोनो से सरल है और इसलिए उसे राष्ट्रभाषा बना देना चाहिए। ऊपर की बातें कहने का उद्देश्य यह है कि सस्कृत के मृत भाषा बनने का कारण व्याकरण नही कुछ और है। दरअसल सस्कृत कुछ गिने-चुने शिक्षितो की भाषा रह गई थी और लोक-प्रचलित भाषा से इतनी दूर चली गई थी कि ग्राम जनता के लिए वह दुरूह हो गई थी। उसका व्याकरण कितना भी सरल किया जाता, वह 'जीवित'

भाषा का पद न पा सकती थी। अक्सर अनेक ग्राम-भाषाओं का व्याकरण संस्कृत से कम कठिन नहीं होता, बल्कि उससे भी अधिक गहन और विस्तृत होता है, फिर भी ग्रामीण बच्चे बिना सूत्र घोखे हुए ही व्याकरण के अनुसार नित्य वाक्यरचना करते रहते है। फ्रांस और स्पेन के कुछ भागों में 'बास्क' नाम की ऐसी बोली आज भी प्रचलित है। उसका व्याकरण लैटिन से भी दुरूह बताया जाता है लेकिन लैटिन संस्कृत के पद को प्राप्त हुई और बास्क अब भी जीवित है। बास्क के लिए एक कहानी प्रचलित है कि खुदा ने शैतान पर ग़फ़ा होकर उसे बास्क-व्याकरण याद करने के लिए भेजा। सात साल तक परिश्रम करने के बाद भी शैतान कोरा-का-कोरा ही वापस लौटा।

व्याकरण की कठिनाई नई भाषा सीखनेवालों को महसूस होती है। जो उसे नित्य-प्रति बोलते हैं, उनके लिए व्याकरण 'सीखने' का प्रश्न नहीं उठता।

इसी प्रकार कोश देखकर भी कोई हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी में बातें नहीं करता। काफी दिन तक कोश-निर्माण में परिश्रम करने के बाद अधिकांश लोग यह समझ गये हैं कि हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी की समस्या का चाहे जो हल हो, वह कम से-कम कोश-निर्माण से हल नहीं हो सकती।

लेकिन कोशकार भला यह कब माननेवाले हैं। उनके लिए अमर-कोश पहले है, कालिदास बाद का। उनके लिये भाषा के बोलनेवाले बाद को हैं, उनकी कोश रचना पहले है। जनता क्या बोलेगी, वैज्ञानिक, डाक्टर, वकील, राजनीतिक नेता, आदि-आदि किन शब्दों का प्रयोग करेंगे, इस अंदेशे से दुबले कोशकार मोटे-मोटे कोशों का निर्माण करने में लगे हैं। कोश-रचना में ऐसे शब्द नहीं रखे जाते जो व्यवहार में आते हैं बल्कि ऐसे शब्द गढ़कर रखे जाते है जो व्यवहार में लाय जायेंगे। अगर 'जनता' की समझ और व्यवहार का जिक्र कीजिये तो जनता को मूर्ख और अशिक्षित कहकर भाषा के क्षेत्र से उसे निकाल बाहर किया जाता है और कोशकार दत्तचित्त होकर फिर अपने शब्द-निर्माण में लग जाते हैं।

छोटे से बड़े तक अनेक पंडित-महापंडित कई वर्षों से इस कार्य में लगे हैं। हिन्दी में लगे है और उर्दू में लगे हैं और इनके साथ बँगला जैसी अन्य भाषाओं में भी लगे हैं। इस हिसाब से हम इसे 'भारतीय साहित्य का कोश-युग' कह सकते हैं।

कोशकार अपने निर्दोष कार्य में लगे रहते और उनके एकान्त चिन्तन में बाधा देने की कोई जरूरत न थी अगर उनकी कोश-रचना आम जनता पर लादी जाने को न होती। जब उनके इस कार्य को सरकारी या अर्द्ध-सरकारी संरक्षण मिल जाता है, तब यह खतरा पैदा हो जाता है कि कचहरी डाकखाने में हमें ऐसे कागज-पत्र पढ़ने को मिलेंगे जिन्हें समझने के लिए भारी-भरकम कोश साथ लेकर चलना पड़ेगा।

कल्पना कीजिये, एक 'अपराजित' व्यक्ति अपने 'अपराजक' पर अभियोग

लगाता है और 'अपसर्जक' या मित्र 'अपचय' करता है। आप अदालत में 'प्रत्याख्यान' करते हैं। वकील 'प्रत्यय की अभ्युक्ति' करता है। इतने ही में एक 'अपनयन' का मुकदमा और पेश होता है लेकिन मुकदमे का 'लम्बन' हो जाता है या वह 'विवृष्ट' हो जाता है। आपका 'अभिकर्त्ता' 'शपथ-पत्रक' देता है जिसमें फिर 'व्यक्त विकर्षण' होता है। इसके बाद 'पुनर्वाद के प्रत्यय' की नौबत आती है और तब 'अपचारक' से कहा जाता है कि 'इस वाद का व्यय वाद के परिणाम का अनुसरण करेगा।'

यदि आप हिन्दी-प्रेमी हैं, तो इन शब्दों पर कुछ देर तक विचार कीजिए। यदि अंग्रेज़ी और हिन्दी पर्यायवाची शब्दों के बिना आप इनका मतलब समझ लेंगे तो 'बीर सराहौं तोहिं' हमें कहना पड़ेगा। ऊपर के शब्द उस कोश से लिये गये हैं जिसे उत्तर प्रदेश की सरकार और टिहरी राज्य की सहायता से नागरी प्रचारिणी सभा तैयार कर रही है। बानगी के तौर पर कुछ शब्द २ जून, १६४८ की 'अमृत बाज़ार पत्रिका' में छपे हैं। यदि नागरी-प्रचारिणी सभा ऐसी ही हिन्दी का प्रचार करना चाहती है तो उसे लोगों को धोखे में न डालकर अपना नाम बदल डालना चाहिए।

इसमें सदेह है कि ये शब्द सस्कृत में भी उसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं जो कोशकारों को अंग्रेज़ी के आधार पर अभीष्ट हैं। यह सस्कृत और हिन्दी दोनों के साथ अन्याय है। इस तरह की भाषा को यू० पी० सरकार, टिहरी राज्य और नागरी-प्रचारिणी सभा तीनों मिलकर और उन-जैसे दस पाँच नहीं चला सकते, क्योंकि ये शब्द जनता के गले से उतरेंगे नहीं। कोशकार भले ही आज जनता को अशिक्षित कहकर उसकी बोलचाल की भाषा की उपेक्षा करें, लेकिन यह कोश-भाषा आखिर बुलवाना तो उसी जनता से है!

हिन्दी के इस 'सस्कृतीकरण' से हिन्दी का राष्ट्रभाषा बनना तो दूर, उसका प्रान्तीय भाषा के रूप में भी लोकप्रिय रहना कठिन हो जाएगा। यह हिन्दी की सेवा करना नहीं, उसका गला घोटना है। हर हिन्दी-प्रेमी को इसका विरोध करना चाहिए।

यह बात नहीं है कि सस्कृत से शब्द लेना एकदम बन्द कर देना चाहिए। लेकिन शब्द लेना एक बात है, भाषा को सस्कृतमय बना देना दूसरी बात। इन कोशकारों की नज़र में हिन्दी का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उसमें जो कुछ है और होना चाहिए, वह केवल सस्कृत का! इनके लिए मध्यकाल से लेकर अब तक केवल सांस्कृतिक पतन ही होता आया है और जितनी जल्दी सतयुग की ओर लौट चलें, उतना ही अच्छा। यह हठधर्म कुछ नया नहीं है। जब गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' रचा था और पडितगण उनकी रचना को 'भदेस' कहकर हँसते थे, तब से यह क्रम चला आ रहा है। यूरोप में इस प्रकार लैटिन के आगे 'वल्गर टग' का मज़ाक उड़ाया जाता था, लेकिन वही 'भदेस' भाषाएँ ससार की सबसे समृद्ध भाषाएँ बन गईं। वह पद हिन्दी भी प्राप्त

करेगी, लेकिन कोश-रचना और संस्कृतीकरण के रास्ते पर चलकर नहीं।

ऊपर की कोश निर्मित शब्दावली सरल शब्दों में भी लिखी जा सकती है। लेकिन कोश-प्रेमियों का कहना है कि सरल शब्दावली पारिभाषिक कहाँ हुई। इस तरह हिन्दी को इतना पारिभाषिक बनाया जाएगा कि वह 'भाषा' न रहकर केवल 'परिभाषा' रह जाएगी!

हैदराबाद के स्वनामधन्य निज़ाम साहब उर्दू के लिए ऐसे ही कोश बनवा चुके हैं। उनसे उर्दू कितनी लोकप्रिय हुई है, इस बात पर हिन्दी-प्रेमियों को विचार करना चाहिए।

'सारे देश में समझी जाए'—इस बहाने हर भाषा के कठमुल्ले अपनी भाषा की जान लेने पर तुले हुए हैं।

पश्चिमी बंगाल की अत्यन्त प्रगतिशील सरकार के 'स्वराष्ट्र विभाग' ने सरकारी कामों के लिए 'व्यवहार्य परिभाषा' का पहला भाग प्रकाशित किया है। सरकार की तरफ से छपी हुई चीज़ है, इसलिए उसमें नुक्ताचीनी की गुंजाइश भी कम है। आप 'परिभाषा' का जो मतलब लगाते हों, बंग सरकार ने उसका अर्थ 'शब्दावली' लिया है, यह याद रखें।

इसके रचयिताओं में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का प्रसिद्ध नाम भी है। भूमिका में बताया गया है कि 'हिसाब' शब्द प्रचलित होते हुए भी उसकी जगह 'गणन' और 'गणन' से 'गाणनिक' और 'महागाणनिक' शब्द रचे गये हैं। रवीन्द्रनाथ के बंगाल में यह ललित पदावली रची जा रही है। इसी प्रकार 'अदालत' शब्द काफ़ी सम्मानपूर्ण नहीं, 'not dignified enough' समझा गया है। इसलिए उसकी जगह 'धर्माधिकरण' सजाया गया है, जिसका नाम सुनते ही अपराधियों के छक्के छूट जाएँ।

भूमिका में भाषा विज्ञान की यह अपूर्व बात भी कही गई है—'Bengali, Hindi, Marathi and the rest now depend upon Sanskrit—they are not free to utilise their own basic elements' यानी बँगला, हिन्दी, मराठी वग़ैरह को ख़ुद अपने भीतर से शब्द निर्माण करने की छूट नहीं है। उन्हें संस्कृत का ही मुँह जोहना पड़ेगा।

हिन्दुस्तान में भाषा विज्ञान ने कितनी प्रगति की है, यह ऊपर के इस एक वाक्य से प्रकट है, जिस पर डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के हस्ताक्षर हैं।

नागरी प्रचारिणी के कोशकारों की सेवा में हम इस बंगीय 'परिभाषा' से कुछ शब्द पेश करते हैं। आप लोग अलग-अलग न जाने क्यों परिश्रम कर रहे हैं, हिन्दी बँगला जब दोनों संस्कृत से लेती हैं, तब उनमें भेद कहाँ रहा? आप्टे के शब्द-कोष पर हिन्दी, बँगला लिखकर क्यों नहीं चालू कर देते? बानगी देखिए :

न्यासपाल, महा व्यावहारिक (संज्ञा है, विशेषण न समझ लीजिएगा!), स्थपति, भाचित्रकार, कूपी धावक (यह बोतल धोनेवाला है!), आत्ययिक, चक्रचर नियामक, दोहवर्धन आधिकारिक (डेरी से सम्बन्ध है), दुष्कृति विमर्श

विभाग, उप-आयुक्तक, उप-प्रादेशिक परिवहन महाध्यक्ष, उप-आरादयाध्यक्ष, एप-अधिकर्ता, ताडित-उपदेष्टा, धूम्रोत्पात परिदर्शक, साधित्र रक्षक, लेख्य-प्रापक, राजस्व-करणिक, विक्रयिक, विशिष्ट-मुद्रितक-उपदेष्टा, परियाण-करणिक अवर, अन्त शुल्क मूल्यक, शिल्प व भरण मन्त्र, राष्ट्रमृत्यानियोगाधिकार, कन्या प्रणिधि, तूर्ण पत्र (एक्सप्रेस चिट्ठी) इत्यादि।

इस शब्दावली के निर्माता जानते हैं कि उसे बंगाल में कोई न समझेगा। इसलिए नौजवानों को आदेश दिया गया है कि जितना समय अंग्रेज़ी सीखने में लगाते हो, उसका चौथाई भी मातृभाषा (यानी संस्कृत) सीखने में लगाओ तो ये अपरिचित शब्द उतने अपरिचित न रह जाएँगे।

इन कोशकारों के लिए सबसे अच्छी सज़ा यही है कि इनसे इन्हीं के बनाये हुए कोश याद कराये जाएँ। जहाँ भूलें वहाँ फिर याद करने की ताकीद कर दी जाय। जब हिन्दी, बँगला आदि के कोशकार अपने अपने कोश या सम्मिलित महाकोश याद कर डालें तभी वह कोश जनता तक पहुँचे, उसके पहले नहीं।

हिन्दी का संस्कृतीकरण पारिभाषिक शब्दों को लेकर ही नहीं है। साधारण साहित्य में, दैनिक और मासिक पत्रों आदि में भी तत्सम शब्दों को इसलिए भरा जाता है कि इससे हिन्दी सुबोध हो जाएगी—खुद हिन्दी बोलनेवालों के लिए नहीं बल्कि दूसरी भाषाओं के बोलनेवालों के लिए। मिसाल के लिए, शायद बंगाल के लोग संस्कृत-बहुल हिन्दी को बोलचाल की खिचड़ी भाषा से ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे। देखना चाहिए कि बोलचाल की बँगला में तत्सम शब्दों का अनुपात कैसा रहता है। इस पर डा० सुनीतिकुमार चटर्जी से ज़्यादा कौन अधिकारी विद्वान राय दे सकता है? बँगला भाषा की उत्पत्ति और विकास पर लिखे हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ के पहले भाग में उन्होंने यह मत प्रकट किया है—

'In Modern Bengali, the Colloquial has a surprisingly small 'percentage of Sanskrit words' (The Origin and Development of the Bengali Language, Vol 1, p 221) यानी बोलचाल की बँगला में संस्कृत शब्दों की तादाद असाधारण रूप से कम है।

हिन्दी पाठक इस वाक्य पर कुछ देर तक विचार करें। जिन अन्य भाषा-भाषियों की दुहाई देकर हिन्दी को बिगाड़कर उसे संस्कृतमयी बनाया जा रहा है, वे स्वयं बंगाल जैसे प्रान्त में भी संस्कृत शब्दों का कम-से-कम प्रयोग करते हैं।

पारिभाषिक शब्दों की समस्या बोलचाल की भाषा के नियमों को तोड़कर हल नहीं की जा सकती। बोलचाल की भाषा में अंग्रेज़ी और फ़ारसी के शब्द भी आते हैं और संस्कृत से भी आते हैं। लेकिन आर्य संस्कृति के जोश में शुद्धतावादी केवल संस्कृत के तत्सम शब्दों को लेने पर तुले हुए हैं। वे यह भूल जाते हैं कि स्वयं संस्कृत दूसरी भाषाओं से शब्द लेकर समृद्ध होती रही थी।

इस बात को सुनीति बाबू भी मानते हैं। उपर्युक्त पुस्तक में लिखा है—"The Aryan speech has been borrowing words from the Dravidian ever since the former came to India"— (Ib, p 178) अर्थात् "आर्यों की भाषा हिन्दुस्तान में आने के बाद से ही द्रविड भाषाओं से उधार लेती रही है।" लेकिन 'देववाणी' भले शब्द लेती रही हो, देशवाणी के बूर्जुआ समर्थक जोरो से हृदय-कपाट बन्द किये हैं कि कहीं विदेशी हवा लगने से उनका देवत्व खंडित न हो जाय।

अगर कोई कहे कि इनकम टैक्स इन्स्पेक्टर, वारंट, करेंसी, गार्जियन, रिपोर्ट, रिसीवर, सम्मन, सब-जज आदि अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों को ग्रहण कर लेना चाहिए और उनकी जगह नये शब्द न गढ़ने चाहिएँ तो यह राष्ट्रभाषा के प्रति द्रोह कहा जाएगा। लेकिन इन्हीं शब्दों को सुनीति बाबू ने अपनी पुस्तक में 'typical naturalised English Words' (पृ० ६४५-४८) कहा है। ये शब्द बँगला के अपने शब्द मान लिये गए हैं और यही नहीं, इनके साथ इंजि-बीमान, वेटिंग-रूम, कौंसिल, गिरीमेंट (एग्रीमेंट), नोटिस, बर्ज्जाइस (बुर्जुआ), मरगिज, रजिस्ट्री, निवर, हाफ साइड आदि शब्द भी बँगला की स्वीकृत सम्पत्ति माने गये हैं। लेकिन बँगला की 'व्यवहार्य परिभाषा' उठाकर देखिए तो इन्हीं शब्दों या इन जैसों के बदले डा० सुनीतिकुमार और उनके सहयोगी नये-नये भारी भरकम शब्द गढ़ते दिखाई देंगे और खुद बंगालियों की समझ में न आने पर उनसे कहेंगे कि अपनी मातृभाषा सीखने में कुछ समय लगाओ।

इसी तरह अपनी पुस्तक के पृ० २१७ (खंड १) पर उन्होंने बैलेट, सेक्रेटरी, प्रिंटर, गजट, टाइमटेबल, रोमांस, रोमांटिक, क्लासिक, ट्रैजिक, कॉमिक, आर्ट, फ्यूचरिज्म, साइंस, प्रोटोप्लाज्म, प्लीस्टोसीन, लॉ, प्लांट, केमिस्ट्री, फिजिक्स आदि शब्दों के लिए लिखा है कि वे 'are being bodily adopted at the present day,' यानी वे जैसे-के तैसे बँगला में अवतार ले रहे हैं। लेकिन मजाल क्या कि वही सुनीति बाबू अब इनके लिए संस्कृत की किसी धातु से नया शब्द न गढ़ लें।

अपनी पुस्तक के पृ० २१२ (खंड १) पर उन्होंने यह भी लिखा था कि बँगला के मुसलमान लेखक ज्यादा संख्या में आगे आ रहे हैं, इसलिए फारसी, अरबी के शब्दों का बँगला में आना बिलकुल स्वाभाविक होगा ('will be in the nature of things') लेकिन 'व्यवहार्य परिभाषा' में इन स्वाभाविक रूप से आये हुए शब्दों को ढूँढने के लिए अब आपको खुर्दबीन की जरूरत पड़ेगी।

जिस तरह पूँजीवादी नेता चुनाव में किये हुए वादों को मन्त्री बनने पर भूल जाते हैं, वैसे ही 'रिवाइवलिज्म' के जोश में (आर्य संस्कृति के मोह में) सुनीति बाबू जैसे भाषा वैज्ञानिक खुद अपने बनाये हुए सिद्धान्तों को भूल गए हैं। यह पूँजीवादी संस्कृति के ह्रास का चिह्न है, उसके उत्थान का नहीं। यह रास्ता बँगला और हिन्दी की उन्नति का नहीं, उनकी अवनति का है। (१९४८)

८

उर्दू-साहित्य की सांस्कृतिक परम्परा

हिन्दी उर्दू की समस्या का एक पहलू उनके साहित्य की परम्परा का भी है। हिन्दी और उर्दू एक भाषा हैं, या एक भाषा की दो शैलियाँ हैं वे आगे चलकर मिलेंगी या उनमें से एक ही रह जाएगी आदि मसला को पेश करते हुए और उनका हल खोजते हुए इन दोनों की सास्कृतिक परम्परा का सवाल भी उठाया जाता है।

उर्दू की साहित्यिक और सास्कृतिक परम्परा क्या है ? यह परम्परा हिन्दी की साहित्यिक और सास्कृतिक परम्परा से कहाँ तक अलग है ? क्या दोनों की कोई सामान्य परम्परा भी है जिसे आगे विकसित किया जा सकता है ?

इन प्रश्नों का जवाब देने से हिन्दी उर्दू की समस्या को सही तौर से पेश करने और उसे हल करने में सहायता मिलेगी।

१

उर्दू की सास्कृतिक परम्परा के बारे में एक मत यह है कि वह विदेशी है, उसी की वजह से देश के बँटवारे की नौबत आई (या वह परम्परा भी बँटवारे का एक कारण है), इस परम्परा से हिन्दी का कोई समझौता नहीं हो सकता और दरअसल उस परम्परा को, चूकि वह राष्ट्रद्रोही है जल्दी से जल्दी खत्म कर देना चाहिए।

इस मत को हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नये सभापति सेठ गोविन्ददास ने बडी धूमधाम से पेश किया है। इसी मत को श्री राहुल साकृत्यायन, श्री सम्पूर्णानन्द, श्री पुरुषोत्तमदास टंडन आदि सज्जन भी पेश कर चुके है। सेठ गोविन्ददास ने उसे पेश करने में धूमधाम के अलावा किसी मौलिकता का परिचय नहीं दिया। इसलिए यहाँ पर श्री पुरुषोत्तमदास टडन के शब्दो को उद्धृत करना ज्यादा अच्छा होगा। टडनजी सम्मेलन के प्राण है। सम्मेलन के सालाना सभापति जो मत प्रकट करते हैं उनमें इन प्राणों की ध्वनि ही गूँजती रहती है।

सम्मेलन के पैंतीसवें अधिवेशन में टडनजी ने उर्दू की सास्कृतिक परम्परा

पर ये विचार प्रकट किये थे :

"उर्दू कवियो की जो कविताएँ हुईं, वे अरब और ईरान के तहजीब की प्रतीक थी। उर्दू कविताएँ हमे अपने नगर, अपने देश, अपने गली-कूचो की ओर ले जाने के बजाय, ईरान और अरब के नगर तथा गली-कूचो की ओर ले जाती हैं। उसकी सास्कृतिक परम्परा हमारे देश की, हमारी मिट्टी से निकली हुई जो सस्कृति है, उसके विपरीत है।

"उर्दू कवियो के रूपको मे उर्दू कविता का सास्कृतिक प्रयत्न स्पष्ट दिखाई पडता है। उनकी कविताओ मे यदि वीर की उपमा दी जाती है तो रुस्तम, सोहराब, अफ्रासियाव को याद किया जाता है, कही पर आपको भीम, अर्जुन, आदि की उपमा नही मिलेगी। नदी की उपमा जब आती है तो उन्हे अरब की, मेसोपोटामिया की और ईरान की नदियाँ याद आती हैं। पर्वत की याद होती है तो उन्हें ईरान के पहाडो की याद आती है, हिमालय पर्वत की याद नही आती। फलो मे उनको 'नर्गिस' की याद आती है। पक्षियो मे उनको बुलबुल दिखाई पडता है, अपने देश के जो सुन्दर और अच्छे पक्षी हैं, उनकी चर्चा नही करते। उनका यह प्रयत्न था कि लखनऊ की गलियाँ 'अरवाँ' बन जाएँ। 'अरवाँ' ईरान का एक नगर है। सरुर जो कि लखनऊ का कवि था उसका एक शेर 'फसाना अजायब' मे यह है—'बुलबुले शीराज को है रश्क नासिख का शुरू। अरवाँ इसने किये हैं, लखनऊ के कूचे और गलियाँ'। कहने का तात्पर्य यह है कि उर्दू का सास्कृतिक क्रम पृथक्वाद है और उसका परिणाम यह हुआ है कि जैसे-जैसे उर्दू का विकास हुआ, वैसे-वैसे सास्कृतिक पृथकता बढती गई। जहाँ-जहाँ उर्दू का साम्राज्य था, वहाँ वहाँ पृथक्वाद का विशेष बल था, जैसे उत्तर-प्रदेश और पजाब मे।"

(हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, पैंतीसवें अधिवेशन का विवरण, प्रयाग, पृ० ७६-८०)

यह सब कहने का सीधा मतलब यह है कि उर्दू की सास्कृतिक परम्परा अलगाव पैदा करती रही है, इसलिए उसे खत्म कर देना चाहिए। आगे जब टडन जी कहते हैं कि "मुझे उर्दू कविता अच्छी लगती है" तब उनसे पूछा जा सकता है कि इस राष्ट्र विरोधी कविता के अच्छा लगने का पाप आप जैसे विशुद्ध भारतीयता प्रेमी से कैसे हो गया ? अगर उर्दू की सास्कृतिक परम्परा हिन्दुओ और मुसलमानो मे फूट डालती है तो इस बारे मे दो मत नही हो सकते कि ऐसी परम्परा को खत्म कर देना चाहिए। ऐसी परम्परा तो फूटपरस्तो को ही अच्छी लग सकती है।

२

उर्दू साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से पहली चीज यह दिखाई देती है कि उर्दू की सास्कृतिक परम्परा परिवर्तनशील रही है। जो परम्परा जौक या दाग की थी, वही परम्परा ज्यो-की-त्यो जोश या कृशन चन्दर की नहीं हैं। हमे

देखना चाहिए कि यह परम्परा पहले क्या थी और उसमे कौन-कौन-सी खास तब्दीलियाँ हुई हैं।

जिस तरह हम भारतेन्दु के पहले की हिन्दी कविता को मोटे तौर पर रीतिकालीन कविता कहते हैं, उसी तरह हाली के पहले की उर्दू कविता को मोटे तौर पर हम रीतिकालीन कविता कह सकते हैं।

इस ज़माने की उर्दू कविता पर दरबारी संस्कृति की जबर्दस्त छाप है। उसके भावो और भाषा पर सामन्ती संस्कृति की छाप है। यह सामन्ती संस्कृति साहित्य मे ईरानी साहित्य की परम्परा को अपनाती थी। उसने ईरानी साहित्य म प्रचलित उपमाओ, रूपको वगैरह को अपने साहित्य म सजाने की कोशिश की।

हर देश के रीतिकालीन साहित्य मे—उस समय के साहित्य मे जब उद्योग-धन्धो के विकास स सामन्ती ढांचा खत्म नही हुआ—बात कहने के ढग पर ज्यादा जोर दिया जाता है, भावो और विचारो की मौलिकता पर कम ज़ोर दिया जाता है। हिन्दी की रीतिकालीन कविता, बिहारी और देव की रचनाओ म यह शैली हम देख सकते हैं। यही बात उर्दू की रीतिकालीन कविता पर भी लागू होती है।

आगे चलकर रीतिकालीन परम्परा ज्यादा साथ नही देती। उसमें चाह भीम और अर्जुन का गुणगान हो, चाहे सोहराब और अफ्रासियाब का, उस परम्परा से नाता तोडना ही होता है। हिन्दी की रीतिकालीन परम्परा मे रामायण और महाभारत के वीरो की कमी नही थी, फिर भी खडी बोली के कवियो ने उस परम्परा का जोरो स विरोध किया और छायावादी कवियो ने उससे नाता तोडकर एक नई परम्परा को जन्म दिया। उर्दू साहित्य मे भी उसकी रीतिकालीन परम्परा एक निर्जीव परम्परा हो गई है। उर्दू-साहित्य उससे बहुत आगे बढ चुका है। रीतिकालीन परम्परा का विरोध करने और उससे नाता तोडने पर खुद उर्दू के लेखको और कवियो ने ज़ोर दिया है।

जैसे हिन्दी मे भारतेन्दु से पहले की सभी रीतिकालीन कविता ऐसी नही है, जिसे उठाकर रद्दी की टोकरी मे फेंक दिया जाय, उसी तरह उर्दू की रीतिकालीन कविताओ मे बहुत-सा हिस्सा सांस्कृतिक परम्परा का अग बनकर सुरक्षित रहेगा। उर्दू के बहुत-से पुराने कवियो की ऐसी सैकडो पक्तियाँ हैं जो अपनी उक्ति चातुरी की वजह से बार-बार उद्धृत की जाती हैं और अब उन्होंने बोलचाल मे कहावतो की जगह ले ली है। मसलन—

बडा शोर सुनते थे पहलू मे दिल का
जो चीरा तो इक कतरए खूँ न निकला।

० ० ०

जमीने चमन गुल खिलाती है क्या-क्या,
बदलता है रग आसमाँ कैसे-कैसे।

० ० ०

न ज़ोरे सिकन्दर न है कब्र दारा,
मिटे नामियो के निशां कैसे-कैसे।

o o o

अब तो घबरा के ये कहते हैं कि मर जाएँगे,
मर के भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे।

o o •

हज़रते दाग जहाँ बैठ गये बैठ गये
और होगे तेरी महफिल से उभरनेवाले।

इस तरह की पंक्तियां बोलचाल मे इस तरह आती हैं कि उन्हे हिन्दुस्तानी (खडी बोली) बोलनेवाली जनता की सास्कृतिक परम्परा का एक अग कहा जा सकता है।

हाली से पहले की उर्दू कविता की देन इतनी ही नही है। हाली से पहले भी बहुत-से कवियो ने रीतिकालीन परम्परा से बँधे न रहकर अपना नया रास्ता बनाया था। इन कवियो मे गालिब का नाम सबसे पहले आता है जिनके व्यक्तित्व की छाप उनकी रचनाओ पर इस तरह पडी है जिस तरह अपने व्यक्तित्व की छाप डालना किसी भी रीतिकालीन कवि के लिए मुमकिन नहीं है। गालिब ने अपने जीवन के बारे मे बडे दर्द से लिखा है। इस तरह का दर्द दूसरो की रचनाओ की नकल करने से नही पैदा होता। इटली के महान् कवि दान्ते ने जिस तरह अपने जीवन की अपार वेदना अपने महाकाव्य मे उडेल दी थी, उसी तरह गालिब के शेर उस जमाने के वातावरण के प्रति क्षोभ, ग्लानि और वेदना मे डूबे हुए हैं।

गालिब के जमाने मे बहुत-से लोग इल्म की शायरी करते थे। वे फारसी साहित्य की उपमाएँ और रूपक लेकर अपनी रचनाओ को सँवारने की कोशिश करते थे। इन सब मे फारसी साहित्य से प्रभावित होते हुए भी गालिब एक महान् प्रतिभाशाली कवि के रूप मे हमारे सामने आते हैं।

गालिब की पचीसो पंक्तियां साधारण बोलचाल मे बराबर उद्धृत की जाती है। मिसाल के लिए—

हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन,
दिल के खुश करने को गालिब य' खयाल अच्छा है।

o o o

उनको देखे से जा आ जाती है मुंह पर रौनक,
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

o • o

कर्ज की पीते थे मय लेकिन समझते थे कि हां,
रग लायेगी हमारी फाकामस्ती एक दिन।

o o •

रगो मे दौडने फिरने के हम नही कायल,
जो आँख ही से न टपका तो फिर लहू क्या है।

० ० ०

न था कुछ तो खुदा था कुछ न होता तो खुदा होता,
डुबोया मुझको होने ने न होता मैं ता क्या होता।

० ० ०

मुश्किलें मुझ पर पडी इतनी कि आसाँ हो गई।

० ० ०

दर्द का हद स गुजरना है दवा हो जाना।

० ० ०

है कुछ ऐसी ही बात जो चुप हूँ,
वरना क्या बात कर नही आती।

अनेक हिन्दी लेखको की रचनाग्रो म गालिब के शेर उद्धृत किय जाते हैं। *उग्रजी की शायद ही कोई पुस्तक, शायद ही कोई लेख हो जिसम गालिब के* शेर उद्धृत न किये गये हो। निरालाजी ने जहाँ-तहाँ गालिब के शेर उद्धृत ही नही किये, उन पर 'प्रबन्ध पद्य' मे लिखा भी है। गालिब की रचनाएँ किस तरह हिन्दी लेखको की सास्कृतिक परम्परा बन गई हैं, इसकी एक मिसाल निरालाजी के जीवन मे मिलती है। निरालाजी को अपने जीवन मे जो मुसीबतें उठानी पडी हैं, जो अपमान सहने पडे हैं और जिस तरह विरोधियो के मुकाबले म अपने आत्मविश्वास को अडिग रखना पडा है, उससे गालिब की रचनाग्रो से उन्हें एक आन्तरिक सहानुभूति पैदा हो गई थी। मैंने उन्ह पचीसो बार इन पक्तियो को गाते सुना है और आखिरी बार अभी पिछले साल बनारस म जब वह काफी अस्वस्थ थे, उन्हें फिर गालिब के शेर गुनगुनाते सुनकर काफी ताज्जुब भी हुआ कि इनके मन की दुनिया में और बहुत-से उलटफेर हुए, लेकिन गालिब, रवीन्द्रनाथ और तुलसीदास—ये तीन महाकवि अपनी जगह अब भी कायम है।

रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो,
हमसखुन कोई न हो और हमजबाँ कोई न हो।
बेदरो दीवार-सा इक घर बनाना चाहिए,
कोई हमसाया न हो और पासबाँ कोई न हो।
पडिये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार
और अगर मर जाइये तो नौहख्वाँ कोई न हो।

जब श्री पुरुषोत्तमदास टडन उर्दू की सास्कृतिक परम्परा को विदेशी और राष्ट्र-विरोधी कहकर उस पर हमला करते हैं, तब हम यह सोचने पर मजबूर होते हैं कि हिन्दी की सास्कृतिक परम्परा को 'निराला' की देन महान् है या श्री टडन की। निराला की देन महान् है और इसीलिए महान् है

कि उनके हृदय मे वह सकीण साम्प्रदायिकता नही थी जिसका परिचय श्री टडन ने बार बार दिया है। सकीर्ण हृदय स महान् सास्कृतिक परम्परा का कोई सम्बन्ध नही हो सकता।

गालिब के बाद पुरानी उर्दू कविता के दूसरे महान् रचनाकार मीर हैं। मीर की बहुत सी रचनाम्रो मे रीतिकालीन परम्परा स साफ नाता टूटा हुम्रा दखाई देता है। कौन सा रीतकालीन कवि अपने घर का इस यथार्थ ढग स विर्णन करेगा।—

लोनी लग लग के झडती है माटी,
म्राह क्या उम्र बेमजा काटी।
झाड बाँधा है मेह ने दिन रात,
घर की दीवारें हैंगी जैसे पात।
बाउ म काँपते हैं जो थरथर,
उन पै रहा रखे कोई क्योकर।

मीर की भी अनेक पक्तियाँ कहावतो का दर्जा पा चुकी है, जैस ये—

शाम से कुछ बुझा सा रहता है,
दिल हुम्रा है चिराग मुफलिस का।

हाली स पहले जिन लोगो ने रीतिकालीन परम्परा स नाता तोडा, उनमे नज़ीर का नाम महत्वपूर्ण है। नज़ीर के काव्य मे लोक-गीता, कहावतो और लाक-सस्कृति को जो स्थान दिया गया है उससे म्राज भी हम बहुत कुछ सीख सकत हैं। नज़ीर जनता के कवि थ। इन्होने म्राम जनता की जिन्दगी के बारे म बडी सजीव रचनाएँ की हैं। इनकी भाषा के बारे मे श्री व्रजरत्नदास ने लिखा है

'इनकी भाषा दशी थी और उसे विलायती बनाने का कभी इन्होने प्रयत्न नही किया। इनका चलती भाषा पर पूरा अधिकार था और फारसी तथा अरबी के कोशो से चुन चुनकर अपनी भाषा को लद्दू बनाने की म्रावश्यकता नही पडी। जैसा विषय चुना, वैसी ही भाषा ली और वैसे ही वास्तविकता स उसका चित्रण भी कर डाला।

(उर्दू साहित्य का इतिहास, बनारस, स० १९९१, पृ० १८२)

नजीर की बहुत सी रचनाम्रा पर सूफीपन का रग है। दरअसल उनकी कविता की जड़ें उस जमाने के समाज में दूर तक चली गई थी। वह म्रादश वादी कवियो की तरह गरीबी का गुणगान नही करते बल्कि इन्सान की वे मुसीबतें बयान करते हैं जो गरीबी के सबब से उस पर म्राती हैं। लिखा है—

जब म्रादमी के हाल पै म्राती है मुफलिसी,
किस किस तरह से उसको सताती है मुफलिसी
प्यासा तमाम रोज बिठाती है मुफलिसी

भूखा तमाम रात सुलाती है मुफलिसी,
ये दुख वो जाने जिस पै कि आती है मुफलिसी।

उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे देश के अन्दर नई राष्ट्रीय चेतना विकसित होने लगी। हिन्दी-साहित्य मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किस तरह देशभक्तिपूर्ण कविताओ की परम्परा चलाई, इसे सभी लोग जानते हैं। उस समय की राष्ट्रीय चेतना पर पुनरुत्थानवाद का भी रग चढा हुआ था। भारतेन्दु बाबू ने आर्य जाति के प्राचीन गौरव के गीत गाये। हाली ने मुसलमानो के बीते वैभव के स्वप्न देखे। फिर भी हाली और भारतेन्दु—दोनो ने ही यह अनुभव कर लिया था कि देश की उन्नति हिन्दू-मुसलमानो के मेल से और उनकी मिली-जुली राष्ट्रीय चेतना से ही हो सकती है। हाली ने देश पर लिखा था—

ऐ वतन ऐ मेरे बहिश्ते बरी
क्या हुए तेरे आसमाँ औ जमी
रात और दिन का वो समाँ न रहा
वो जमी और वो आसमाँ न रहा।

हिन्दू मुस्लिम-एकता पर लिखा था—

तुम अगर चाहत हो मुल्क की खैर,
न किसी हमवतन को समझो गैर।
हो मुसल्माँ इसमे या हिन्दू
बौद्ध मजहब हो कि या ब्राह्मो,
सबको मीठी निगाह से देखो।
समझो आँखो की पुतलियाँ सबको।
हिन्द मे इत्तफाक होता अगर
खाते गैरो की ठोकरें क्योकर ?

आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भ-काल मे जैसे सामाजिक कुरीतियो पर बहुत सी रचनाएँ की गईं, उसी तरह उर्दू-साहित्य मे भी समाज-सुधार पर बहुत-सी चीजें लिखी गईं। बीसवी सदी मे आकर साहित्य का मतलब मुख्य रूप से कविता नही रहता; उसके दूसरे रूप कहानी, उपन्यास आलोचना वगैरह भी फलने-फूलने लगते हैं। इस नए जमाने का हिन्दी-उर्दू साहित्य और भी नजदीकी सास्कृतिक परम्पराएँ बनाता हुआ चलता है।

हिन्दी उपन्यासो मे देवकीनन्दन खत्री के ऐयारी उपन्यासो के बाद हम प्रेमचन्द के सामाजिक समस्याओ वाले उपन्यासो तक पहुँचते है। उर्दू मे प० रतननाथ सरशार के 'फिसान-ए-आजाद' मे आगे बढते हुए हम फिर प्रेमचन्द तक पहुँचते हैं। प्रेमचन्द ने उर्दू और हिन्दी मे सामाजिक समस्याओ वाले उपन्यासो की नीव डाली। प्रेमचन्द ने हिन्दी-उर्दू की सास्कृतिक परम्पराओ का मिलकर एक होना साहित्य की बडी महत्वपूर्ण घटना है। उससे जाहिर होता है कि सास्कृतिक परम्परा की जडें सामन्ती साहित्य से ज्यादा मौजूदा सामाजिक

ज़िन्दगी मे धँसी होती हैं। प्रेमचन्द के ज़माने मे एक नई परम्परा गढ़ी जा रही थी जिसके तत्व इस्लाम या हिन्दू-धर्म से न लिये जाकर देश के सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनो से, समाज की नई प्रगति से, वर्गों के नये सम्बन्धो से लिये जा रहे थे। प्रेमचन्द ने हिन्दी और उर्दू मे जो नई परम्परा डाली, वह गुणात्मक रूप से साहित्य की पुरानी परम्परा से भिन्न थी। वह दाग, जौक, बिहारी, पद्माकर की परम्परा से ही भिन्न न थी, वह हाली और भारतेन्दु की परम्परा से भी काफी अलग थी। प्रेमचन्द साहित्य के विकास की वह मंजिल थे जो अपने मे सुधारवादी राष्ट्रीयता खत्म करके नये प्रगतिशील साहित्य की तरफ इशारा करती है।

प्रेमचन्द एक नई परम्परा को इसलिए जन्म दे सके कि हमारे समाज मे नये परिवर्तन हो रहे थे, उसमे नई आशाएँ, नये उद्देश्य लेकर नये आन्दोलन चल रहे थे।

हिन्दी-उर्दू साहित्य मे प्रेमचन्द की परम्परा इस बात का सबसे बड़ा सबूत है कि सस्कृति रचने का काम मनुष्य का सामाजिक जीवन करता है। यह सामाजिक जीवन बदलता रहता है, इसलिए सस्कृति की धारा भी बदलती रहती है। सामाजिक जीवन के मुकाबले मे धर्म-सम्प्रदाय, मत मतान्तरो के सस्कार बहुत ही कमजोर साबित होते हैं, और सस्कृति पर उनका असर कम-से कम होता जाता है।

प्रेमचन्द खुद इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते थे कि सामन्त-काल की सास्कृतिक परम्परा खत्म हो रही है और नये ज़माने की एक नई परम्परा कायम हो रही है। वह जानते थे कि दोनो के उद्देश्य, दोनो के साहित्यिक रूप, दोनो के सौन्दर्य-सम्बन्धी मानदण्ड अलग-अलग हैं।

पुरानी साहित्यिक परम्परा के बारे में उन्होने लिखा था—

"हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमे मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसान-ए-अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख़याल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरजन था और हमारे अद्भुत रस—प्रेम की तृप्ति···

"क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता मे दोनों की एक ही हालत थी···ऐसे पतन के काल मे लोग या तो आशिकी करते हैं या अध्यात्म और वैराग्य मे मन रमाते हैं।

"कला का नाम था और अब भी है, सकुचित रूप-पूजा का, शब्द योजना का, भाव-निबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नही है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नही है—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नही कि जीवन-सग्राम में वह सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे।"

(लखनऊ, प्रगतिशील लेखक सम्मेलन में सभापति पद से दिये गये भाषण से)

इस परम्परा को प्रेमचन्द खत्म कर रहे थे। उन्होंने माफ़ माँग की थी कि साहित्य के पुराने मानदण्डों को बदला जाय। उन्होंने कहा था—

"हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था·· उसकी निगाह अन्तःपुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोपड़े और खँडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी उनकी चर्चा करता भी था तो उनका मजाक उड़ाने के लिए।" (उप०)

प्रेमचन्द का हर शब्द उनके सच्चे जनवादी हृदय से निकला है, जो समाज के नये विकास के लिए, साहित्य की परम्परा बदलने के लिए ज़ोर से ललकारता है।

"यदि साहित्य ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों हलचलों और क्रान्तियों से बेखबर हो जो समाज में हो रही हैं—*अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो तो इस दुनिया* में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है।" (उप०)

प्रेमचन्द के ये प्रभावशाली शब्द—उनके हृदय के ये सच्चे उद्‌गार—बतलाते हैं कि *साहित्य की जो परम्परा धार्मिक अन्धविश्वासों साम्प्रदायिक विद्वेष* और भेदभाव, सामन्ती रूढ़ियों और प्राचीनतावाद को अपना आधार बनाती है, वह खत्म हो जाती है। साहित्य की वह परम्परा जो समाज के गतिशील जीवन को, उसके क्रान्तिकारी वर्ग को, जनता के संघर्ष को अपना आधार बनाती है, वह जीवित रहती है और वही परम्परा जीवित रह सकती है। प्रेमचन्द ने हिन्दी-उर्दू में इसी परम्परा को जन्म दिया था।

कुछ लोगों के मन में शंका पैदा हो सकती है कि प्रेमचन्द ने तो यह सब काम हिन्दी में किया था, उसका जिक्र उर्दू साहित्य के सिलसिले में क्यों किया जा रहा है ? ऐसे पाठकों की सेवा में प्रेमचन्द के ये शब्द अर्पित हैं—

'मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुजरा है और आज भी मैं जितनी उर्दू लिखता हूँ, उतनी हिन्दी नहीं लिखता।"

(प्रेमचन्द कुछ विचार, पृ० १६१)

हिन्दी-उर्दू के लिखनेवालों का सामाजिक वातावरण आम तौर से एक-सा रहा है, इसलिए उनकी साहित्यिक परम्परा के उतार-चढ़ाव उसके मोड़ और नई दिशा में प्रवाह भी मिलते-जुलते रहे हैं। हिन्दी में रीतिकालीन परम्परा का विरोध किया गया। उर्दू में भी उस परम्परा का विरोध किया गया। हिन्दी में राष्ट्रीय कविता का युग आया, चकबस्त और इकबाल यह युग उर्दू कविता में भी लाये।

हिन्दी-कविता में छायावाद के नाम से नई रोमांटिक कविता का युग

आया। इस तरह की रोमांटिक कविता का युग उर्दू में भी आया।

गुलज़ार में कोयल की सदा गूँज रही है,
कोहसार में पुरशोर हवा गूँज रही है,
कुनबुल में जुनूँखेज़ फ़ज़ा गूँज रही है,
मैदान में घनघोर घटा गूँज रही है,
बरसात है, बरसात है, बरसात है,
बरसात !

छायावादी कविता के उत्तरकाल में जैसे हिन्दी में कुछ कवियों ने निराशा, ऊब और अकेलेपन के गीत गाये, वैसे ही उर्दू में—

शहर की रात और मैं नाशाद ओ नाकारा फिरूँ,
जगमगाती जागती सड़कों पै आवारा फिरूँ,
ग़ैर की बस्ती है कब तक दरबदर मारा फिरूँ,
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ।
यह रुपहली छाँव यह आकाश पर तारों का जाल,
जैसे सूफ़ी का तसव्वुर, जैसे आशिक का ख़याल,
आह लेकिन कौन जाने कौन समझे जी का हाल,
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ।

हिन्दी में जैसे कुछ कवियों ने प्राचीनतावाद को ऐसा साधन बनाया है कि साहित्य का पानी उतर जाय, उसी तरह उर्दू में भी अलगाव और फूट पैदा करनेवाले, इस्लाम से उर्दू का नाता जोड़नेवाले, मुसलमानों को अलग जाति और उर्दू को अरब और ईरान की संस्कृति से मिलानेवाले शायर भी हुए हैं। लेकिन उनकी वजह से उर्दू साहित्य को साम्प्रदायिक समझना उतनी ही बड़ी अक्लमन्दी होगी, जितनी किप्लिंग की वजह से अंग्रेज़ी साहित्य को साम्राज्यवादी समझना।

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का कहना है कि उर्दूवाले राम, कृष्ण, अर्जुन वग़ैरह का नाम लेना अपनी संस्कृति के ख़िलाफ़ समझते हैं। अगर ऐसा है तो नज़ीर ने 'कन्हैया का बालपन' क्यों लिखा ? और लिखा तो ऐसों को जाति-बाहर क्यों नहीं कर दिया गया ? नज़ीर ने लिखा है—

यारो सुनो ये दधि के लुटैया का बालपन,
औ मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन,
मोहन-स्वरूप नृत्य करैया का बालपन,
बन-बन के ग्वाल गौएँ चरैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन।

नज़ीर ने दीवाली पर लिखा था—

हर इक मकान में जला फिर दिया दिवाली का,
हर इक तरफ़ को उजाला हुआ दिवाली का,

सभी के दिल मे समा भा गया दिवाली का,
किसी के दिल को मज़ा खुश लगा दिवाली का,
अजब बहार का है दिन बना दिवाली का।

होली पर दूसरे सुर-ताल मे लिखा था—

जब फागुन रंग झमकते हो तब देख बहारें होली की,
और डफ के शोर खडकते हो तब देख बहारें होली की।

नये युग के कवियो मे सागर निज़ामी ने कृष्ण के बाँसुरी बजाने इत्यादि पर लिखा है—

अय गोपाल झूमकर बसरी बजाओ फिर।
बसरी के कैफ से दिल को गुदगुदाओ फिर,
प्रेम और प्रीति की, रीति को जगाओ फिर

o o o

खुद ही तुम कमल बनो, खुद ही मुसकराओ फिर,
बूयगुल के रूप मे, सबके पास जाओ फिर,
बसरी बजाओ फिर दो जहाँ पँ छाओ फिर,
अय गोपाल झूमकर बसरी बजाओ फिर।

यहाँ पर अकबर इलाहाबादी का ज़िक्र करना उचित होगा, जिनके ढेरों शेर अनेक हिन्दी लेखकों की रचनाओं मे उद्धृत किये हुए मिलेंगे। उनके बहुत-से शेर कहावतो का दर्जा पा गये हैं—

खीचो न कमानो को न तलवार निकालो,
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।

o o o

कौम के गम मे डिनर खाते है हुक्काम के साथ,
रज लीडर को बहुत है मगर आराम के साथ।

अकबर की नज़र अक्सर धार्मिक आस्था और पुरानी तहज़ीब पर रहती है। वह अग्रेज़ियत के खिलाफ हैं लेकिन उसके बदले एक नई जनवादी संस्कृति का नक्शा उनके सामने नही है। उनके ज़माने की सीमाएँ भी थी। फिर भी प्राचीनतावादियो पर कैसा व्यंग्य किया है !—

पेट मसरूफ है किलर्की मे
दिल है ईरान और टर्की मे।

प्राचीनतावाद और कट्टरतावाद के खिलाफ बहुत-से उर्दू कवियो ने लिखा है। यही सबब है कि वह अपने यहाँ एक जनवादी और प्रगतिशील परम्परा कायम कर सके हैं।

मुस्लिम प्राचीनतावादियो पर व्यग्य करते हुए जोश ने लिखा है—

आ ही नही सकता मेरे मुँह लालाए बुज़दिल। (यानी बुज़दिल लाला मेरी बराबरी नही कर सकता।)

मैं पाक, वो नापाक, मैं गोरा हूँ, वो काला,
क्या उसका मेरा जिक्र, वो देशी मैं विदेशी,
मैं मिस्र की मस्जिद, वो बनारस का शिवाला,
गगा की हर इक लहर म गलीदा है पस्ती,
दजले की हर एक मौज मे रक्सां है हिमाला।

(प्राचीनतावादी मौलाना फर्माते हैं कि गगा की लहरो मे पस्ती है और दजला की मौजो मे हिमालय का नज्जारा है!)

जोश ने लिखा है कि शैतान मौलवी को यो फँसा लेता है—

यही कह कह के राह करता है गुम
कि खुदा के हो खानदान से तुम।

प्राचीनतावाद के विरोध के फलस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम-एकता पर उर्दू कवियो ने बहुत सुन्दर रचनाएँ की हैं।

इकबाल ने लिखा था—

आ गैरियत के पर्दे इक बार फिर उठा दें,
बिछुडो को फिर मिला दें, नक्शे दुई मिटा दें।
सूनी पडी हुई है मुद्दत से दिल की बस्ती
आ इक नया शिवाला, इस देश मे बसा दें।
दुनिया के तीरथो मे ऊँचा हो अपना तीरथ,
दामाने आसमां मे उसका कलस मिला दें।
हर सुबह उठके गाएँ मतर वो मीठे-मीठे,
सारे पुजारियो को मय पीत की पिला दें।
शक्ती भी शान्ती भी भक्तो के गीत मे है
धरती के बासियो की मुक्ती पिरीत मे है।

यह याद रखना चाहिए कि हिन्दू-मुस्लिम-एकता की अडिग और पक्की नीव जनतत्र ही है, भावुकता के आधार पर कायम की हुई एकता, सिर्फ ईश्वर-अल्ला का नाम लेकर कायम की हुई एकता टिकाऊ नही हो सकती। बहुत काग्रेसी नेता एकता का दम भरते थे, आज वे प्राचीनतावाद और हिन्दू सम्प्रदायवाद के भक्त नजर आते है। कारण यह है कि किसान मजदूरो के आन्दोलन का विरोध करके, उनके सघर्ष को अपने लिए काल समझकर कोई भी एकता का हिमायती नही हो सकता। उसे एकता अपने लिए एक खतरा मालूम होने लगती है। इकबाल भी इस एकता को छोडकर सम्प्रदायवाद की तरफ झुक गये थे।

उर्दू मे अग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ बहुत काफी और बहुत जोरदार कविताएँ लिखी गई हैं। इन पर एक नजर डालने से ही जाहिर हो जाता है कि यह आरोप कितना झूठा है कि उर्दू के कवियो को अपने देश से प्रेम नही है। जोश ने खास तौर से साम्राज्य विरोधी आन्दोलन पर बहुत सुन्दर पक्तियाँ

लिखी हैं।

लन्दन मे बादशाह सलामत के राजगद्दी पाने पर जोश ने हिन्दुस्तान के बारे मे लिखा था—

किश्वरे हिन्दोस्तॉं मे रात को हगामे नाव,
करवटें रह-रह के लेता है फज़ा मे इनक्लाब,
गर्म है सोज़े बगावत से जवानों का दिमाग,
आँधियाँ आने को है ऐ बादशाही के चिराग
o o o
आपके ऐवान मे रक्सां हैं लपटें ऊद की,
हिन्दियो की सॉस से आती है बू बारूद की।

साम्राज्यविरोधी आन्दोलन पर जोश ने लिखा था—

क्या हिन्द का ज़िन्दॉं कॉप रहा है गूँज रही हैं तक्बीरें,
उक्ताए है शायद कुछ कैदी और तोड रहे हैं जंजीरें।
o o o
क्या उनको खबर थी, ओठों पर जो कुफ्ल लगाया करते थे,
एक रोज़ इसी खामोशी से टपकेंगी दहकती तक्रीरें,
सँभलो कि वो ज़िन्दॉं गूँज उठा, झपटो कि वो कैदी छूट गये,
उठठो कि वो बैठी दीवारें, दौडो कि वो टूटी जंजीरें।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के फर्जन्दो से कहा था—

इक कहानी वक्त लिक्खेगा नये मजमून की
जिसकी सुर्खी को जरूरत है तुम्हारे खून की।

जोश का साम्राज्य-विरोध १५ अगस्त, सन् '४७ के बाद गुमराह हो गया है। आजकल वह 'आजकल' के सपादक है। वह उन लोगो मे है जो अपनी जनता का साथ छोडकर उस दल के साथ जा मिले हैं जो हिन्दुस्तान को साम्राज्यवादी खेमे के साथ बॉधे हुए है।

३

उर्दू पर यह दोष लगाया जाता है कि उसमे फारसी की दस पॉच बहरें ही काम मे लाई जाती है और हिन्दी के हजारो छन्दो के भण्डार को अछूता छोड दिया गया है।

यहाँ पर पहले तो यह याद रखना चाहिए कि उर्दू की बहरें अब सिर्फ उर्दू तक सीमित नही रही। हिन्दी मे बहुत-से कवियो ने उन्हे अपना लिया है और उनमे बरोक रचनाएँ करते है। इस तरह की रचनाएँ वे कवि भी करते है, जो प्राचीनतावाद के उपासक हैं, जैसे दिनकर।

धुँधली हुई दिशाएँ, छाने लगा कुहासा,
कुचली हुई शिखा से, आने लगा धुआँ सा,

कोई मुझे बता दे, क्या आज हो रहा है,
मुंह को छिपा तिमिर मे, क्यो तेज रो रहा है।

इसके अलावा फ़ारसी की बहरो और हिन्दी के छन्दो म उतना फर्क नही है जितना कुछ लोग समझते हैं। श्री हरिशकर शर्मा ने अपने 'उर्दू साहित्य के इतिहास' (पृ० १६) मे लिखा है—"उर्दू म इस्तेमाल होनेवाले कुछ छन्दो के नाम ये हैं—सुमेरु, विधाता, विहारी, शास्त्र, पीयूषवर्षा, भुजगप्रयात, सरारी, हरिगीतिका, आनन्दवर्द्धक, दिग्पाल, भुजगी, चौपाई आदि। इसस यह तो जाहिर ही होता है कि छन्दों के लिहाज से हिन्दी-उर्दू की सास्कृतिक परम्पराओ के बीच कोई गहरी न पट सकनेवाली खाई नहीं है।

छायावादी कवियो ने—खासकर निरालाजी ने—जिस तरह मुक्तछन्द लिखने की प्रथा डाली थी, उसी तरह उर्दू मे बहुत से कवियो ने भी मुक्तछन्द मे रचनाएँ की। लेकिन जो चीज हिन्दी उर्दू कवियो को सबसे ज्यादा नजदीक लाती है, वह उनके गीत हैं। उर्दू कवि एक अरसे से गीत लिखते आये हैं। प्रगतिशील कवियो ने जो गीत लिखे हैं वे रोमांटिक गीतो के तग दायरे से निकलकर आम जनता के गले मे रम चुके हैं। ऐसे गीत एक दो नही, सैंकडो हैं। उर्दू साहित्य का यह पहलू उसका सबसे लोकप्रिय और जनवादी रूप हमारे सामने लाता है। इन गीतो की सास्कृतिक परम्परा एक ऐसी शक्तिशाली और प्रगतिशील परम्परा है जो हिन्दी-उर्दू के बाकी भेदभाव को दूर करने मे बहुत बडी मदद करेगी। इन गीतो को देखने से पता चलता है कि जब हम जनता के सघर्ष, उसकी मुसीबतों, आशाओ और आदर्शों का लेकर साहित्य रचते हैं तब प्राचीनतावाद के तमाम अलगाव पैदा करनवाले रूप आप स आप खत्म हो जाते हैं। हमारी जनता की सस्कृति एक है। हमारा साहित्य जितना ही जनता के नजदीक आता है, उतना ही उसकी सास्कृतिक परम्परा प्राचीनता से मुँह मोडकर अपने लिये मौजूदा जमाने स तत्व चुनती है। जनता की यह सबल सास्कृतिक परम्परा पुरान जमाने की सस्कृति से सिर्फ व चीजें लती है जो उसमे धार्मिक अन्धविश्वास और भेदभाव पैदा करने के बदले उसे एकता, आजादी और जनतत्र के नजदीक ले जाती हैं और जनवादी भावनाओ का मजबूत करती हैं।

उर्दू के कवियो ने हमारे जन-आन्दोलन को जो गीत दिये हैं उनम मखदूम मुहीउद्दीन का गीत—'यह जग है जगे आजादी आजादी के परचम के तले' मजदूर वर्ग का अपना गीत है। बगाल के अकाल पर वामिक का यह गीत लोकप्रिय हो चुका है—

पूरब देस म डुग्गी बाजी फैला दुख का जाल,
दुख की अगनी कौन बुझाये सूख गये सब ताल,
जिन हाथो ने मोती रोले आज वही कगाल,
रे साथी आज वही कगाल।

भूखा है बंगाल !

भूखा है बंगाल रे साथी, भूखा है बंगाल !

इसी तरह मजाज़ का गीत 'बोल अरी ओ धरती, बोल, राजसिंहासन डाँवाडोल' अली सरदार जाफरी के कई गीत, प्रेम धवन का 'अरे अब भागो, लन्दन जाओ' उर्दू मे एक ऐसी परम्परा की नीव डाल चुके हैं जिसे हम हिन्दी-उर्दू की मिली-जुली परम्परा कह सकते है।

आधुनिक उर्दू कविता उन तमाम रूपकों और कल्पनाओं से पीछा छुडा चुकी है जिन्हे श्री रघुपतिसहाय फिराक ने 'सदा बहार और सदा सोहाग' कहा था। उन्होने भारतेन्दु से लेकर निराला तक हिन्दी-साहित्य के तमाम विकास पर जो बुहारी फेर दी थी, उससे हिन्दी को उर्दू के नजदीक लाने मे मदद न मिल सकती थी। इसके अलावा हिन्दी के तमाम विकास पर कीचड उछालने के बाद उन्होने आदर्श रूप से जो शेर पेश किये थे और पुराने रूपकों के शाश्वत सौन्दर्य की जो व्याख्या की थी, वह एक प्रतिक्रियावादी काम था, जिसका विरोध करना जरूरी था। पुराने रूपकों और प्राचीनतावाद का विरोध जिस तरह उर्दू के नये कवियो ने—खास तौर से प्रगतिशील कवियो ने—किया है, उसके लिए उनकी जितनी तारीफ की जाय, थोडी है। इस सिलसिले मे मिब्ते हसन का लेख विशेष ध्यान देने योग्य है जिसमे उन्होने इकबाल की जनतन्त्र-विरोधी धारणाओं की आलोचना की थी। यह लेख 'नया अदब' मे छपा था (जब 'नया अदब' लखनऊ से निकलता था)। जिस तरह हिन्दी की प्रगतिशील कविता पर यह तोहमत लगाई जाती है कि उसने प्राचीन संस्कृति से नाता तोड लिया है, वह छिछली राजनीतिक और प्रचारात्मक हो गई है वगैरह, उसी तरह उर्दू की प्रगतिशील कविता पर भी आरोप लगाए जाते रहे है। इनका जवाब देते हुए एहतेशाम हुसेन ने बहुत-कुछ लिखा है और उन्होंने उर्दू मे नई तरह की आलोचना को आगे बढाया है। उर्दू की आलोचना, उसके नाटक, कहानियाँ, उपन्यास आज उसी तरह नये रास्ते पर चल रहे हैं जिस तरह हिन्दी-साहित्य के ये रूप। उपन्यासो और कहानियो का सम्बन्ध अवाम की जिन्दगी से होता है, इसलिए इनमे प्राचीन रूपको, अलकारो वगैरह का असर नही के बराबर होता है। हिन्दी के बहुत से पाठक 'हस' मे कृशनचन्दर की कहानियाँ, स्केच पढ चुके होगे। खास तौर से रुद्रदत्त भारद्वाज पर उनका स्केच, 'तीन गुडे' नाम की कहानी यह जाहिर करती है कि उर्दू-साहित्य मौजूदा जिन्दगी से अपनी विषयवस्तु चुनकर एक मिली-जुली जनवादी परम्परा गढ रहा है।

उर्दू की नई कविता मे पुरानी व्यवस्था का विरोध और जनतन्त्र की तरफ बढने की ख्वाहिश पग-पग पर मिलती है। उर्दू कविता मे देश-विदेश की महत्वपूर्ण घटनाओं, जन आन्दोलनो की गहरी छाप है। रूस पर हिटलरी हमला, लाल फौज का वीरतापूर्ण सग्राम, बर्लिन की जीत, हिन्दुस्तान म क्रिप्स-

मिशन का आना, देश का बँटवारा, साम्प्रदायिक दंगे, गांधीजी की हत्या, आजाद हिन्दुस्तान में जनता के आन्दोलनों का दमन, नये जन संघर्ष, इन सभी की तसवीरें उर्दू कविता में मिलेंगी। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा को आज वही घटना-क्रम, वही सामाजिक परिस्थितियाँ, वही जन-संघर्ष रच रहे हैं जो हिन्दी की सांस्कृतिक परम्परा रच रहे हैं। (१९४९)

९

भारत की भाषा-समस्या

भाषा-समस्या का सामान्य महत्व

भाषा-समस्या मजदूर वर्ग, उसकी पार्टी, तमाम श्रमिक जनता और प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि लेनिन के शब्दों में, "भाषा मानवीय सम्पर्क का सबसे महत्वपूर्ण साधन है" (जातियों के आत्मनिर्णय का अधिकार)।

भाषा-समस्या का महत्व सामाजिक विकास की मंजिलों में अलग-अलग होता है।

पूंजीवाद से पहले सामन्ती और कबीलाई सामाजिक सम्बन्ध विभिन्न जनसमूहों को एक ही जाति (नेशन) में संगठित होने से रोकते हैं, इसलिए वे आधुनिक भाषाओं के विकास में भी बाधा डालते हैं। वस्तुगत रूप से पूंजीवाद किसी जाति के गठन में प्रगतिशील भूमिका पूरी करता है, इस तरह वह आधुनिक भाषाओं के विकास में भी प्रगतिशील भूमिका पूरी करता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जातीय समस्या और भाषा-समस्या में बड़ा गहरा सम्बन्ध है, किसी जाति के सामाजिक विकास तथा उस विकास के सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब में गहरा सम्बन्ध है। यह सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब सामाजिक विकास को भी प्रभावित करता है।

लेनिन के अनुसार "समस्त संसार में सामन्तवाद पर पूंजीवाद की अन्तिम विजय का युग जातीय आन्दोलनों के साथ जुड़ा रहा है। इन आन्दोलनों का आर्थिक आधार यह है कि बिकाऊ माल की पैदावार को पूर्ण विजयी बनाने के लिए पूंजीपतियों के हाथ में घरेलू बाजार आ जाना चाहिए, उनके अधिकार में राजनीतिक रूप से एकताबद्ध प्रदेश होने चाहिए जहां के लोग एक ही भाषा बोलते हों, इस भाषा के विकास में और साहित्य में उसके व्यवहार को सुनिश्चित करने में जो भी अड़चनें आती हैं, उन्हें दूर करना होता है।"

पूंजीवादी सामाजिक विकास की आवश्यकताएं, बड़े पैमाने पर जातियों के आत्मनिर्णय का अधिकार, व्यापार-सम्बन्ध कायम करने की आवश्यकताएं,

घरेलू बाजार को सुव्यवस्थित करने की आवश्यकताएँ संक्षेप मे यह कि जातीय पैमाने पर पंजीवादी सामाजिक सम्बन्धो के गठन की आवश्यकताएँ भाषा की एकसूत्रता और उसके विकास की प्रक्रिया को आगे बढाती हैं। भाषा की एकता और विकास के बिना आधुनिक जातियो का विकास असम्भव है।

'मार्क्सवाद तथा जातीय और औपनिवेशिक समस्या' नाम की पुस्तक में स्तालिन ने बताया है कि जो जातियाँ पूँजीवादी विकास म पिछड गईं, जिन्हे बहुजातीय पूँजीवादी राष्ट्र मे राज्य बनाने के अधिकार नही मिले, उनका उत्पीडन उन बडी जातियो के पूँजीपतियो ने किया जो पूँजीवादी विकास मे आगे रही थी। जारशाही रूस मे गैर रूसी जातियो की भाषाओ का दमन किया गया। अपनी भाषा का व्यवहार करने के लिए सघर्ष जातीय आन्दोलन का मुख्य अग बन गया। उत्पीडित जाति के पूँजीपति सभी वर्गों को अपने हितो के लिए एकजुट करने का प्रयत्न करते हैं। भाषा-समस्या को लेकर भी उनकी यही नीति रहती है। किन्तु भाषा की समस्या उत्पीडित जाति के मजदूर वर्ग के लिए भी महत्वपूर्ण है। स्तालिन के अनुसार "तातार या यहूदी मजदूर को सभा और भाषाओ मे अपनी भाषा का व्यवहार करने की सुविधा न दी जाय, यदि उसके स्कूल बन्द कर दिए जाएँ तो उसके बौद्धिक विकास की कोई सम्भावना न रहेगी," (मार्क्सवाद तथा जातीय और औपनिवेशिक समस्या)। मजदूर वर्ग के हित मे है कि वह स्कूलो, भाषणो, अखबारो आदि मे अपनी भाषा के व्यवहार के लिए लडे।

स्तालिन ने यह भी बताया है कि उत्पीडन स पूँजीपतियो के लिए यह आसान हो जाता है कि मजदूर वर्ग को यह भुलावा दें कि उसके और पूँजी-पतियो के हित एक हैं। जातीय समस्या मुख्य सामाजिक प्रश्नो से लोगो का ध्यान हटा देती है। भाषा-समस्या से भी पूँजीपति इस प्रकार लाभ उठाते हैं और लोगो को क्रान्ति के रास्ते से हटा देते हैं।

समाजवादी क्रान्ति के बाद जातियो का नया स्वाधीन विकास आरम्भ हुआ। सोवियत सघ मे जातियाँ स्वायत्त सत्ता के अधिकार को व्यवहार मे ला सकें, इसके लिए अपनी भाषा के विकास और व्यवहार का प्रश्न फिर सामने आया। स्कूलो अदालतो, सरकारी सस्थाओ आदि मे अपनी भाषा के व्यवहार के बिना कोई भी जाति सोवियत स्वायत्त शासन को अमली रूप नही दे सकती।

समाजवादी क्रान्ति के बाद भी सोवियत सघ मे पूँजीवाद के अवशेष बने रहे। ये अवशेष इस बात से जाहिर हुए कि जातीय समस्या को लेकर छोटी और बडी दोनों ही तरह की जातियो मे अध-राष्ट्रवाद के रुझान दिखाई दिये। एक तरफ तो सोवियत सघ मे ऐसे लोग थे जो कहते थे कि उक्रैनी नाम की कोई जाति ही नही है; इन लोगो का विचार था कि बोल्शेविक पार्टी कृत्रिम रूप से इस जाति को गढकर खडा कर रही है। दूसरी तरफ ऐसे लोग थे जो कहते थे कि समाजवाद की जीत के बाद सब जातियाँ मिलकर एक हो जायेंगी,

भारत की

९

भारत की भाषा-समस्या

भाषा-समस्या का सामान्य महत्व

भाषा-समस्या मजदूर वर्ग, उसकी पार्टी, तमाम श्रमिक जनता और प्रगतिशील बुद्धिजीवियो के लिए महत्वपूर्ण है क्योकि लेनिन के शब्दो मे, "भाषा मानवीय सम्पर्क का सबसे महत्वपूर्ण साधन है" (जातियो के आत्मनिर्णय का अधिकार)।

भाषा-समस्या का महत्व सामाजिक विकास की मजिलो मे अलग-अलग होता है।

पूंजीवाद से पहले सामन्ती और कबीलाई सामाजिक सम्बन्ध विभिन्न जनसमूहो को एक ही जाति (नेशन) मे सगठित होने से रोकते हैं, इसलिए वे आधुनिक भाषाओ के विकास मे भी बाधा डालते हैं। वस्तुगत रूप स पूंजीवाद किसी जाति के गठन मे प्रगतिशील भूमिका पूरी करता है, इस तरह वह आधुनिक भाषाओ के विकास मे भी प्रगतिशील भूमिका पूरी करता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जातीय समस्या और भाषा-समस्या मे बडा गहरा सम्बन्ध है, किसी जाति के सामाजिक विकास तथा उस विकास के सास्कृतिक प्रतिबिम्ब मे गहरा सम्बन्ध है। यह सास्कृतिक प्रतिबिम्ब सामाजिक विकास को भी प्रभावित करता है।

लेनिन के अनुसार "समस्त ससार मे सामन्तवाद पर पूंजीवाद की अन्तिम विजय का युग जातीय आन्दोलनो के साथ जुडा रहा है। इन आन्दोलनो का आर्थिक आधार यह है कि बिकाऊ माल की पैदावार को पूर्ण विजयी बनाने के लिए पूंजीपतियो के हाथ मे घरेलू बाजार आ जाना चाहिए, उनके अधिकार मे राजनीतिक रूप से एकताबद्ध प्रदेश होने चाहिए जहां के लोग एक ही *भाषा बोलते हो, इस भाषा के विकास मे और साहित्य मे उसके व्यवहार को* सुनिश्चित करने मे जो भी अडचनें आती हैं, उन्हे दूर करना होता है।"

पूंजीवादी सामाजिक विकास की आवश्यकताएँ, बडे पैमाने पर जातियो के आत्मनिर्णय का अधिकार, व्यापार-सम्बन्ध कायम करने की आवश्यकताएँ,

घरेलू बाजार को सुव्यवस्थित करने की आवश्यकताएँ। संक्षेप में यह कि जातीय पैमाने पर पूँजीवादी सामाजिक सम्बन्धों के गठन की आवश्यकताएँ भाषा की एकसूत्रता और उसके विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाती हैं। भाषा की एकता और विकास के बिना आधुनिक जातियों का विकास असम्भव है।

'मार्क्सवाद तथा जातीय और औपनिवेशिक समस्या' नाम की पुस्तक में स्तालिन ने बताया है कि जो जातियाँ पूँजीवादी विकास में पिछड़ गईं, जिन्हें बहुजातीय पूँजीवादी राष्ट्र में राज्य बनाने के अधिकार नहीं मिले, उनका उत्पीड़न उन बड़ी जातियों के पूँजीपतियों ने किया जो पूँजीवादी विकास में आगे रही थीं। जारशाही रूस में गैर-रूसी जातियों की भाषाओं का दमन किया गया। अपनी भाषा का व्यवहार करने के लिए संघर्ष जातीय आन्दोलन का मुख्य अंग बन गया। उत्पीड़ित जाति के पूँजीपति सभी वर्गों को अपने हितों के लिए एकजुट करने का प्रयत्न करते हैं। भाषा समस्या को लेकर भी उनकी यही नीति रहती है। किन्तु भाषा की समस्या उत्पीड़ित जाति के मजदूर वर्ग के लिए भी महत्वपूर्ण है। स्तालिन के अनुसार "तातार या यहूदी मजदूर को सभा और भाषाओं में अपनी भाषा का व्यवहार करने की सुविधा न दी जाय, यदि उसके स्कूल बन्द कर दिए जाएँ तो उसके बौद्धिक विकास की कोई सम्भावना न रहेगी," (मार्क्सवाद तथा जातीय और औपनिवेशिक समस्या)। मजदूर वर्ग के हित में है कि वह स्कूलों, भाषणों, अखबारों आदि में अपनी भाषा के व्यवहार के लिए लड़े।

स्तालिन ने यह भी बताया है कि उत्पीड़न में पूँजीपतियों के लिए यह आसान हो जाता है कि मजदूर वर्ग को यह भुलावा दें कि उसके और पूँजी-पतियों के हित एक हैं। जातीय समस्या मुख्य सामाजिक प्रश्नों से लोगों का ध्यान हटा देती है। भाषा-समस्या से भी पूँजीपति इस प्रकार लाभ उठाते हैं और लोगों को क्रान्ति के रास्ते से हटा देते हैं।

समाजवादी क्रान्ति के बाद जातियों का नया स्वाधीन विकास आरम्भ हुआ। सोवियत संघ में जातियाँ स्वायत्त सत्ता के अधिकार को व्यवहार में ला सकें, इसके लिए अपनी भाषा के विकास और व्यवहार का प्रश्न फिर सामने आया। स्कूलों, अदालतों, सरकारी संस्थाओं आदि में अपनी भाषा के व्यवहार के बिना कोई भी जाति सोवियत स्वायत्त शासन को असली रूप नहीं दे सकती।

समाजवादी क्रान्ति के बाद भी सोवियत संघ में पूँजीवाद के अवशेष बने रहे। ये अवशेष इस बात से जाहिर हुए कि जातीय समस्या को लेकर छोटी और बड़ी दोनों ही तरह की जातियों में अंध राष्ट्रवाद के रुझान दिखाई दिये। एक तरफ तो सोवियत संघ में ऐसे लोग थे जो कहते थे कि उक्रैनी नाम की कोई जाति ही नहीं है; इन लोगों का विचार था कि बोल्शेविक पार्टी कृत्रिम रूप से इस जाति को गढ़ कर खड़ा कर रही है। दूसरी तरफ ऐसे लोग थे जो कहते थे कि समाजवाद की जीत के बाद सब जातियाँ मिलकर एक हो जाएँगी,

उनकी भाषाएँ आपस म घुल-मिल जाएँगी और सबकी एक ही सामान्य भाषा होगी। गैर रूसी जातियो मे कुछ लोग ऐसे थे जो यह माँग करते थे कि उनकी जाति के मजदूरो की सस्कृति को रूसी मजदूर वर्ग की सस्कृति के प्रभाव से मुक्त रखा जाय। इस प्रकार समाजवादी क्रान्ति के बाद भी विभिन्न रूपो मे अध राष्ट्रवाद का खतरा बना रहा।

मजदूर वर्ग को भाषा-समस्या का दोहरा महत्व समझना चाहिए। मजदूर-वर्ग के अपने राजनीतिक और सास्कृतिक विकास के लिए भाषा-समस्या का महत्व है, साथ ही क्रान्ति के विरुद्ध पूँजीपति वर्ग उसका उपयोग मजदूरो को भटकाने के लिए भी करता है।

पूँजीवाद से पहले के समाज मे मुख्य कर्तव्य यह होता है कि सामन्ती विघटन के खिलाफ भाषा की एकता के लिए सघर्ष किया जाय। आगे बढी हुई जातियो के सर्वहारा वर्ग का कर्तव्य है कि वह पिछडे लोगो को जातिरूप मे सुगठित होने मे मदद दे।

जहाँ जातियाँ औद्योगिक विकास की मजिलें पार कर चुकी है लेकिन जिन्हे अपनी भाषा का व्यवहार करने की आजादी नही है वहाँ उत्पीडक और उत्पीडित दोनो ही तरह की जातियो के मजदूर वर्ग का कर्तव्य यह है कि जनवादी क्रान्ति की आवश्यकताओ को ध्यान म रखते हुए जातीय भाषा के व्यवहार के अधिकार के लिए सघर्ष करें। पूँजीवाद पर मजदूर वर्ग की विजय के पहले और बाद को—दोनो ही स्थितियो म—इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भाषा-समस्या को लेकर छोटी और बडी—दोनो ही तरह की—जातियो मे अध-राष्ट्रवादी रुझान पैदा न हो।

यह हुआ भाषा समस्या का सामान्य महत्व।

भारत मे भाषा-समस्या का विशेष महत्व

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ भारत की तमाम जनता सघर्ष करती रही है—सबसे पहले भाषा-समस्या का महत्व इस सघष के सन्दर्भ मे है।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अग्रेजी को अनिवाय राजभाषा के रूप मे भारत पर इसलिए लादा कि वह जनता का शोषण कर सके। इस प्रकार उसने भारत की अनेक जातियो की भाषाओ की प्रगति मे बाधा डाली। स्वाधीनता-सग्राम के दौरान भारतीय जनता ने यह माँग बराबर पेश की कि शिक्षा-सस्थाओ, अदालतो, शासनतत्र आदि म अग्रेजी की जगह उसकी भाषा का चलन हो। जातीय प्रदेशों मे अग्रेजी की जगह वहाँ की भाषाओ का व्यवहार हो, जनता के लिए यह अब भी ज्वलन्त प्रश्न बना हुआ है और अगस्त, सन् १९४७ के राजनीतिक परिवर्तन के बाद यह समस्या अभी कही हल होती नही दिखाई देती।

हिन्दुस्तानी क्षेत्र तथा समस्त भारत की राजभाषा हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी हो—इस सन्दर्भ मे भारत की भाषा समस्या विशेष महत्वपूर्ण हो

गई है। सबसे कटु विवाद समस्या के इसी पक्ष को लेकर हुए हैं। प्रमुख सामाजिक समस्याओं से जनता का ध्यान हटाने में उच्च वर्गों के पास हिन्दी-उर्दू समस्या सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक साधन रही है। साम्प्रदायिक विद्वेष पैदा करने के लिए इस समस्या का उपयोग विशेष रूप से किया जाता है। भारत और पाकिस्तान में चरम प्रतिक्रियावादी अपना हित साधने के लिए इस समस्या का उपयोग करते हैं।

भारत-जैसे बहुजातीय देश में अनिवार्य राजभाषा का प्रश्न महत्वपूर्ण है क्योंकि बहुजातीय पूंजीवादी राज्यों से देखा जाता है कि इस तरह की अनिवार्य राजभाषा राजनीतिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में दूसरी भाषाओं के व्यवहार पर रोक लगाती है और कभी-कभी उनके इस अधिकार को एकदम अस्वीकार करती है। भारत के बड़े पूंजीपतियों से अन्य जातियों और जनसमूहों का जो सम्बन्ध है, उसे देखते हुए राष्ट्रभाषा का प्रश्न अपना वर्ग-महत्व रखता है।

कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहां लोग मिली-जुली बोलियां बोलते हैं। वहां सामन्ती सम्बन्ध अब भी कायम हैं। वहां के जातीय प्रदेश में टकसाली जातीय भाषा का विकास अभी तक नहीं हो पाया। राजस्थान, हिमाचल प्रदेश जहां पहाड़ी बोलियां बोली जाती हैं ऐसे ही इलाके हैं।

भाषा-समस्या कबीलों और पिछड़े हुए जातीय गुटों के लिए महत्वपूर्ण है। विभिन्न पूंजीवादी गुट इनका शोषण करते हैं। उन्हें अपनी भाषाओं के व्यवहार करने का अधिकार नहीं है। उनकी भाषाओं का अस्तित्व ही अस्वीकृत कर दिया जाता है।

इतनी बातों से ही स्पष्ट हो जाता है कि मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी को भाषा-समस्या पर क्यों ध्यान देना चाहिए।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद और राजभाषा के रूप में अंग्रेजी की भूमिका

शिक्षा और संस्कृति के मामलों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीति यह रही है कि आम जनता को अज्ञान और पिछड़ेपन की दशा में रखा जाय। शासन-व्यवस्था के लिए क्लर्कों की फौज तैयार करने के लिए साम्राज्यवाद ने अंग्रेजी की पढ़ाई अनिवार्य कर दी और उसे शिक्षा का अनिवार्य माध्यम बनाया। पाश्चात्य विचारधारा के सम्पर्क से भारतीय भाषाओं और साहित्य को जो भी लाभ हुआ, वह अप्रत्यक्ष रूप से हुआ; वह लाभ साम्राज्यवादियों की भावनाओं के विपरीत था। इस बात का प्रचार वे बराबर करते रहे कि भारत भाषाओं का अजायबघर है और उसमें जो भी एकता है, वह इसलिए कि अंग्रेजी ने 'लिंगुआ फ्रांका' की भूमिका पूरी की है। यूरोप के अनेक प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की यह स्थापना मान ली, इसलिए भी कि अपने उपनिवेशों में वे भी यही खेल खेल रहे थे।

भारतीय जनता ने मांग की कि शिक्षा, अदालत, कचहरी, शासन इत्यादि

में अंग्रेजी की जगह जनता अपनी भाषा चाहे। यह बिलकुल न्यायपूर्ण मांग थी। राष्ट्रीय नेताओं से आशा की जाती थी कि सन् १९४७ में आज़ादी पाने के बाद इस मांग को वे पूरा करेंगे। लेकिन विभिन्न कारणों से वे उसे पूरा नहीं कर सके। सबसे पहला कारण तो यह है कि अक्सर ये नेता स्वयं अंग्रेजी में डूबे होते हैं। उन्होंने भारतीय भाषाओं के विकास के लिए प्रायः कुछ भी नहीं किया। दूसरा कारण यह है कि वे विभिन्न जातीय भाषाओं में संस्कृत के शब्द ठूंसने की नीति पर चल रहे हैं, जिससे कि आम जनता देश के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में भाग न ले सके। जब इस संस्कृत-गर्भित भाषा पर लोग हँसते हैं और उनकी हँसी उचित ही है, तब वे एक नई आह भरकर अंग्रेजी की शरण में लौट आते हैं और कहते हैं कि अंग्रेजी अभी पांच या दस साल और चलने दी जाय। दस साल तक उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण न होगा, वैसे ही पांच या दस साल तक आम जनता की उच्च शिक्षा, राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यवाही उसकी अपनी भाषा में न होगी।

कुछ विद्वान् हिंदी के ही संस्कृतीकरण की मांग नहीं कर रहे हैं। बँगला जैसी भाषा में भी यही विद्वान उसी संस्कृतीकरण की मांग कर रहे हैं और उनका उद्देश्य भी वही है। कुछ समय पहले पश्चिम बंगाल की सरकार ने उच्चकोटि के विद्वानों की एक समिति बनाई जिसमें प्रसिद्ध भाषाविद् डा० सुनीतिकुमार चटर्जी भी थे। इस समिति का यह काम सौंपा गया था कि वह शासन में व्यवहार के लिए बँगला में पारिभाषिक शब्दावली बनाए। इस शब्दावली की भूमिका में उन उच्चकोटि के विद्वानों ने कुछ प्रचलित शब्दों को अस्वीकृत कर दिया क्योंकि उनकी समझ में वे शब्द काफी गरिमायुक्त नहीं हैं। उनके बदले उन्होंने ऐसे शब्द रखे हैं जो जन साधारण की समझ में नहीं आते, जो कभी-कभी असाधारण जनों की समझ में नहीं आते। इसलिए पारिभाषिकी निर्माताओं ने बंगाली जनता के देश-प्रेम को ललकारा है कि जैसे वे अंग्रेजी का अध्ययन करते रहे हैं वैसे ही मातृभाषा के अध्ययन को भी अधिक समय दें।

केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें जनता की इस मांग को पूरा नहीं कर पा रही कि शिक्षा संस्थाओं, कचहरी, अदालत, सरकारी दफ्तरों आदि में जनता की भाषाओं का व्यवहार हो। शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विरासत कायम है।

पूंजीवादी सामन्ती औपनिवेशिक व्यवस्था भारतीय भाषाओं के पूर्ण विकास को रोकती है। शासक वर्ग जनता को या तो अंग्रेजी की शरण लेने को कहते हैं या भारतीय भाषाओं का ऐसा संस्कृतीकरण करते हैं कि वे लोगों को दुर्बोध हो जाएँ।

अनिवार्य राजभाषा का सवाल

विभिन्न प्रदेशों में अंग्रेजी की जगह भारतीय भाषाओं का व्यवहार हो,

यह सही माँग है और मजदूर वर्ग को इसका समर्थन करना चाहिए। लेकिन अंग्रेजी की जगह सारे देश में एक ही भाषा का चलन हो, यह माँग उस जनतांत्रिक माँग से भिन्न है। अंग्रेजों ने सारे भारत पर अंग्रेजी लादी—यह साम्राज्यवादी कार्य था। उसका स्थान एक भारतीय भाषा ले ले, यह बात जनतांत्रिक और न्यायपूर्ण न होगी। फिर भी पूँजीवादी नेता हिन्दी उर्दू या हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी को भी अनिवार्य राजभाषा बनाने का कार्य करते रहे हैं।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के राजनीतिक प्रस्ताव में कहा गया है कि बड़े पूँजीपति महाराष्ट्र, केरल, तमिलनाडु आदि प्रदेशों के आत्मनिर्णय के अधिकार को नहीं मान रहे। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ने ६ दिसम्बर, १९४८ के अंक में लिखा है कि ब्रिटिश 'सम्पर्क' की कुछ विरासत सुरक्षित रहनी चाहिए जैसे कि हाईकोर्टों में केन्द्रीय भाषा का ही चलन होना चाहिए और विभिन्न प्रान्तों में एक ही केन्द्रीय भाषा का चलन न होने से उच्च शिक्षा की प्रगति में बाधा पड़ेगी। इस प्रकार विभिन्न प्रदेशों के हाईकोर्टों और उच्च शिक्षा-संस्थाओं में एक ही केन्द्रीय भाषा के चलन की माँग करके बड़े पूँजीपति जातियों के पूर्ण राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास में बाधा डालते हैं।

भारत के बड़े पूँजीपति चाहते हैं कि अंग्रेजों की जगह देश के शोषक बन जाएँ, यह सम्भव न हो तो विदेशी मालिकों के साथ मिलकर शोषण में हिस्सा बँटाएँ। जब तक साम्राज्यवाद से समझौता नहीं हुआ था, तब तक वे भाषायी इलाकों—अर्थात वहाँ के पूँजीपतियों—के आत्मनिर्णय का अधिकार मानते थे। विदेशी मालिकों की छत्रछाया में जहाँ एक बार उनका अधिकार राज्यसत्ता पर हो गया, वहाँ उन्होंने राष्ट्रवाद, एकता, केन्द्र आदि के नाम पर अपने वादे तोड़ना प्रारम्भ कर दिया। भारत के बड़े व्यापारी सारे भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा या राजभाषा की चर्चा बराबर करते रहे हैं क्योंकि इसके द्वारा वे अपने हित में बाजार को सुदृढ़ कर सकेंगे और दूसरी जातियों के पूँजीपतियों को निकाल सकेंगे।

जो लोग हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी बोलते या लिखते हैं, उन्हें बड़े पूँजीपतियों की महत्वाकांक्षाओं से दिलचस्पी नहीं हो सकती। वे बिलकुल न चाहेंगे कि किसी भारतीय भाषा के पूर्ण और स्वतन्त्र विकास में बाधा डाली जाय। बड़े पूँजीपति उनकी साम्राज्य विरोधी भावना से लाभ उठाना चाहते हैं। वे पूछते हैं अंग्रेजी जाय, उसकी जगह कौन-सी भाषा ले?

आम जनता अवश्य चाहती है कि अंग्रेजी उस पर न लदी रहे जैसे वह अब तक लदी रही है। बड़े पूँजीपति इस बात को जानते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि अंग्रेजी जाय। लेकिन वे लोगों को यह सोचने का मौका नहीं देते कि उसकी जगह कौन लेगा? बजाय यह कहने के कि जब अंग्रेजी जायगी तब प्रत्येक भारतीय भाषा को अपने स्वत्व प्राप्त होंगे, वे पूछते हैं, कौन-सी एक भाषा अंग्रेजी की जगह लेगी। इस तरह सवाल को पैदा करके वे जनता को

गुमराह करते हैं।

जो लोग चाहते है कि इस तरह के सवाल जनतान्त्रिक ढँग से हल किये जाएँ, वे सबसे पहले हर जाति का यह हक मानेंगे कि हर स्तर पर वह अपने राजनीतिक और सास्कृतिक कार्यो मे अपनी भाषा का व्यवहार कर सके और इस अधिकार पर कोई भी रोक न लगनी चाहिए।

रूस के पूँजीवादी-सामन्ती राज्य मे बोल्शेविक पार्टी ने माँग की थी कि अनिवार्य राजभाषा का चलन बन्द किया जाय। उसने हर जाति को राजनीतिक और सास्कृतिक क्षेत्रो मे अपनी भाषा के व्यवहार की पूरी छूट दी। बोल्शेविक पार्टी पर यह आरोप लगाया गया कि उसकी नीति अव्यावहारिक है। लेनिन ने इस आरोप का उत्तर देते हुए लिखा, "हर जाति के राष्ट्रवादी पूँजीपतियो की दृष्टि मे सर्वहारा का सारा काम जातीय समस्या के सन्दर्भ मे हवाई होता है। सर्वहारा जन हर तरह के राष्ट्रवाद का विरोध करते हैं, इसलिए वे 'हवाई' समानता की माँग करते हैं। वे माँग करते हैं कि सिद्धान्तत किसी को थोडे से भी विशेषाधिकार न मिलें।"

पूँजीपति भाषा समस्या का व्यावहारिक समाधान पेश करते हैं। वे कहते हैं कि इतनी भाषाओ म पाठय-पुस्तकें छपवाने से व्यर्थ का खर्च होता है। तमाम उच्च न्यायालयो और विश्वविद्यालयो मे एक ही केन्द्रीय भाषा का चलन होना चाहिए। मजदूर वर्ग इस तरह की व्यावहारिकता को स्वीकार नही कर सकता।

सोवियत सघ मे रूसी अनिवार्य राजभाषा नही है। प्रधान सोवियत मे हरेक को अपनी भाषा मे बोलने का अधिकार है और सदस्य गैर-रूसी भाषाओ मे दिये हुए भाषणो के अनुवाद की माँग कर सकते है। सोवियत सघ के प्रजा-तन्त्रो मे रूसी की पढाई स्कूलो और कालेजो मे अनिवार्य है। इसमे कोई बुराई नही है। जातियो की मर्जी के खिलाफ रूसी की पढाई अनिवार्य नही की गई। भारत म यदि सभी जातियो से बराबर संख्या मे जनवादी ढँग से चुने हुए प्रतिनिधि शिक्षाक्रम म किसी स्तर पर किसी एक भारतीय भाषा का अध्ययन अनिवार्य करना चाहे और किसी जाति के प्रतिनिधि इसका विरोध न करें तो इस तरह की अनिवार्य शिक्षा मे कोई दोष नही है। मुख्य बात यह है कि कोई भाषा किसी जाति पर उसकी इच्छा के विरुद्ध लादी न जानी चाहिए।

बहुजातीय पूँजीवादी राष्ट्र में जातियों का उत्पीडन होता है, उसमें अनि-वार्य राजभाषा बडे पूँजीपतियो के हित साधन का कारण बनती है। उससे विभिन्न जातियो की श्रमिक जनता मे एकता नही पैदा होती वरन् परस्पर विग्रह उत्पन्न होता है। हम नही चाहते कि कोई एक भाषा अग्रेजी की जगह ले। विदेशी साम्राज्यवाद ने हमारे ऊपर अग्रेजी लादी थी। हम नहीं चाहते कि किसी भारतीय भाषा के पूर्ण विकास पर कोई देशी साम्राज्यवादी रोक लगाएँ। बडे पूँजीपति उन जातियो के अधिकार नियन्त्रित करते हैं जो कमोबेश

आर्थिक विकास कर चुकी है; जो जातियाँ पिछड़ी हुई है, उनके राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास को ये बडे पूँजीपति अवरुद्ध कर देते है। वे उनसे कहते हैं तुम्हारी अपनी कोई भाषा नही है; जो भाषा हम तुम पर लादें वही तुम्हारी भाषा होगी। इस नीति का हम विरोध करेंगे।

बहुजातीय देश मे समाजवादी सत्ता स्थापित होने पर उत्पीडित जातियो की भाषाओ को नया जीवन प्राप्त होता है। उनकी भाषाएँ और सस्कृतियाँ नई शक्ति पाकर लहलहा उठती हैं। समाजवाद आने पर विभिन्न जातियों की भाषाएँ मुरझाकर खत्म न हो जाएँगी और बडी जाति की भाषा उनकी जगह न ले लेगी। इसलिए बहुजातीय समाजवादी राज्य मे भी एकमात्र अनिवार्य राज-भाषा का चलन न होगा।

सोवियत संघ मे रूसी भाषा सबसे ज्यादा बोली और समझी जाती है। वह गैर-रूसी जातियो की मातृभाषा तभी बन सकती है, जब उनका रूसीकरण हो जाय। स्तालिन ने बताया है कि तमाम दुनिया मे समाजवादी क्रान्ति की विजय हो जाने के बाद भी भाषा और सस्कृति के भेद रहेगे। इससे स्पष्ट है कि भविष्य मे जनता का राज कायम होने पर भी सारे देश मे केवल एक ही भाषा बोली जाय, ऐसा न होगा। देश मे जनता का राज कायम नही हुआ। इसलिए खतरा यह है कि जातियो की समानता का सिद्धान्त ऊपर से मान लिया जाय और अमल मे उसका उल्लघन किया जाय। इसलिए भारत मे अनिवार्य राज-भाषा के रूप मे या सारे देश की एकमात्र सामान्य भाषा के रूप मे हिन्दी स्वीकार न की जाएगी।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के राजनीतिक प्रस्ताव मे दूसरो पर हावी होने-वाले बडे पूँजीपतियो का उल्लेख है जो केरल, महाराष्ट्र, आन्ध्र आदि के आत्म-निर्णय के अधिकार का विरोध करते हैं। ये बडे पूँजीपति मुख्यतः मारवाडी हैं। बिडला, डालमिया, सिघानिया, गोयन्का आदि जिन्होंने भारत मे अपना जाल बिछा रखा है, इसी जाति के हैं। इनमे अन्य पूँजीपति भी शामिल है जो मारवाडी नही हैं। बिडला, गोयन्का आदि की मातृभाषा हिन्दी नही राज-स्थानी है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने सामन्तवाद को सुरक्षित रखा। ये सज्जन अपने घरेलू बाजार को सुगठित करके पूँजीपति नही बने; आरम्भ से ही अपने व्यापार और उद्योग धन्धो का प्रसार वे अन्य प्रदेशो मे करते रहे, यही कारण है कि इन्होंने राजस्थानी के लिए कुछ नही किया लेकिन हिन्दी पत्र निकालने मे वे पूँजी लगाते हैं। उनकी नीति मे दक्षिण तथा अन्यत्र लोग हिन्दी को अपने ऊपर हावी होनेवाली जाति की भाषा समझने लगे हैं। अंग्रेज और उनके हाली-मवाली भाषा-समस्या को लेकर विभिन्न जातियो मे द्वेष फैलाने के लिए जिम्मेदार हैं। जातीय विद्वेष की जो अग्नि वे भडका रहे हैं, उससे इन भाषाओं में परस्पर आदान-प्रदान का क्रम भग होता है और बहुत-से अन्ध हिन्दी राष्ट्र-वादी यह समझने लगे हैं कि और सब उनकी भाषा सीखेंगे, वे किसी की भाषा

न सीखेंगे।

बड़े पूँजीपतियों की नीति हिन्दी को अनिवार्य राजभाषा बनाने की है। इसके विपरीत प्रान्तीय पूँजीपति कहते हैं कि उनके विरोधी भाषायी साम्राज्यवाद कायम करना चाहते हैं। और वे अपनी जाति को आत्मनिर्णय का पूरा अधिकार देने की बात करते हैं, बशर्ते कि इस प्रश्न पर मजदूर वर्ग उनके झंडे के नीचे आ जाय। प्रान्तीय पूँजीपति जब इस तरह के दावे करते हैं, तब उनका पर्दाफाश करना चाहिए।

प्रान्तीय पूँजीपतियों की नजर पड़ोसी इलाकों पर है। बिहार में आदिवासी इलाकों के लिए बंगाल और बिहार के पूँजीपतियों में झगड़ा है। बम्बई और मद्रास किसके हिस्से में होंगे, इसको लेकर झगड़े हैं। श्री पट्टाभि सीतारमैया श्री क० मा० मुंशी के भाषायी साम्राज्यवाद का विरोध कर रहे हैं। लेकिन हैं दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे।

सभी जातियों की श्रमिक जनता मजदूर वर्ग के नेतृत्व में केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों तरह के पूँजीपतियों तथा जमींदारों के खिलाफ संघर्ष करके हर जाति के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास का अधिकार सुनिश्चित कर सकती है। यही तरीका है कि बड़े पूँजीपति दूसरों पर अनिवार्य राजभाषा न लाद सकेंगे और सभी जातियों की भाषाओं को विकसित होने का पूरा अवसर मिलेगा।

हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी समस्या

समस्या यह है कि हिन्दुस्तानी प्रदेश की भाषा हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी में कौन-सी है या तीनों हैं या इनमें कोई दो हैं।

हिन्दी केवल हिन्दुओं की भाषा नहीं है, मुस्लिम जनता भी हिन्दी बोलती है। उर्दू भी केवल मुसलमानों की भाषा नहीं है। बुनियादी तौर से हिन्दी-उर्दू एक ही भाषा हैं। दोनों का आधार जनसाधारण की बोलचाल की भाषा है। इस बोलचाल की भाषा के सहारे के बिना न तो हिन्दी का एक वाक्य लिखा जा सकता है, न उर्दू का। उर्दूवाले कहते हैं, उनकी भाषा आम जनता की जबान है। वे ठीक कहते हैं, इस अर्थ में कि जनता की भाषा के बिना उर्दू का एक वाक्य नहीं लिखा जा सकता। हिन्दी उर्दू में भेद उनके बोलचाल के रूप में नहीं है, भेद है उनकी उच्च स्तरीय शब्दावली में। बोलचाल की एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं। उनके भेद का कारण यह है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्तर्गत हमारे देश की जातियों का विकास विषम रूप में हुआ है।

विदेशी पूँजी ने भारतीय सामन्तवाद को अपना दोस्त बनाया। उसने भारतीय उद्योग धन्धों का विकास रोका, आम जनता का बुरी तरह शोषण किया और उसे अशिक्षित रखा, जमींदारों का वर्ग बनाकर अपने लिए सहायक तैयार किये, यहाँ की भाषाओं के विकास को भरसक रोका और जनता पर

विदेशी भाषा लादी और बडे पूँजीपतियो से सौदा पक्का किया कि मिलकर देश का शोषण करें।

इस कारण ग्राम जनता संस्कृति के क्षेत्र म अपनी एकता का प्रभाव पूरी तरह न डाल सकी। पाश्चात्य शिक्षा, भाषा और साहित्य म बुद्धिजीवियो को जो भी प्रेरणा मिली हो, ग्राम जनता अपने साम्राज्य विरोधी, सामन्त-विरोधी, पूँजीवाद विरोधी दृष्टिकोण का प्रभाव संस्कृति पर नही डाल पाई। ब्रिटिश साम्राज्यवादियो ने रायसाहबो, रायबहादुरो, खानबहादुरो आदि की सेना तैयार कर ली और ये हिन्दी-उर्दू के नेता बन गए। इनके साम्राज्य-परस्त दृष्टिकोण का प्रभाव भाषा के विकास पर भी पडा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद प्रत्यक्ष रूप से तथा अपने सहायको के जरिये अप्रत्यक्ष रूप से भाषा और संस्कृति के मामलो मे दखल देता रहा। भाषा और साहित्य मे वह धार्मिक विद्वेष भडकाता रहा। ग्रियर्सन का मत था कि इस्लाम के साथ उर्दू दूर-दूर तक फैली, उन्हे इस बात का ध्यान न रहा कि भारत मे इस्लाम के प्रवेश के बहुत दिनो बाद उर्दू का विकास प्रारम्भ हुआ। ग्रियर्सन ने यह नही बताया कि इस्लाम के साथ उर्दू भारत मे ही क्यो आई, मिस्र, अलजीरिया, तुर्की या इस्लाम के घर अरब म क्यो नही पहुँची ?

ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने सामन्तवाद का पोषण किया। सामन्ती वर्ग की विशेष विचारधारा है पुनरुत्थानवाद। इसके प्रभाव से धार्मिक और साम्प्रदायिक रुझान मजबूत हुए हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत की हर जाति को ब्रिटिश सूबा और देशी राज्यो म बाँट दिया। इस कारण जातियो की सास्कृतिक और राजनीतिक एकता दृढ़ करने मे रुकावट हुई।

भारत के नेता जब ढुलमुल तरीके स साम्राज्यवाद का विरोध कर रहे थे, तब वे भाषा और संस्कृति को धर्म से परे मानते थे। वे कहते थे कि नागरी और फारसी लिपि मे लिखी जानेवाली हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा होगी। वे साम्राज्य-वाद से समझौता करने और जनवादी क्रान्ति के विरोध के रास्ते पर चले। साम्राज्यवाद के खिलाफ जनता म जहाँ क्रान्तिकारी उभार आया, उन्होने उसे दबाया। उन्हे भय था कि विदेश साम्राज्य के खात्मे के साथ कही उनकी शोषण-व्यवस्था भी खत्म न हो जाय। कांग्रेस के भीतर और बाहर उन्होने किसानो और मजदूरो के वर्ग सगठन बनाने का विरोध किया। किसानो और मजदूरो की एकता ही राष्ट्र की एकता को मजबूत कर सकती है, देश की हर जाति की भाषा और संस्कृति की एकता को मजबूत कर सकती है।

इस नीति के कारण राष्ट्रीय नेता राष्ट्र के साम्राज्यवादी विभाजन में ही साझीदार नही हुए, वे अपने अन्दर भी अन्ध राष्ट्रवादी रुझान पालते रहे हैं। राष्ट्रीय स्वयसेवक संघ जैसी फासिस्ट सस्थाओ से संघर्ष करने का दिखावा करते हुए वे उस तरह की प्रवृत्तियो को कांग्रेस के अन्दर ही पुष्ट करते रहे हैं। वे सामान्य संस्कृति और सामान्य भाषा की मीठी मीठी बातें भूल गए और

चरम साम्प्रदायिक दफानो का समर्थन करने लगे हैं। वे भाषा-विवाद जैसी चीजो का उपयोग इसलिए कर रहे है कि जनता जनतन्त्र और समाजवाद के लिए सघर्ष करना बन्द कर दे। भाषा-विवाद और प्रान्तो के विभाजन से सम्बन्धित झगडे उनके हाथ मे ऐसे अस्त्र हैं जिनसे जनता का ध्यान मुख्य सामाजिक समस्याओ से हटा दिया जाय। सामन्ती-पूँजीवादी शोषण कायम रखने के लिए वे जनता मे फूट डालनेवाले साम्राज्यवाद के तमाम दाँव-पेंच इस्तेमाल कर रहे हैं। इसलिए यह आशा करना व्यर्थ है कि वे इन समस्याओ को हल करने मे रत्तीभर सहायता करेंगे। भारत मे मजदूर वर्ग और उसके साथी किसान और मध्य वर्ग के लोग हर जाति की सामान्य सस्कृति और सामान्य भाषा का निर्माण करेंगे।

कानपुर या आगरा की एक ही मिल मे काम करनेवाले हिन्दू और मुसलमान मजदूर क्या दो भाषाएँ बोलते हैं? उनकी भाषा एक है। उत्तर प्रदेश के किसान भी एक ही भाषा बोलते हैं और एक दूसरे की बात समझते हैं। अपने दफ्तरो और मुहल्लो मे मध्यमवर्गी कामकाजी लोग आपस म एक ही भाषा बोलते हैं। हर प्रदेश मे हिन्दू और मुसलमान मजदूरो की भाषा एक है, हिन्दू और मुसलमान किसानो की भाषा एक है, मध्य वर्ग के कामकाजी हिन्दुओ और मुसलमानो की भाषा एक है। इस भाषा म स्थानीय भेद होते हैं किन्तु धर्म के आधार पर भेद नही पैदा होता। जब बोलचाल की भाषा साहित्य और उच्च सांस्कृतिक कार्यों के लिए प्रयुक्त होती है, तब उसकी शब्दावली म भेद पैदा हो जाता है।

हिन्दी-उर्दू बुनियादी तौर से एक हैं किन्तु अपने साहित्यिक रूपो मे भिन्न हैं, यह अन्तविरोध सामाजिक अन्तर्विरोध का ही परिणाम है। साम्राज्यवाद ने सामन्तवाद कायम रखा और पूँजीवादी वर्ग मे हिन्दू-मुस्लिम आधार पर भेद डाला। पूँजीवादी नेताओ की समझौतापरस्ती के कारण साम्राज्यवादी नीति सफल हुई। यह कहना कि बोलचाल की भाषा से उच्च शिक्षा और सस्कृति के सभी कार्य सम्पन्न किए जा सकते है, सामाजिक विकास के वास्तविक अन्तर्विरोध से आँखें मूँद लेना है।

हिन्दी और उर्दू को हिन्दू धर्म और इस्लाम से सम्बद्ध नही किया जा सकता। उर्दू में ईरान और अरब की साहित्यिक परम्परा का अनुसरण है, उसकी साहित्यिक शब्दावली अरबी और फारसी के आधार पर रची गई है। हिन्दी की साहित्यिक शब्दावली का आधार सस्कृत है और वह भारत की साहित्यिक परम्परा का अनुसरण करती है। दोनो की ही साहित्यिक परम्परा में सामान्य जनवादी तत्व विद्यमान हैं और इन्ही के आधार पर भविष्य मे सामान्य साहित्यिक भाषा का विकास होगा। जो विशुद्ध धार्मिक तत्व हैं, वे विलीन हो जाएँगे, पुरानी गाथाएँ, वेद-कथाएँ आदि सामान्य सास्कृतिक परम्परा का अग बन जाएँगी। हिन्दी और उर्दू मे आज जो परस्पर-भिन्न साहित्यिक परम्पराएँ

दिखाई देती हैं, वे एक ही साहित्यिक भाषा और सामान्य साहित्यिक परम्परा के विकास में दुर्लंघ्य बाधा नहीं हैं। जनसाधारण की उच्च सांस्कृतिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए (अर्थात् उन्हें दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि की शिक्षा देने के लिए) जनवादी आन्दोलन की बढ़ती के साथ दोनों के बीच का फासला दूर होगा।

बोलचाल की भाषा में केवल संस्कृत के या केवल अरबी फारसी के शब्द नहीं होते। साहित्यिक शब्दावली में शुद्धता की रक्षा न की जा सकेगी। राहुलजी ने संविधान का 'मसौदा' लिखा है जबकि डॉ० रघुवीर ने मसौदे के लिए 'प्रारूप' लिखा है। कुछ लोग कहते हैं कि साहित्य की भाषा और जनता की भाषा में सदा अन्तर रहेगा। यह भेद उच्च वर्गों और जनसाधारण की संस्कृति का भेद प्रकट करता है। जनतन्त्र और समाजवाद की ओर प्रगति के साथ यह भेद भी मिट जाएगा। प्रगतिशील लेखक जब जन-संघर्षों को आगे बढ़ाने के लिए साहित्य रचते हैं, तब यह भेद खत्म हो जाता है या कम हो जाता है।

उदारपंथी पूँजीवादी नेता हिन्दी-उर्दू को मिलाने में असफल हुए। वे यह न जानते थे कि दोनों में भेद क्या है। उन्होंने इस समस्या का सम्बन्ध आम जनता की सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रगति से नहीं जोड़ा, उन्होंने यह नहीं देखा कि इस समस्या का सम्बन्ध जनता की निरक्षरता दूर करने से है, जनसाधारण के लिए साहित्य और संस्कृति सुलभ करने से है, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के सहयोगियों ने बुद्धिजीवियों में जो पुनरुत्थानवादी रुझान पैदा किये हैं, उनसे संघर्ष करने से है।

साम्प्रदायिक अनुपात लागू करने से (अर्थात् मुसलमानों आदि के कितने एम० एल० ए० होंगे, यह निश्चित करने से) हिन्दू-मुस्लिम समस्या हल न हो सकती थी। इसी तरह फारसी और संस्कृत के कोशों से किसी निश्चित अनुपात के अनुसार शब्द लेकर मिलाने से सामान्य साहित्यिक भाषा का विकास न हो सकता था।

दो लिपियों में लिखी जानेवाली हिन्दुस्तानी भाषा समस्या का कोई हल प्रस्तुत नहीं करती। दोनों लिपियों में यदि शब्दावली भिन्न है, तो हिन्दुस्तानी नाम देने से बेहिसाब झगड़े बढ़ते हैं। हिन्दी और उर्दू में आज वास्तविक भेद है। यह भेद खत्म करके तुरंत हिन्दुस्तानी नहीं गढ़ी जा सकती। इसलिए अभी कुछ समय तक हिन्दी और उर्दू दोनों का चलन स्वीकार करना चाहिए जिससे कि स्वाभाविक रीति से दोनों मिलकर एक हो जाएँ।

पारिभाषिक शब्दावली की समस्या

लोग कहते हैं कि भारतीय भाषाएँ संस्कृत से उत्पन्न हुई हैं। इसलिए हिन्दी का जितना ही संस्कृतीकरण होगा, वह सारे भारत में उतनी ही सुबोध और लोकप्रिय होगी। पिछले पाँच सौ वर्षों का इतिहास बतलाता है कि भार-

तीय भाषाओं में असंस्कृत रूप निरन्तर विकसित होते गये हैं। ये रूप लोकप्रिय हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। कहा जाता है कि बँगला में संस्कृत शब्द सबसे ज्यादा हैं। 'बँगला भाषा का उद्भव और विकास' नामक ग्रन्थ में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा था, "आधुनिक बँगला के बोलचाल वाले रूप में संस्कृत शब्दों का अनुपात आश्चर्यजनक रूप से कम है" (खण्ड १, पृ० २२१)। कारण यह है कि "तद्भव शब्दों का सम्बन्ध आये दिन के जीवन से है और भाषा में, कहना चाहिए, सबसे ज्यादा श्रम इन्हीं को करना पड़ता है।" (उप०, पृ० १६७-९८)

संस्कृत के शब्द अपने तद्भव रूप में सुरक्षित रहते हैं। शुद्धतावादी के लिए ये शब्द अशुद्ध हो जाते हैं। न केवल बँगला में वरन् उन तमाम भारतीय भाषाओं में, जो संस्कृत से सम्बद्ध हैं, तत्सम शब्दों की संख्या आश्चर्यजनक रूप से कम है। संस्कृतीकरण द्वारा हिन्दी को लोकप्रिय बनाने की माँग गलत है और लोगों को उसका विरोध करना चाहिए। उर्दू को फारसी-गर्भित करना उर्दू के लिए हानिकारक है और उर्दू-प्रेमियों को उसका विरोध करना चाहिए।

इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी-उर्दू संस्कृत-फारसी से शब्द न लें। यह कार्य विवेक से, बोलचाल की भाषा की प्रकृति पहचानते हुए करना चाहिए। इससे भाषा समृद्ध होगी और उसका लोकप्रिय रूप नष्ट न होगा। नये शब्द गढ़ने और उधार लेने के अलावा, बोलचाल की भाषा की रचनात्मक क्षमता को भूल न जाना चाहिए। हिन्दी-उर्दू की उच्च शब्दावली में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रवेश भी बिलकुल बन्द न करना चाहिए।

कई लोग पारिभाषिक शब्दों के छोटे-बड़े कोश बना रहे हैं। वे कहते हैं कि जो शब्द प्रचलित है, वह पारिभाषिक नहीं हो सकता। संविधान के अनुवादक श्री घनश्याम सिंह गुप्त ने लिखा है, "सभी भाषाओं में लोक-प्रचलित शब्द अर्थ की दृष्टि से शिथिल और अनिश्चित होते हैं'''हर विशेष विषय की अपनी विशेष शब्दावली होती है और लोक-प्रचलित भाषा से यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता।" (भारतीय संविधान का प्रारूप, १९४८)

अज्ञानी हिन्दी पाठक की सहायता के लिए डॉ० रघुवीर ने संविधान के मसौदे के अन्त में शब्द-सूची दे दी है। इस सूची से बहुत अच्छी तरह पता चल जाता है कि पारिभाषिक तथा लोक-प्रचलित शब्दावली में किस तरह का सम्बन्ध है। शब्द-सूची के पहले तीन पृष्ठों में इस तरह के अंग्रेज़ी शब्द दिये हुए हैं—

ओपन, फायर-आर्म, ऑडिट, अलाउंस, ऐक्ट, वारंट, ऐडवोकेट, मीटिंग, सीट, क्लेम, आर्डीनेन्स, आर्टीकल, लाइसेंस, ग्रांट, प्रैक्टिस, फ़ी, मेफ्टी, एजेन्ट, इंजीनियरिंग, रेलवे, माइनर इत्यादि। ये शब्द अंग्रेज़ी में ही लोक-प्रचलित नहीं, उनमें से बहुतों को इस देश के अशिक्षित लोग भी समझते हैं। अधिपत्र, अधिष्ठान, अयोमार्ग क्या हैं? वारंट, सीट और रेलवे!

यदि अंग्रेजी के लोक-प्रचलित शब्द उस भाषा मे पारिभाषिक माने जा सकते हैं तो कोई कारण नही कि उस नियम का पालन हिन्दी मे न किया जाय। कठिन शब्दावली का फल यह होगा कि जनसाधारण शिक्षा और संस्कृति से दूर रहेंगे। दुख की बात यह है कि डॉ० रघुवीर के बनाये हुए बहुत-से शब्दो को उच्च शिक्षा पाये हुए लोग भी नही समझते। इस जडता को भारत के प्राचीन गौरव और राष्ट्रीय एकता के नाम पर न्यायपूर्ण नही ठहराया जा सकता। अपनी शब्द-सूची की भूमिका मे डॉ० रघुवीर ने लिखा था, "हमने भौगोलिक ही नही, ऐतिहासिक दृष्टि से भी भारत की एकता का ध्यान रखा है। भारत के दीर्घकालीन गौरवमय अतीत मे जो कुछ उपयोग्य था, उसे हमने आत्मसात् कर लिया है।"

वास्तव म उन्होंने जो कुछ किया है, वह इसका ठीक उलटा है। उन्होंने वे तमाम शब्द छोड दिये हैं, जा न केवल हिन्दी-भाषी प्रान्तो में वरन् दक्षिण भारत तथा अन्यत्र समझे जाते हैं। ये शब्द उनके लिए पारिभाषिक नही हो सकते क्योकि इनमे लोकप्रियता का दाग लग गया है। उन्होंने वे तमाम शब्द छोड दिये हैं जो अतीत मे जनता के परस्पर सम्पर्क के कारण प्रचलित हो गये हैं। महापडित राहुल साकृत्यायन ने डॉ० रघुवीर की आलोचना की है और उनके अनुवाद के बदले अपना अनुवाद प्रस्तुत किया है।

इसमे कोई सन्देह नही कि नये शब्द आवश्यक हैं और वे या तो दूसरी भाषाओ से लिये जायेंगे या प्राचीन भाषाओ के शब्दो, धातुओ के आधार पर गढे जायेंगे। जो लोग इन शब्दो का व्यवहार करेंगे, उनकी आवश्यकताएँ ध्यान मे रखी जायें तो यह कार्य ज्यादा सन्तोपजनक ढग स सम्पन्न होगा। सबसे पहले उन शब्दो का सग्रह करना चाहिए जिनका व्यवहार विभिन्न पेशो के लोग पहले से ही कर रहे है। इसके बाद सस्कृत, फारसी या अंग्रेजी से आँख मूँदकर शब्द न लेने चाहिएँ वरन् इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे बोलचाल की भाषा की प्रकृति के अनुकूल हैं या नही। ग्रीक और लैटिन के आधार पर बनाये हुए जो अंग्रेजी के शब्द यूरोप की अन्य भाषाओ मे प्रचलित है, उन्हे विदेशी होने के कारण ही न छोड देना चाहिए। आवश्यकतानुसार उनकी जगह लोकप्रिय हिन्दुस्तानी शब्दो को दी जा सकती है।

हिन्दी-उर्दू की उच्च स्तरीय सास्कृतिक शब्दावली देर मे घुल-मिलकर एक होगी, लेकिन सामान्य बोलचाल की भाषा की तरह हिन्दी-उर्दू की पारिभाषिक शब्दावली भी एक दिन मिलकर एक होगी, इसमे जरा भी सन्देह नही है।

लिपि का प्रश्न

लिपि भाषा का अभिन्न अंग नही है। यूरोप की अनेक भाषाएँ लैटिन वर्णमाला का व्यवहार करती हैं। किन्तु इससे वे मिलकर एक नही हो जाती। भारत मे हिन्दी और मराठी की लिपि प्रायः एक-सी है, फिर भी दोनों भाषाओ

मे बहुत अन्तर है। इस दृष्टि से लिपि का प्रश्न गौण है। फिर भी लिपि-भेद होने से हिन्दी-उर्दू के बीच का फासला बढा है। यदि हिन्दी के पाठक उर्दू से और उर्दू के पाठक हिन्दी से परिचित होते तो यह फासला इतना न बढा होता। एक लिपि होने से उन्हें निकट लाने और मिलाने मे सुविधा होगी।

एक लिपि की स्वीकृति स्वेच्छा से ही हो सकती है। फिर भी मजदूर वर्ग को आन्दोलन करना चाहिए कि एक ही लिपि का चलन हो जिसमे हिन्दी-उर्दू जल्दी-से-जल्दी घुल-मिलकर एक हो सकें। यह लिपि कुछ सशोधनों के साथ देवनागरी ही हो सकती है।

पिछडी हुई जातियो की भाषाओ का प्रश्न

भारत मे मराठी बँगला, तमिल, तेलुगु आदि सुविकसित भाषाओ के अलावा बोलियो के अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ किसी बोली ने विकसित होकर अभी भाषा का रूप नही लिया। इस तरह के क्षेत्रो मे राजस्थान है। कुछ इलाके ऐसे भी हैं जिनके लिए पडोसी प्रान्तो के पूँजीपतियो मे आपस मे झगडा है। बिहार के आदिवासी इलाको के लिए बगाली और बिहारी पूँजीपतियों मे झगडा है। कुछ प्रदेश ऐसे है जहा लोग अभी आदिम समाज-व्यवस्था मे ही रह रहे है। मध्यप्रदेश और राजस्थान के आदिवासी न अपना, न अपनी भाषाओ का विकास कर पा रहे हैं। इनकी भाषाओं के विकास की बात कोई हवाई सैद्धान्तिक प्रश्न नही है। यह उनके सामाजिक और सास्कृतिक विकास का प्रश्न है। जनवादी आन्दोलन और मजदूर वर्ग को उनके राजनीतिक और सास्कृतिक अधिकारो के लिए लडना चाहिए।

हर बोली या भाषा के लिए एक प्रजातन्त्र का सवाल

महापडित राहुल साकृत्यायन कुछ समय पहले तक यह माँग करते रहे हैं कि उन प्रदेशो मे प्रजातन्त्र कायम किया जाय जहाँ अवधी, ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी आदि का चलन है। उनके चरणचिह्नो पर श्री शिवदानसिंह चले (देखिए उनकी पुस्तक 'प्रगतिवाद' मे 'जनपद आन्दोलन' नामक निबन्ध), श्री ब्योहार राजेन्द्र सिंह, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी आदि जनपद-आन्दोलनो मे योग देते रहे है। प्रश्न यह है कि अवधी, ब्रजभाषा बुन्देलखण्डी आदि बोलियाँ है या भाषाएँ, उनके बोलनेवाले हिन्दुस्तानी जाति के अन्तर्गत हैं या भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र जातियो के रूप मे विकसित होंगे। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या इनमे से हरेक के लिए प्रजातन्त्र या प्रान्त बनना चाहिए।

गाँवो मे किसान अवधी, ब्रज आदि का व्यवहार करते हैं। शहरो के मजदूर, खास तौर से मिलो और कारखानो के श्रमिक आपस मे खडी बोली का व्यवहार करते हैं। कानपुर मे उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, गोंडा और छपरा तक से मजदूर आते हैं। लखनऊ, आगरा और झाँसी के लोको वर्कशॉप, कार-

खानों आदि में इसी तरह विभिन्न क्षेत्रों के मजदूर काम करते हैं। जो किसान सीधा गाँव से आकर मजदूर बना है, वह अपनी गाँव की बोली बोलता है और उसके साथी उसकी बात समझ लेते हैं। कुछ समय बाद वह शहर की बोली—खड़ी बोली—सीख लेता है और अपने साथियों से इसी मे बात करता है, यद्यपि घर पर वह अपनी गाँव की बोली का ही व्यवहार करता है।

हिन्दुस्तानी प्रदेश के मजदूर वर्ग में अवधी, व्रज आदि बोलनेवाले लोग हैं। इनका सामान्य परिवेश और सामान्य आर्थिक सम्बन्ध उन्हें एक सामान्य भाषा बोलने पर मजबूर करते हैं। यह भाषा खड़ी बोली या हिन्दुस्तानी होती है। अखबारों मे अर्जी लिखने के लिए, इश्तहारों के लिए झाँसी, आगरा, कानपुर और लखनऊ के मजदूर बुन्देलखण्डी, व्रजभाषा या अवधी का व्यवहार नहीं करते। ये मजदूर हिन्दी-उर्दू का ही व्यवहार करते हैं और उनकी बोलचाल मे कोई भेद नही होता। शहरों के मध्यवर्ग का भी यही हाल है।

खड़ी बोली और फारसी के संघर्ष मे खड़ी बोली (उर्दू) की विजय हुई। कविता मे व्रजभाषा का व्यवहार हो या खड़ी बोली का, इस संघर्ष मे खड़ी बोली (हिन्दी) की विजय हुई। भारतेन्दु भोजपुरी क्षेत्र के थे, प्रतापनारायण मिश्र अवध के, राधाचरण गोस्वामी व्रज के, इन सबने गद्य के लिए खड़ी बोली को अपनाया। यह विकास उन्नीसवीं सदी मे हुआ किन्तु उसका आरम्भ पहले हो चुका था। इस विकास का कारण था पूँजीवाद का विकास। भारत मे पूँजीवाद उन्नीसवीं सदी में आरम्भ नहीं हुआ। व्यापारी पूँजीवाद उन सौदागरों के साथ शुरू हुआ जो अपने साथ खड़ी बोली सुदूर हैदराबाद ले गये। ब्रिटिश पूँजीवाद से टक्कर होने पर भारतीय पूँजीवाद के सहज विकास में बाधा पड़ी लेकिन वह रुक नहीं गया। पूँजीवाद के विकास के साथ हम मिलों और कारखानों में मजदूरों को खड़ी बोली बोलते देखते हैं। देहात मे जहाँ सामन्ती सम्बन्ध अब भी दृढ़ हैं, वहाँ भाषायी एकीकरण का यह काम पूरा नहीं हुआ। मध्यवर्ग पूँजीवादी विकास का ही परिणाम है और किसानों की अपेक्षा यह वर्ग खड़ी बोली को अधिक अपनाता है। इसी कारण हिन्दी-उर्दू लेखकों मे ऐसे लोग हैं जो घर मे खड़ी बोली से अलग अन्य कोई बोली भी बोलते हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त घर मे बुन्देलखण्डी, श्री राहुल सांकृत्यायन भोजपुरी, श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन' और अली सरदार जाफरी अवधी बोलते हैं, या पहले बोलते थे।

इसका अर्थ यह है कि उपर्युक्त बोलियों के बोलनेवाले पूँजीवाद के विकास के साथ एक ही जाति में संगठित हुए हैं, एक ऐसे स्थायी जन समुदाय के रूप मे गठित हुए हैं जिसकी सामान्य भाषा है और सामान्य आर्थिक जीवन है। यह विकास पूरा नहीं हुआ। सामन्ती सम्बन्ध अभी बने हुए हैं। इसीलिए हिन्दुस्तानी प्रदेश मे भाषा और बोली का प्रश्न भी हमारे सामने आता है। [illegible] बोली

'भाषा' बनी, व्रज, अवधी आदि 'बोलियाँ' रहीं। यह प्रक्रिया अनोखी नहीं है। जिन देशों में भी सामन्ती सम्बन्धों की जगह पूँजीवादी सम्बन्ध विकसित हुए हैं, वहाँ इससे मिलती-जुलती प्रक्रिया देखने को मिली है। लन्दन के आस-पास की अंग्रेजी, पेरिस के आस-पास की फ्रांसीसी, मास्को के आस-पास की रूसी सामाजिक सम्पर्क और साहित्य की भाषा बनी। ब्रिटेन में वेल्श जैसी भाषा अंग्रेजी के मुकाबले और फ्रांस में प्रोवांसाल जैसी समृद्ध साहित्यिक भाषा फ्रांसीसी के मुकाबले बोली की हैसियत ही पा सकी।

समाज में किसान या मजदूर वर्ग के कुछ हिस्से अपनी बोली छोड़ते नहीं हैं या टकसाली भाषा के साथ उसका भी व्यवहार करते हैं, तो यह भारत में होनेवाली कोई अद्भुत क्रिया नहीं है। फ्रांस जैसे विकसित पूँजीवादी देश में भी बोलियों का अस्तित्व है। भाषाविद वान्द्राई ने ब्रेतों बोली के बारे में लिखा है "मछुओं में, तराई के नमक बनानेवालों में, स्लेट-मजदूरों और घुमन्तू सौदागरों में ब्रेतों का व्यवहार अब भी होता है और कोई नहीं कह सकता कि कब तक होता रहेगा" (वान्द्राई, भाषा, लन्दन, १९३१, पृ० २८६)। मेइये के अनुसार इसी प्रकार फ्रांस और स्पेन में वास्क का व्यवहार होता है। इस-लिए इसमें आश्चर्य न होना चाहिए कि हिन्दुस्तानी प्रदेश में टकसाली भाषा के अलावा भी अनेक बोलियों का चलन बना हुआ है।

भाषा और बोली का भेद केवल भाषागत भेद नहीं है, वह सामाजिक भेद भी है। किसी समय हमारे यहाँ व्रजभाषा और फ्रांस में प्रावांसाल समृद्ध साहित्यिक भाषाएँ थीं। पूँजीवाद के विकास के साथ दिल्ली, मेरठ तथा पेरिस के आस-पास की बोलियों को व्यापारी दूर-दूर तक ले गये। बोलियों ने भाषा का रूप लिया। जिन क्षेत्रों में अवधी, व्रज आदि बोलियाँ अभी बोली जाती हैं, उनकी टकसाली भाषा खड़ी बोली है। इस टकसाली भाषा के कारण—साम्राज्य-वाद और पूँजीवाद के बावजूद—यहाँ की जनता सीमित विकास कर सकी है। इन क्षेत्रों के मजदूर टकसाली भाषा यानी खड़ी बोली के जरिये एक-दूसरे के निकट आते हैं। इस तरह इस टकसाली भाषा का विकास जनवादी क्रान्ति की विजय के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है 'जनयुग' और 'नया जमाना' अवधी, व्रजभाषा आदि में निकाले जाएँ तो इससे मजदूरों की एकता दृढ़ न होगी। मैंने 'जनयुग' के लेख अवधी में उल्था करके उन्नाव और रायबरेली के किसानों को सुनाये हैं, यह देखने के लिए कि उनकी शब्दावली में कितना परिवर्तन करना पड़ता है। व्याकरण-रूपों को छोड़कर ९८ फीसदी शब्दावली वही रहती है। ये बोलियाँ एक-दूसरे के इतना निकट हैं कि यदि एक ही लेख—खास तौर से अखबारी लेख—का उल्था उनमें करें तो ९८ फीसदी इबारत एक-सी होगी। ये बोलियाँ मुहावरों, सुन्दर अर्थ-व्यंजक शब्दावली और अलंकृत वचनों से समृद्ध हैं। टकसाली भाषा के लेखक इनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं। इनमें अछूता खजाना है जिसे अपनाने से टकसाली भाषा की

व्यंजना-शक्ति बहुत ज्यादा बढ़ेगी। लेकिन इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि इनका व्यवहार करनेवालों को हम स्वतन्त्र जातियाँ मान लें।

श्री राहुल सांकृत्यायन तथा अन्य लोगों की यह माँग कि अवधी, ब्रज, बुन्देलखण्डी आदि को विभिन्न जातियों की टकसाली भाषा माना जाय, प्रतिक्रियावादी माँग है। यह माँग केवल सामन्ती वर्गों के हित में है जो इस तरह एक पतनशील व्यवस्था की रक्षा करना चाहते हैं। इस माँग से हिन्दुस्तानी प्रदेश के मजदूरों की एकता में बाधा पड़ती है।

हर बोली के लिए एक प्रजातन्त्र या प्रान्त बनाने का सवाल नहीं है। सोवियत संघ में ६० से ऊपर भाषाएँ हैं, प्रजातन्त्र इनसे बहुत कम हैं। अवधी, ब्रज आदि विभिन्न जातियों की भाषाएँ होतीं, तो भी उनके लिए हर जगह प्रजातन्त्र कायम न किये जाते। वे बोलियाँ हैं, इसलिए उनमें से हरेक के लिए प्रजातन्त्र बनाने की माँग विशेष रूप से हास्यास्पद है। ओरछा के महाराज जनपद आन्दोलन में खास दिलचस्पी लेते रहे हैं, यह बात आकस्मिक नहीं है।

भारत में भाषा समस्या के ये कुछ मुख्य पहलू हैं। (१९४९)

१०

जातीय भाषा के रूप में हिन्दी का प्रसार

जातीय भाषा बनने से पहले हिन्दी या खडी बोली एक जनपद की भाषा थी। व्रज, अवध, बुन्देलखण्ड आदि जनपदो मे व्रज, अवधी, बुन्देलखण्डी आदि भाषाएँ बोली जाती थी। इन जनपदो में रहनेवाले छोटी-बडी रियासतो मे बँटे हुए थे। वे सब किसी जाति मे सगठित न हुए थे और इसीलिए एक जातीय भाषा के रूप मे उनके पास आपसी व्यवहार की कोई भाषा न थी। कुछ पढे-लिखे लोग सस्कृत से काम चलाते थे लेकिन उसे आम जनता न तो समझती थी, न बोलती थी।

तब के समाज की दो विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि समाज चार वर्णों मे बँटा हुआ था जिनके अन्तर्गत सैकडो जात-बिरादरियाँ थी। दूसरी यह कि गाँव बहुत-कुछ खुदमुख्तार थे, ऊपर से आँधी तूफान निकलते रहें, ये छोटे-छोटे पंचायती राज अपनी जगह बदस्तूर कायम रहते थे।

तेरहवी-चौदहवी सदी मे सामन्ती समाज का यह ढाँचा ढीला पडने लगा था, वर्णव्यवस्था शिथिल हो रही थी और लोग अपने खानदानी पेशे छोडकर नये पेशे अपनाने लगे थे। तुर्कों के हमलो से यह ढाँचा और कमजोर पडा हालाँकि उसे तोडनेवाली ताकतें उसके भीतर ही पैदा हो रही थी। तिलक जो हिन्दी और फारसी दोनो जानता था और अबुलहसन और महमूद गजनवी की सेवा मे रहा था, एक नाई का लडका था। रूप नाम का एक बनिया परिहार राजा से किला छीनकर इल्तमश से लडा था (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इडिया, खण्ड ३, पृ० ५३)। गुजरात मे तगी चमार ने दिल्ली के बादशाह के खिलाफ विद्रोह की अगुआई की। हेमू, जिसने अकबर का मुकाबला किया था, बनिया था। अकबर का चित्रकार दसवन्त कहार था। रामानन्द के शिष्यो मे कबीर जुलाहा, रैदास चमार और सेना नाई थे। कबीर के उत्तराधिकारी धरमदास बनिया थे। दादू के लिए कहा जाता है कि वह मोची थे। उनके शिष्य सुन्दर-दास बनिया थे और मलूकदास खत्री थे। इस तरह की और भी मिसालें दी जा सकती हैं। इससे नतीजा यही निकलता है कि सस्कृति पर अब ब्राह्मण-

पुरोहितों का इजारा टूट रहा था, राज्य और धरती पर क्षत्रियों का अधिकार ढीला पड़ रहा था।

तुर्क बादशाहों ने बाजार, तोलने के बाँट, सिक्कों आदि के बारे में जो सुधार किये, उनसे सौदागरों को फायदा पहुँचा। इस ज़माने में नई-नई मंडियाँ और नये-नये शहर आबाद हुए। फीरोज़ तुगलक के लिए कहा जाता है कि उसने फीरोज़ाबाद, फतहाबाद, फीरोज़पुर, बदायूँ, जौनपुर आदि शहर बसाये। शेरशाह के ज़माने में पटना शहर फिर व्यापार का केन्द्र बना। उसके समय में जो सड़कें और नहरें तैयार हुईं, उनसे व्यापार बढ़ा। शेरशाह ने सराएँ बनवाईं, धार्मिक उदारता की नीति बरती, और खास बात यह कि राज्य और किसान के बीच सीधा सम्बन्ध कायम किया। पहले गाँव का मुखिया मालगुज़ारी तय करता था, उसका वह हक छिन गया। इस तरह एक तरफ तो सौदागरी और व्यापार के केन्द्रों के तौर पर शहर बढ़ती पर थे, दूसरी तरफ गाँवों की खुद-मुख्तारी पर पाबन्दी लगी। अकबर ने बारूद का महत्त्व समझा। राज्य में शान्ति कायम रखने के लिए उसने खास तौर से बारूद का भरोसा किया। सामन्ती युग के तीर-कमान और तलवार पुरानी चीजें बनते जा रहे थे। अकबर ने सारे राज्य में एक-सी मुद्रा-व्यवस्था चलाकर व्यापार की बढ़ती में मदद की। तनख्वाह के लिए जागीरें दीं लेकिन मालगुज़ारी वगैरह तय करने का हक जागीरदारों को नहीं दिया। कभी-कभी उन्हें जागीर से दूर भी तैनात कर दिया जाता था। इस तरह सामन्तों और जागीरदारों की ताकत कम हुई। धार्मिक मामलों में अकबर ने उदार नीति बरती।

मुगल बादशाहों को खुद भी व्यापार से दिलचस्पी थी। अकबर खुद व्यापार करता था। लखनऊ यूनिवर्सिटी के डॉ० पंत के अनुसार गुजरात, आगरा और कश्मीर के बढ़िया उद्योगों का इजारा उसके हाथ में था। शाहजहाँ ने नील का व्यापार अपने हाथ में रखा था और मनोहरदास को राज्य से उधार रकम देकर व्यापार करने की आज्ञा दी थी और मुनाफे में हिस्सा लेता था। नूरजहाँ को भी नील और जरी के वस्त्रों के व्यापार में दिलचस्पी थी। बादशाहों के भाई-भतीजे सौदागरी से धन कमाते थे। मुगल राज्यसत्ता की आमदनी का ज़रिया सिर्फ ज़मीन न थी, बल्कि व्यापार भी था।

व्यापार की उन्नति से पुराने जनपदों का अलगाव दूर हुआ। पटना, बनारस, इलाहाबाद, आगरा और दिल्ली ऐसे केन्द्र बन गये जिनके चारों तरफ एक कौमी बाज़ार कायम हुआ। यात्री मानरीके के अनुसार सन् १६४० में आगरा की आबादी छः लाख थी। मार्क्स ने भारतीय इतिहास पर अपनी पुस्तक में लिखा है कि अकबर के ज़माने में दिल्ली दुनिया का सबसे बड़ा शहर था। जो नया बाज़ार कायम हुआ, उसके सबसे बड़े केन्द्र आगरा और दिल्ली ही थे।

ब्रिटेन में हिन्दुस्तानी कपड़े की माँग बढ़ने से यहाँ का रोज़गार और चमका। सत्रहवीं सदी के पहले हिस्से में आगरा से विलायत कपड़ा भेजा जाता

था और यह कपडा अवध से बनकर आता था। इस तरह ब्रज और अवध एक बाजार मे सगठित हुए। खुद अवध मे दरियावाद और खैराबाद अपने उद्योगो के लिए मशहूर हुए। इसी तरह पटना, बनारस, लखनऊ वगैरह ने आस-पास के देहात को अपनी तरफ समेटा और उनका पुराना अलगाव बहुत-कुछ दूर किया। फ्रासीसी यात्री बर्नियर ने जिन मुगल कारखानो का जिक्र किया है, मुमकिन है कि वे पूंजीवादी पैदावार की पहली मजिल रहे हो। बहरहाल जुलाहो को सौदागर पेशगी रुपया देते थे और उनसे तैयार माल लेते थे। पेशगी लेने पर जुलाहा अपने माल पर अधिकार खो देता था। पेशगी के जरिये सौदागर उसकी श्रमशक्ति खरीद लेता था। यह पैदावार का पूंजीवादी तरीका था। सन् १८४४ मे एगेल्स ने अपनी पुस्तक 'इग्लैंड के मजदूर वर्ग की दशा' में लिखा था "मशीनें चालू होने से पहले कच्चे माल को कातने और बुनने का काम मजदूर के घर पर होता था।" सत्रहवी सदी मे यह सिलसिला यहाँ भी कायम था। लेनिन ने मिखाइलोव्स्की को जवाब देते हुए बतलाया था कि सत्रहवी सदी मे आपसी विनिमय की बढती से, बिकाऊ माल के चलन के धीरे-धीरे तेज होने से, और छोटे-छोटे बाजारो के एक बडे बाजार मे सिमटने से रूसी जाति का निर्माण हुआ। *सत्रहवी सदी म इसी तरह हमारे यहाँ भी हिन्दुस्तानी जाति का* निर्माण शुरू हुआ था।

भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे हम जनपदो का एक-दूसरे के नजदीक आना और उनका अलगाव दूर होना देखते हैं। 'रामचरितमानस' अवधी मे लिखा गया है, लेकिन ब्रज, भोजपुरी आदि के इलाको मे भी वह अपनाया जाता है। यही नही, गोस्वामीजी ब्रज और अवधी दोनो मे कविता करते हैं और उनकी भाषा मे एक से अधिक बोलियो के शब्द और प्रयोग देखे जा सकते हैं। उधर ब्रजभाषा की कविताएँ—मीरा, सूर, रसखान और रहीम की रचनाएँ दूर देहात तक पहुँच रही थी। खडी बोली में भी खुसरो, कबीर आदि रचनाएँ करने लगे थे। *रहीम ने किसी को खडी बोली मे ही गाते सुनकर लिखा* था—झुक-झुक मतवाला गावना रेखता था।

दक्खिन मे खडी बोली का अलग विकास हुआ, गद्य और पद्य दोनो मे यह प्रदेश मुख्यत तेलुगुभाषी था और खडी बोली वहाँ कम तादाद के लोगो की भाषा थी। उत्तर की भाषा पर उसका असर कुछ देर से पडा।

शहरो मे व्यापार और विनिमय के लिए जिस भाषा का उपयोग होता था, वह भाषा खडी बोली या हिन्दी थी। इसका सबसे बडा सबूत यह है कि देश-विदेश के जो लोग काम-काज के लिए दिल्ली या आगरा आते थे, वे यही भाषा सीखते थे। ग्रियर्सन ने लिखा है कि 'उन दिनो के कुछ अग्रेज सौदागर नि सन्देह धडल्ले से हिन्दुस्तानी बोल सकते थे…" (लिग्विस्टिक सर्वे आँफ इडिया, खण्ड १, पृ० २)। और इतिहासकार सरदेसाई ने लिखा है कि इतालवी यात्री मनुच्ची ने शिवाजी से, बिना किसी दुभाषिये की मदद के, उर्दू मे

बातचीत की। फ़ारसी के दबाव की वजह से यह भाषा पहले-पहल दक्खिन में फूली-फली।

हिन्दुस्तान में जो तुर्क, पठान, ईरानी, उजबक आदि जातियों के लोग आये, वे यहाँ किसी नई भाषा को जन्म न दे सके। उनके बहुत-से शब्द यहाँ वालों ने ले लिये, उनके प्रत्यय लगाकर कुछ नये शब्द भी गढ़े—जैसे पागलखाना, अफ़ीमची (और पिछले दिनों जगबाज़) वगैरह। लेकिन हमारी भाषा की व्याकरण व्यवस्था, उसके मूल शब्द-भण्डार में कोई भारी तबदीली नहीं हुई। तुर्कों, पठानों, ईरानियों, उजबकों आदि के आने से पहले भी हिन्दी भाषा थी, उनके हिन्दुस्तानी बन जाने के बाद भी रही। इसलिए बादशाहों के लश्करों में नई ज़बानें गढ़ने की कल्पना भ्रामक है।

बाहर से आनेवाले लोगों के शब्दों से हमारी भाषा और समृद्ध हुई लेकिन उसने अपने जातीय रूप की रक्षा की। भाषा के बारे में शेरशाह और अकबर की नीति अंग्रेज़ों की तरह अनुदार नहीं थी। शेरशाह ने तो फ़ारसी के साथ हिन्दी में काम काज करने की हिदायत दे रखी थी।

ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी बोली आदि सभी ने हिन्दुस्तानी जाति के निर्माण में मदद दी। हमारी जाति का चरित्र संघर्षों द्वारा और पक्का हुआ। इन संघर्षों के दो पहलू थे, एक तो जातीय, दूसरा जनवादी। यानी एक तरफ़ तो यहाँ के लोग विदेशी आततायियों के खिलाफ़ लड़े, दूसरी तरफ़ वे सामन्ती उत्पीड़न के खिलाफ़, वर्ण व्यवस्था और पुरोहितों-सामन्तों के विशेष अधिकारों के खिलाफ़ भी लड़े। भक्ति आन्दोलन में ये दोनों पहलू मौजूद हैं। जुलाहे और किसान इस आन्दोलन को शक्ति देनेवाले हैं। सौदागर उसके सहायक हैं, हिन्दू और मुसलमान, सूफ़ी और संत दोनों उसमें शामिल हैं। भक्ति-आन्दोलन एक जातीय और जनवादी आन्दोलन है। क्या उस समय हिन्दुओं और मुसलमानों की दो संस्कृतियाँ थीं? कुछ धार्मिक भेदभाव ज़रूर था लेकिन दो संस्कृतियाँ नहीं थीं। जायसी, रसखान, रहीम, आलम, शेख, पजनेस वगैरह की वही संस्कृति थी जो सूर, मीरा, तुलसी, नन्ददास, दादू, रैदास आदि की थी। यह संस्कृति जातीय और जनवादी थी, इसीलिए कबीर को हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनाने के लिए तैयार थे। दरबारों की संस्कृति अलग थी। मुग़ल राज्यसत्ता इस जनवादी संस्कृति को आश्रय देनेवाली न थी।

हिन्दुस्तान के लोग सामन्ती ढाँचा ख़त्म करके अपनी जातीय राज्यसत्ता कायम कर लेते लेकिन तभी अंग्रेज़ों की दख़लन्दाज़ी से उनकी ऐतिहासिक प्रगति में बाधा पड़ी।

उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ों ने हिन्दी प्रदेश को अपने अधिकार में लिया। हिन्दुस्तान में ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिनसे फ़ायदा उठाकर उन्होंने भाषा और संस्कृति के मामलों में दख़ल देना और यहाँ के लोगों में फूट डालना शुरू किया।

महाराष्ट्र, आन्ध्र, बंगाल, पंजाब आदि में वे परिस्थितियाँ न थीं जो हिन्दी-भाषी इलाके में थी। महाराष्ट्र में शिवाजी एक जातीय रियासत कायम कर चुके थे। वैसी कोई कोशिश यहाँ न हुई थी। शिक्षा का कोई मिला-जुला जातीय क्रम निश्चित न था, मुल्ला-पंडितों के हाथ में अब भी शिक्षा की जिम्मेदारी थी। इस धार्मिक शिक्षा की वजह से दो लिपियों का प्रयोग होता था और भाषा की एकता के हिसाब से सब जगह एक ही लिपि का चलन न था। मुगल साम्राज्य के उखड़ने के बाद नवाबों के अड्डे ज्यादातर हमारे इलाके में रहे। बंगाल, महाराष्ट्र, आन्ध्र, वगैरह इनसे अपेक्षाकृत मुक्त रहे। हैदराबाद में उर्दू के प्रसार से तेलुगु भाषा में कुछ तब्दीली हुई, लेकिन उस हद तक नहीं कि तेलुगु में हिन्दी उर्दू की तरह दो धाराएँ चल पड़ें।

अंग्रेजों ने जिस अलगाव से फायदा उठाया और उसे गहरा बनाया, वह यहाँ की धार्मिक शिक्षा और सामन्ती पिछड़ेपन की वजह से था। बहुत-से राज-दरबारों में ब्रज भाषा के आगे नयी जातीय भाषा हिन्दी की पूछ न थी, नवाबों के यहाँ खड़ी बोली के लोकप्रिय रूप और जनवादी कविता की कद्र न थी। इस तरह खड़ी बोली में दो धाराएँ चल निकलीं—एक तो लोकप्रिय धारा, दूसरी सामन्तों के आश्रयवाली धारा। कुछ कवियों ने साधारण भाषा के शब्दों के बहिष्कार की नीति अपनायी जिससे उनकी शैली बोलचाल की भाषा से अलग मालूम होने लगी।

अंग्रेजों ने इस भेद को और गहरा किया। गिलक्राइस्ट ने हिन्दुओं और मुसलमानों की अलग भाषाओं के सिद्धान्त की रचना की। रिजले ने धर्म के आधार पर दो कौमें गढ़ीं और ग्रियर्सन ने भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में फूट के उसूल को धार्मिक रूप दिया। सर सैयद ने लश्करों में नयी भाषा बनने की तजवीज पेश की। इकबाल ने मुस्लिम कौम और मुस्लिम संस्कृति का नारा लगाया। ये सब साम्राज्यवादी विषवृक्ष के फल थे।

अंग्रेजों के राज में गाँवों की पुरानी व्यवस्था तो टूटी लेकिन उन्होंने सामन्तवाद और सामन्ती संस्कृति को मजबूत भी किया। इसी जर्जर सामन्ती संस्कृति पर उन्होंने अपनी तहजीब का ताज रखा। हिन्दीभाषी इलाके को उन्होंने कई सूबों में बाँटा, यहाँ ताल्लुकदारों और नवाबों को पाला-पोसा, और भाषा के मामले में जातीय उत्पीड़न का एक नया तरीका निकाला। कभी हिन्दुओं को दबाया, मुसलमानों को उभारा, कभी हिन्दुओं को उभारा और मुसलमानों को दबाया। कचहरी, अदालत और पुलिस में वह जबान चलाई कि किसान कभी समझ ही न सके और उसे ठगने और लूटने में उन्हें आसानी हो। इस तरह एक तरफ उर्दू की धारा बही, दूसरी तरफ हिन्दी की। फिर भी भाषा के बुनियादी शब्दों और मूल व्याकरण-व्यवस्था के बिना कोई भी धारा आगे न बढ़ सकती थी।

हिन्दी उर्दू का भेद उन्नीसवीं सदी से पहले नगण्य है। उन्नीसवीं सदी में

अंग्रेजी राज क़ायम होता है और तभी यह भेद गहरा होता है। इसलिए उस भेद के लिए सबसे ज्यादा अंग्रेज ही जिम्मेदार हैं। अगर सूफियो और सन्तो की परम्परा जिम्मेदार होती तो इस तरह की दो धाराएँ बगाल, महाराष्ट्र, गुजरात वगैरह मे भी बहती दिखाई देती। वहाँ नहीं दिखाई देतीं, यह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी-उर्दू का भेद अस्थायी है, जो जनता के स्वाधीनता-आन्दोलन की बढती के साथ कम होते-होते मिट जाएगा। आखिर अभी सौ साल भी तो इस खाई को नही हुए।

हिन्दीभाषी इलाके मे सामन्ती अवशेष कायम रखकर, हिन्दी-उर्दू के सवाल मे साम्प्रदायिकता उभारकर, एक ही भाषा की दो धाराएँ बहाकर और दोनो पर अंग्रेजी लादकर, आम जनता को अशिक्षित रखकर अंग्रेजों ने हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक विकास को भारी नुकसान पहुँचाया है।

फिर भी हर जगह उनकी मनचीती नही हुई। हिन्दुस्तानी जनता ने आसानी से उनका जुआ स्वीकार नही किया। १८५७ मे दिल्ली, मेरठ, कानपुर, झाँसी आदि शहरो के और अवध, भोजपुरी, बुन्देलखण्ड आदि जनपदो के वीरो ने अंग्रेजो के दाँत खट्टे कर दिए। अगर अंग्रेजो को हिन्दुस्तानियो से ही मदद न मिलती तो देश का इतिहास ही दूसरा होता। हमारे साहित्यकारो ने जनवादी संस्कृति की परम्परा को निवाहा। हिन्दी उर्दू के लेखको के सहयोग को अंग्रेज खत्म नही कर पाए। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, जो आधुनिक हिन्दी के निर्माता हैं उर्दू के भी लेखक थे। प्रेमचन्द ने उस परम्परा को और आगे बढाया।

कांग्रेस और लीग के नेताओ ने क्रान्तिकारी जन-आन्दोलन का तो विरोध किया, लेकिन साम्राज्यवादियो की स्वाधीनता-योजना स्वीकार की। भारतीय जनता से भय खाकर अंग्रेजो ने अपना झडा और अपनी फौज तो हटा ली लेकिन अपने पूँजीवादी पजे देश मे और भी गडा दिए।

अंग्रेजी पूँजी का हित इस बात मे है कि बँटवारे के बाद कायम की हुई दानो रियासतें आपस मे लडें या उनमे तनातनी रहे जिससे कि लोगो का ध्यान छिपे हुए लुटेरो की तरफ न जाय। इसके लिए उन्होने दगे कराए, कश्मीर की लडाई कराई और साम्प्रदायिक दलो के जरिए तनातनी कायम रखी।

साम्प्रदायिकता से फायदा उठाकर पाकिस्तान के शासकों ने वहाँ की भाषाओं को दबाया और उन पर उर्दू लादी। हिन्दुस्तान के साम्प्रदायिको ने कहा कि अब तो उर्दू पाकिस्तान गई और यहाँ उसकी बात करना भी राष्ट्रद्रोह है। राजर्षि टडन और महापडित राहुल ने इस विषैले प्रचार का नेतृत्व किया। उत्तर भारत के सूबो मे हिन्दी ठीक ही, राजभाषा घोषित की गई, लेकिन उर्दू के व्यवहार और शिक्षा आदि मे तरह-तरह के अडगे लगाये गए।

हिन्दी के कुछ लेखक इस परिस्थिति को सन्तोषजनक समझते हैं। लेकिन उर्दू को दबाने से हमारी जातीय भाषा के विकास मे बाधा पडती है, इसलिए

इस परिस्थिति को सन्तोषजनक कैसे कहा जा सकता है ? उर्दू मे लोकप्रिय साहित्य का बहुत बड़ा हिस्सा मौजूद है। उसमें बोलचाल के मुहावरो का निखरा हुआ रूप ही नही है, हमारी भाषा और साहित्य का इतिहास उसके बिना अधूरा रहेगा। इसलिए अपनी जाति के सांस्कृतिक इतिहास के लिए, अपनी जातीय भाषा के विकास के लिए मैं उर्दू के दबाने का विरोध करता हूँ।

कांग्रेसी नीति के खिलाफ उर्दू के कुछ लेखकों ने विधान की सहायता लेते हुए इलाकाई जबान का सवाल उठाया है। हिन्दी से अलग उर्दू का कोई अलग इलाका नही है हालांकि उर्दू या हिन्दी को अपनी एकमात्र साहित्यिक भाषा समझनेवाले लोग हैं। इसलिए उर्दू के पढ़ने-पढ़ाने और उसे व्यवहार मे लाने मे जो भी बाधाएँ आती हैं, उन्हें दूर करने के लिए आवाज़ बुलन्द करना सभी जनवादियो का कर्तव्य है। उसे अलग इलाकाई जबान मानना गलत है।

हिन्दीभाषी इलाके की जनता के लिए किसानो मे शिक्षा का सवाल भाषा की समस्या के साथ जुड़ा है। किसानो को ग्राम शिक्षा किस लिपि मे दी जाय ? अगर किसानो को एकजुट करना है, उनकी राजनीतिक चेतना को विकसित करना है, उनके आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन की धुरी बना देना है तो ग्राम शिक्षा के लिए दो लिपियाँ रखना हानिकारक होगा। इसलिए मेरी राय है कि देवनागरी लिपि के जरिये ग्राम जनता मे शिक्षा के प्रचार पर ज़ोर देना चाहिए।

अंग्रेजो ने १८५७ से सबक लेकर हमारे इलाके को सबसे ज्यादा टुकड़ो मे बाँटा है। सदियो से एक साथ रहनेवाले आगरा और दिल्ली भी अलग हो गए। हिन्दीभाषी इलाका एक होना चाहिए। इसके बारे मे यह बहाना भी नही चल सकता कि बड़े सूबे को छोटे सूबो मे हम बाँटना चाहते हैं। यहाँ सवाल छोटे टुकड़ो को मिलाकर बड़ा सूबा बनाने का है। अलग-अलग प्रान्तीय सभाएँ और हुकूमतें चलाने का खर्च बचेगा, व्यापार और उद्योग धन्धो की तरक्की मे मदद मिलेगी। हमारा सांस्कृतिक आन्दोलन पूरे प्रदेश म जातीय पैमाने पर चलेगा और भाषा भी अपना जातीय रूप निखार सकेगी।

किसान-आन्दोलन की बढ़ती के लिए यह आवश्यक है कि बोलियो मे साहित्य रचा जाय। अभी भी वह रचा जा रहा है। लेकिन हर जनपद के लिए अलग सूबा या प्रजातन्त्र बनाने की मांग करना जातीय प्रदेश के बँटवारे को दूसरे रूप स कायम रखना है। इससे सावधान रहना चाहिए।

हिन्दीभाषी लेखको का हित इस बात मे है कि वे भाषावार प्रान्त-निर्माण के आन्दोलन का समर्थन करें, दूसरो की मर्जी के खिलाफ उन पर हिन्दी भाषा लादने का विरोध करें। इससे दूसरी भाषाओ के लोग उनकी जातीय एकता के आन्दोलन का समर्थन करेंगे। उन्हे इस भ्रम मे कि संस्कृत-गर्भित होने से हिन्दी दक्षिण मे ज्यादा समझी जाएगी, अपनी भाषा को बिगड़ने न देना चाहिए। संस्कृत-गर्भित हिन्दी के पक्षपाती साहित्य-सम्मेलन ने दक्षिण भारत मे हिन्दी-प्रचार का काफ़ी अहित किया है। वहाँ पर हिन्दी का प्रचार किया है

'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' ने जिसकी नीति सम्मेलन से भिन्न है।

हिन्दीभाषी इलाका भारत का सबसे बड़ा जातीय इलाका है। संख्या के विचार से हिन्दुस्तानी जाति दुनिया की तीन-चार सबसे बड़ी जातियों में गिनी जाएगी। ऋग्वेद और महाभारत की रचना इसी प्रदेश में हुई है। यहीं की नदियों के किनारे वाल्मीकि और तुलसी ने अपने अनुष्टुप और चौपाइयाँ गाई हैं। तानसेन और फैयाज खाँ, हाली, मीर, अकबर, गालिब, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, निराला यहीं के रत्न हैं। ताजमहल और विश्वनाथ के मन्दिर यहीं के हाथों ने गढ़े हैं। आल्हा और कजली ने सैकड़ों साल तक यहीं का आकाश गुँजाया है। अठारह सौ सत्तावन में यहीं की धरती हिन्दुओं और मुसलमानों के खून से सींची गई है। जिस दिन यह विशाल हिन्दी प्रदेश एक होकर नये स्वाधीन जनजीवन का निर्माण करेगा, उस दिन इसकी संस्कृति एशिया का मुख उज्ज्वल करेगी। किसानों और मजदूरों की एकता जा जाता की एकता की धुरी है, वह दिन निकट लाएगी। हिन्दी और उर्दू के लेखकों को इस जनता के हितों को ध्यान में रखकर अपनी जातीय परम्परा के अनुसार लोकप्रिय भाषा और जनवादी साहित्य के विकास में आगे बढ़ना चाहिए। (१९५३)

११

हिन्दी-उर्दू समस्या

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का तनाव दूर करने के लिए शान्ति प्रेमी जनता जोर-जबर्दस्ती के बदले समझौते की बातचीत का रास्ता पसन्द करती है। भारतीय शान्ति-आन्दोलन के नेताओं ने भी तीसरे महायुद्ध की तैयारियाँ रोकने के लिए समझौते की बातचीत चलाने पर ज़ोर दिया है।

मेरा विचार है हिन्दी-उर्दू समस्या को लेकर जो तनाव पैदा किया गया है, उसे दूर करने के लिए भी समझौते की बातचीत चलाना और छुरेबाजी को प्रोत्साहन न देना श्रेयस्कर हो सकता है।

पिछले दिनों उर्दू प्रेमियों की तरफ से उर्दू को क्षेत्रीय भाषा के रूप में मानने और उसके लिए क्षेत्रीय भाषा के अधिकार माँगने के बारे में आन्दोलन हुआ था। उस आन्दोलन के जवाब में कुछ हिन्दी प्रेमियों की तरफ से भी आन्दोलन हुआ और लखनऊ में उर्दू प्रेमियों के सम्मेलन के अवसर पर एक उर्दू-प्रेमी को एक हिन्दी प्रेमी ने छुरा मारकर उसे अस्पताल भेज दिया।

आप मानेंगे कि टैंक और ऐटम बम का खतरा न होने पर भी लखनऊ जैसे शान्तिप्रेमी नगर में यह काण्ड होना जाहिर करता है कि जैसे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव दूर करने के लिए बमबाजी का रास्ता बुरा बताया जाता है, वैसे ही भाषा की समस्या हल करने के लिए छुरेबाजी का रास्ता भी बुरा समझा जाना चाहिए।

उकसावा पैदा करनेवाले आन्दोलन अक्सर अर्द्धसत्यों को लेकर चलते हैं। इसमें शक नहीं कि बहुत-से उर्दू-प्रेमियों में सम्प्रदायवादी भी हैं, और पहले भी रहे हैं। लेकिन इस बात को लेकर अर्द्ध सत्यप्रेमी सज्जन यह नतीजा निकालते हैं कि सभी उर्दूवाले सम्प्रदायवादी है, उर्दू का जन्म ही सम्प्रदायवाद से हुआ है पाकिस्तान का जन्म भी उर्दू के कारण हुआ है (भले ही पूर्वी पाकिस्तान के लोग उर्दू को राजभाषा बनाने के खिलाफ लड़े हों) और इसलिए जितना ही जल्दी उर्दू को मिटाया जाय, उतना ही अच्छा।

इसमें भी शक नहीं कि हिन्दी प्रेमियों में बहुत से सम्प्रदायवादी हैं और पहले भी रहे हैं। लेकिन इस बात से उर्दू-खेमे के अर्द्ध सत्यप्रेमी यह नतीजा निकालते

है कि सभी हिन्दी प्रेमी सम्प्रदायवादी हैं, हिन्दी का जन्म ही सम्प्रदायवाद से उर्दू के मीठे सरल शब्दों को निकालकर उनकी जगह संस्कृत के कंकड़-पत्थर भरकर हुआ है। हिन्दी को बिहार या उत्तर प्रदेश की राजभाषा बना दिया गया है, यह हिन्दी प्रेमियों की साम्प्रदायिकता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

इसी तरह हिन्दी-खेमे के अर्द्ध सत्यप्रेमी उर्दू-विरोध को राष्ट्रीयता की पहली शर्त मानते हैं। यह उर्दू-विरोध जल्द ही मुस्लिम-विरोध का रूप ले लेता है और उकसावा पैदा करनेवाली 'दलीलें' दी जाती हैं जिन्हें सुनकर मालूम होने लगता है कि जनता की भुखमरी, अशिक्षा, अकाल और महामारी का एकमात्र कारण उर्दू है।

उधर उर्दू-खेमे के अर्द्ध-सत्यप्रेमी उर्दू को हिन्दी से और दूर खींचकर, हिन्दुस्तानी जनता के सांस्कृतिक इतिहास से और दूर ले जाकर, इस्लाम से उर्दू का सम्बन्ध अपनी समझ में और पक्का करके, अलगाव की भावना को और मजबूत करते हैं। समूची हिन्दुस्तानी जनता कैसे साक्षर होकर अपनी मिली-जुली संस्कृति, अपना मिला-जुला लिखित साहित्य आगे बढ़ाएगी, अवधी, ब्रज, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी आदि से हम अपनी भाषा के लिए क्या लेंगे, कैसे उसे सोलह करोड़ के लिए सुलभ बनाएँगे ये समस्याएँ उनके लिए हैं ही नहीं। उल्टा वे किसी महा अश्लील पत्रिका की बिक्री का हवाला देकर पूछेंगे, 'कहिए, आपके यहाँ कोई पत्रिका इतनी बिकती है?' या अपने बड़प्पन की डींग हाँकेंगे, 'हमने जितना कमाल हासिल किया है उतना किसी ने किया ही नहीं है।'

उर्दू खेमे के ये अर्द्ध-सत्यप्रेमी आशा और निराशा के बीच झकोले खाते हैं। कभी तो वे उर्दू के अजर-अमर होने की बात सोचकर गद्‌गद् हो उठते हैं और कभी उसका विनाश निश्चित समझकर वैसे ही उदास और परेशान हो जाते हैं।

किसी जिले या सूबे को ध्यान में रखकर हिन्दी-उर्दू की समस्या स्थायी रूप से हल नहीं की जा सकती। यह समस्या तभी हल होगी जब हम हिन्दी प्रेमी और उर्दू-प्रेमी दोनों समूची हिन्दुस्तानी जाति के राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन की समस्या के सन्दर्भ में उस पर विचार करेंगे। सवाल यह है कि जैसे तेलुगु, मराठी, तमिल या कन्नड़ भाषाएँ बोलनेवाले अपने अपने प्रदेश में अपना राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन करने के लिए उठ खड़े हुए हैं या उठ खड़े हो रहे हैं, वैसे ही क्या हिन्दुस्तानी लोग भी मुग़ल और ब्रिटिश राज के अपने अलगाव को खत्म करके एक जातीय प्रदेश में अपने राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन के लिए उठेंगे? या वे अपनी सामान्य समस्याएँ अलग-अलग अपने जिलों और सूबों में ही उलझाते-सुलझाते रहेंगे?

अभी पिछले दिनों भाषावार प्रान्त बनाने के सिलसिले में जो सम्मेलन हुआ, उसमें और भाषाओं के प्रतिनिधियों ने तो अपने जातीय इलाकों के पुनर्गठन की बात उठाई लेकिन हिन्दुस्तानी प्रदेश का सवाल वहाँ उठा ही नहीं। इसका सबब यह है कि हिन्दुस्तानी जनता का प्रदेश और जातियों के प्रदेश से कहीं ज्यादा

बैठा हुआ है, यहाँ भी जातीय चेतना को कभी हिन्दी-उर्दू विवाद से, कभी भोजपुरी या मैथिली प्रान्त के आन्दोलन से, कभी बिहारी-बंगाली फसाद से सही रूप में विकसित होने नहीं दिया गया।

हिन्दी-उर्दू समस्या को लेकर जो लोग साम्प्रदायिक प्रचार करते हैं, वे हिन्दुस्तानी जनता की जातीय चेतना पर सबसे पहले प्रहार करते हैं।

हिन्दी-उर्दू के अर्द्ध-सत्यप्रेमी हिन्दुस्तानी जाति के प्रदेश का सवाल, उसके राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन का सवाल नहीं उठाते, यह बात आकस्मिक नहीं है। वे सारे हिन्दुस्तान में हिन्दी फैलाने के लिए कटिबद्ध हैं, लेकिन जब दक्षिण के लोग उनसे पूछते हैं—हिन्दी किस प्रदेश की भाषा है, तो वे बगलें झाँकने लगते हैं।

यह बात आकस्मिक नहीं है कि हिन्दी खेमे के कुछ अर्द्ध-सत्यप्रेमी हिन्दुस्तानी जाति के इलाके को 'बोलियों' के आधार पर ग्यारह हिस्सों में बाँट देने का प्रचार करते हैं। 'भाषा' के आधार पर वे प्रान्त-निर्माण की बात नहीं करते वरन् 'बोली' के आधार पर एक जातीय प्रदेश के बहुत-से टुकड़े करने की बात करते हैं।

समूचे हिन्दुस्तानी प्रदेश को ध्यान में रखते हुए हिन्दी-उर्दू समस्या पर विचार किया जाय, तो ये परिणाम निकलते हैं—

१. जहाँ तक साधारण जनता की बोलचाल का सम्बन्ध है, हिन्दी-उर्दू का कोई भेद नहीं है।

२. हिन्दी-उर्दू का भेद लिखित भाषा के सिलसिले में उठता है।

३. उर्दू को लिखित भाषा के रूप में काम में लानेवाले लोग आम तौर से सम्प्रदायवादी नहीं है। वास्तव में कुछ हिन्दू सम्प्रदायवादी भी लिखित भाषा के रूप में उर्दू का प्रयोग करते हैं। उर्दू का प्रयोग करनेवाले सब मुसलमान ही नहीं, गैर मुसलमान भी है।

४. लिखित भाषा के लिए जो लोग हिन्दी का प्रयोग करते हैं, उनकी संख्या उर्दू का प्रयोग करनेवालों से ज्यादा है। इससे नतीजा यह निकलता है कि हिन्दुस्तानी प्रदेश में एक 'सांस्कृतिक अल्पमत' लिखित उर्दू का प्रयोग करता है।

५. व्यवहार में इस सांस्कृतिक अल्पमत की जरूरतों का ध्यान रखा जाता रहा है, जैसे फिल्मों में हिन्दी लिपि के साथ उर्दू का प्रयोग, अनेक गैर-साम्प्रदायिक संगठनों का उर्दू पत्र निकालना (जिनमें कम्युनिस्ट पार्टी भी शामिल है)।

हिन्दी खेमे के अर्द्ध-सत्यप्रेमी यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि उर्दू एक सांस्कृतिक अल्पमत के काम में आनेवाली लिखित भाषा है। वे इस सत्य को दोहराकर कि जनता की भाषा यानी 'बोलचाल की भाषा' एक है, इस बात से इन्कार करते हैं कि लिखित भाषा में आज भेद है और उर्दू एक सांस्कृतिक अल्पमत की जरूरतें पूरी करती है।

इसलिए वे हिन्दी को राजभाषा बनाकर उर्दू के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहते हैं जिससे लिखित भाषा के एकीकरण का सवाल एक दूसरे से सीखकर, कुछ आपस मे आदान प्रदान करके हल न हो, बल्कि एक लिखित रूप को दबाकर हो।

उर्दू खेमे के अर्द्ध-सत्यप्रेमी यह मानने मे इन्कार करते हैं कि समूचे हिन्दुस्तानी प्रदेश मे उर्दू का व्यवहार एक लिखित भाषा के रूप मे एक सास्कृतिक अल्पमत करता है। वे यह मानने से इन्कार करते हैं कि सवाल सास्कृतिक अल्पमत की लिखित भाषा की रक्षा करने, उसके उपयोग की सुविधाएँ देने का है। वे कभी राजकाज के लिए दोनो लिपियो के चलन की बात कहते हैं, कभी उसे क्षेत्रीय भाषा मानकर उसके लिए दिल्ली, भोपाल और लखनऊ का 'क्षेत्र' ढूँढने लगते है।

उर्दू खेमे के ये दोस्त हकीकत पहचानने म गलती करते हैं, जिससे हिन्दी-खेमे के सम्प्रदायवादी ही मजबूत होते हैं, उर्दू की रक्षा और उसके व्यवहार की सुविधा देने का असली प्रश्न टल जाता है।

लिखित भाषा के रूप मे हिन्दी का प्रयोग हमारे प्रदेश के बहुसख्यक लोग करते हैं। इसलिए उनकी जिम्मेदारी सबसे ज्यादा है कि एक ही लिखित भाषा के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार करने मे मदद दें। इस काम म एक बाधा यह प्रचार है कि लिखित भाषा के रूप में उर्दू को दबाने स हमारी भाषा-समस्या सुलझ जाएगी। जो लोग इस तरह का प्रचार करते है, वे अर्द्ध-सत्य का सहारा लेकर लिखित उर्दू के सामन्ती साहित्य, उसकी ईरानी परम्पराओं का हवाला तो देते है लेकिन लिखित उर्दू के जनवादी और लोकप्रिय साहित्य के बारे मे खामोश रहते है या सरासर झूठा प्रचार करते हैं।

सन्' ४७ के बाद हिन्दी खेमे के सम्प्रदायवादियो ने नये सिरे से जोर मारा है। राजनीतिक जीवन से उखडे होने पर कुछ सज्जन भाषा को लेकर सम्प्रदाय-वाद का प्रचार करने लगे। कुछ मित्रो को यह भ्रम है कि ऐसे लोग केवल भाषा के मामले मे सम्प्रदायवादी है, बाकी मामलो मे असाम्प्रदायिक और जनवादी हैं।

इस तरह की धारणा बनाते हुए बहुत सतर्क रहना जरूरी है।

सन् '४७ मे—भारत विभाजन के बाद—राहुलजी ने हिन्दी-उर्दू समस्या के सिलसिले में ही कहा था—

"इस्लाम को भारतीय बनना चाहिए—उनका भारतीयता के प्रति यह विद्वेष सदियो से चला आया है सही, किन्तु नवीन भारत में कोई भी धर्म भारतीयता को पूर्णतया स्वीकार किये बिना फल-फूल नही सकता।"

बात थी उर्दू की, नतीजा निकला कि "उनका भारतीयता के प्रति यह विद्वेष सदियो से चला आया है," यानी मुसलमान मूलत राष्ट्र-विरोधी हैं।

और 'आज की राजनीति (१९५०) में राहुलजी ने हिन्दी-उर्दू समस्या

के सिलसिले में ही लिखा था—

"इस्लाम ने जो भी कहा हो किन्तु मुसलमानो ने अपने को देश की धारा का अग मानने से सदा इन्कार किया।"

बात थी उर्दू की, नतीजा निकला कि मुसलमानो ने अपने को इस देश की धारा का अग ही न समझा!

और भी, उसी पुस्तक में राहुलजी कहते हैं—

"इस्लाम का भारतीयकरण करना ही हितकर होगा। मौलाना आजाद की यह मनोवृत्ति यदि भारतीय मुसलमानो म रही, तो उनकी भक्ति तथा सहानुभूति हमेशा भारत की अपेक्षा पाकिस्तान के साथ रहेगी। यह भावना भारतीय मुसलमानो को छिपा पचमागी बनाकर छोडेगी।

यदि मुसलमान पचमागी बन रहे हैं तो उनके साथ व्यवहार भी वही होगा जो देशद्रोहियो के साथ होता है! हिन्दू मुस्लिम दगे कराने के लिए इससे ज्यादा क्या कहा जा सकता है? आप कहेंगे, यह तो भाषा सम्बन्धी मनोवृत्ति को लेकर लिखा गया है।

मान लिया, भाषा-सम्बन्धी मनोवृत्ति को लेकर लिखा गया है, लेकिन इस किताब मे युधिष्ठिर नाम का पात्र—जो राहुल उवाच की जगह सूत्रधार का काम करता है—कहता है, आप कुरान को उठाकर किसी धर्म के प्रमुख ग्रन्थ से मिलाकर देख लीजिए, वह हर तरह स निम्नकोटि का जंचेगा।"

अब आप पता लगाइए कि दुनिया के तमाम मुसलमानो के धर्मग्रन्थ से हिन्दी उर्दू समस्या का क्या सम्बन्ध है!

देखिए, राहुलजी का केवल भाषा के सवाल पर सम्प्रदायवादी होना अक्ल ठीक करने के कैसे सुन्दर नतीजे तक पहुँचता है!

हमारे अनेक शुभ विचार रखनेवाले भाइयो ने राहुलजी का विरोध करना तो दूर उनकी पीठ थपथपाई कि आप वास्तव म प्रगतिशील विचारक हैं! उनका खयाल था कि राहुलजी का पर्दाफाश करने म सयुक्त मोर्चा' टूट जाएगा (राहुलजी की नीति स उन्हे सयुक्त मोर्चे के लिए कोई भय न था!), इसलिए कभी तो वे उनके भाषा सम्बन्धी' प्रचार को आदर्श कहते रहे, कभी चुप रहे और कभी घेरे जाने पर बाल कि राहुलजी को सम्प्रदायवादी कहने से क्या होता है, सभी हिन्दी लेखक वैसा ही सोचते हैं!!!

इस अवसरवादी नीति को, साम्प्रदायिकता को, तरह देन का नतीजा यह हुआ कि राहुल जी के चरणचिह्नो पर चलनेवाल और 'प्रगतिशील' लेखक भी आगे आ रहे हैं।

उत्तर प्रदेश म उर्दू को क्षेत्रीय भाषा बनाने के आन्दोलन के सिलसिले मे 'उत्तर प्रदेश भाषा समिति' लखनऊ न अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी और उत्तर प्रदेश काग्रेस कमेटी के अध्यक्षो के नाम एक आवेदन पत्र छपवाया था। इसमे कहा गया था—

"हम इस प्रदेश की भाषा के बँटवारे और भाषा को बाँटकर जनता में फूट डालने की विषैली साम्प्रदायिक नीति का घोर विरोध करते हैं। यह प्रवृत्ति जन विरोधी, राष्ट्रीयता-विरोधी और देशद्रोही है।"

जब कोई प्रवृत्ति 'देशद्रोही' करार दी जाएगी, तो उसके साथ कैसा व्यवहार किया जाएगा? आवेदन-पत्र ने ऐसा वातावरण तैयार करने की कोशिश न की जिसमें हिन्दी-उर्दू लेखक बैठकर समस्या पर विचार करते और उसे सुलझाने की कोशिश करते। उर्दू-प्रेमियों ने क्षेत्रीय भाषा के लिए जैसे हिन्दी लेखकों से सलाह मशविरा किये बिना आन्दोलन छेड़ दिया था और उर्दू की रक्षा की सही माँग को क्षेत्रीय भाषा की गलत माँग से उलझा दिया था, वैसे ही और उससे पचास कदम आगे बढ़कर उत्तर प्रदेश भाषा समिति ने इन उर्दू प्रेमियों की कोशिश को देशद्रोह करार दे दिया।

इससे खुले सम्प्रदायवादियों ने फायदा उठाया और छुरेबाजी के लिए वातावरण पैदा कर लिया।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की तरह भाषा-सम्बन्धी मामलों में भी उकसावे की नीति के बदले सुलह-समझौते की बातचीत चलाना क्यों जरूरी है।

आवेदन-पत्र पर भाषा समिति के मन्त्री की हैसियत से सुप्रसिद्ध प्रगतिशील कलाकार यशपाल के दस्तखत हैं।

यशपालजी यह अर्द्ध-सत्य मानकर कि हिन्दुस्तानी जनता की एक भाषा है, उसके दो लिखित रूपों को आज की आवश्यकता को सिर्फ एक लिपि में रूप रख-कर तुरन्त खत्म कर देना चाहते हैं। उनके विचार से हिन्दी-उर्दू के आदान-प्रदान का सवाल नहीं है। समझा-बुझाकर एक लिपि चलाने का सवाल नहीं है। सवाल है दो में से एक ही रूप रखकर समस्या को हल करने का। हिन्दी-उर्दू की समस्या को जोर-जबर्दस्ती से हल करने का समर्थन करते हुए यशपाल जी कहते हैं—

"दमन और जब्र बड़े अप्रिय शब्द हैं। हम इन शब्दों को सदा ही अपने विरोधियों के गले मढ़ते हैं। लेकिन किसी भी नियम या अनुशासन को दमन और जब्र कह दिया जा सकता है। अनिवार्य शिक्षा भी एक प्रकार का दमन और जब्र है और पैदावार के साधनों का राष्ट्रीयकरण तो बहुत बड़ा दमन और जब्र बताया जाएगा।"

('नया पथ'—सितम्बर, १९५३)

कहाँ राष्ट्रीयकरण, कहाँ हिन्दी-उर्दू समस्या। पहले तो भारत में पैदावार के साधनों के राष्ट्रीयकरण का सवाल ही नहीं उठता और जहाँ उठता है या उठा है, वहाँ कामचोर वर्गों की मिल्कियत खत्म करने को उठा है। क्या जो लोग लिखित भाषा के लिए उर्दू काम में लाते हैं, कामचोर वर्गों के लोग हैं? यशपालजी की उपमा ही जाहिर करती है कि उन्होंने कामचोर वर्गों की खास-

विक समस्या मूलाकर (और ये वर्ग लिखित भाषा के लिए हिन्दी-उर्दू दोनो का प्रयोग करते हैं !) तमाम उर्दू-प्रेमियो को—या लिखित भाषा के लिए उर्दू-प्रयोग की सुविधा चाहनेवालो को—कामचोर-वर्ग बना दिया है और उन्हे अधिकारहीन करने का फैसला कर लिया है।

अनिवार्य शिक्षा का चलन करने पर दमन और जब्र जनता पर नही होता बल्कि उन कामचोर वर्गों पर होता है जो जनता को निरक्षर रखते है। राष्ट्रीय-करण मे जो व्यवहार कामचोर वर्गों के साथ होता है, उसकी तुलना जनता को अनिवार्य शिक्षा देने से करके यशपालजी ने जनता और शोषक वर्गों का भेद भुला दिया है।

जब तक हमारे कुछ लेखक यह प्रचार करते रहेंगे कि ज़ोर-ज़बर्दस्ती से हल करने पर लिखित भाषा की एकता कायम हो जाएगी, तब तक वह एकता उतनी ही दूर चली जाएगी, जनता मे फूट डालनेवाले भाषा के सवाल को प्रेम से इस्तेमाल करेंगे और इस सबसे हिन्दुस्तानी जनता के राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन का सवाल—हिन्दी प्रदेश के एकीकरण का सवाल—खटाई मे पडा रहगा।

यह समझना भूल होगी कि सभी हिन्दी-लेखक राहुलजी या यशपालजी की तरह सोचते है।

अगस्त, १९५३ की 'अवन्तिका' ने सम्पादकीय नोट म इस बारे म लिखा है।

'अवन्तिका उर्दू को किसी क्षेत्र की अलग भाषा नही मानती। लेकिन वह उसे स्वदेशी भाषा मानती है, राहुलजी की तरह अरब जेहादियो का कीर्ति-स्तम्भ नही। वह उसके विकास म बाधा दने का विरोध करती है, जोर ज़बर्दस्ती स राष्ट्रीयकरण या इस्लाम के भारतीयकरण का सवाल नही उठाती।

इससे यह परिणाम निकलता है कि उकसावा पैदा करनेवाला वातावरण खत्म करके अगर हिन्दी-उर्दू के जनवादी लेखक इस समस्या को सुलझाने बैठें तो ऐसा हल निकल सकता है, जिसम किसी के साथ जब्र भी न हो और क्रमश हमारे हिन्दुस्तानी प्रदेश मे एक लिखित भाषा के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियां भी तैयार हो जाएं। (१९५३)

१२

भाषा और प्रान्तीयता

इस बार गर्मियों में जब कलकत्ता गया तो लगा, शहर कुछ बदला-सा है। बँगला-भाषी मित्र बँगला छोड़कर आम तौर से दूसरी भाषा में बात न करते थे। कुछ लोगों ने यह शिकायत भी की कि बस या ट्राम में किसी बंगाली कंडक्टर से हिन्दी में टिकट माँगो तो वह टिकट न देगा या उपेक्षा दिखलाएगा, दफ्तरों में हिन्दी बोलकर काम कराने जाओ तो बीस बिसुवे काम होगा नहीं। एकाध साहित्य प्रेमी ने कहा, "आप जो कुछ हिन्दी भाषण में कहते हैं, उसे अंग्रेज़ी में भी कहें, हम उसमें बँगला साहित्यकारों और प्रोफेसरों को भी बुलाएँगे, उन्हें भी मालूम होना चाहिए कि हिन्दी में क्या है।"

एक बँगला भाषी हिन्दी-प्रचारक मित्र ने कहा, "आपके यहाँ से कुछ लोग आकर हमारा काम चौपट कर जाते हैं। यहाँ आकर कहते हैं, 'बँगला में है क्या? रवीन्द्रनाथ ने जो कुछ लिया है, कबीर से।' अरे बाबा, आप लोग हिन्दी हिन्दी क्या चिल्लाते हो? है क्या आपकी हिन्दी में? और हिन्दी-प्रचार तो हम राजा राममोहन राय के समय से कर रहे हैं जब आपके यहाँ लोग हिन्दी-प्रचार का नाम भी न जानते थे।"

एक चौहत्तर वर्ष के क्रान्तिकारी, विचारक और लेखक ने पूछा, "हिन्दुस्तान के भविष्य के बारे में क्या सोचते हो?" मैंने कहा, "इस प्रश्न का उत्तर तो मुझसे अच्छा आप दे सकते हैं। मेरी समझ में हमारा भविष्य उज्ज्वल है।" उन्होंने कहा, "गृह-युद्ध होनेवाला है।" पूछा, "किसमें?" मेरे मन में आया, शायद मजदूर-पूंजीपतियों की लड़ाई की बात सोचते होंगे। लेकिन वह बोले, "हिन्दुस्तानियों और बंगालियों में युद्ध होगा।" सुना था, कुछ दिन पहले बंगाली और हिन्दुस्तानी ट्राम-मजदूरों में झगड़ा हो चुका था। अखबारों में मारवाड़ियों और बंगालियों के दंगों की बात भी पढ़ चुका था। इसलिए गृह-युद्धवाली बात मैं हँसकर टाल न सका।

कलकत्ता की लगभग आधी जनता हिन्दुस्तानी है। यहाँ के मारवाड़ी व्यापारी आपस में राजस्थानी बोलते हैं लेकिन शिक्षा, भाषण, प्रकाशन आदि

के लिए हिन्दी ही काम मे लाते है। एक ओर तो ये बडे बडे व्यापारी हैं, दूसरी ओर अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि बोलनेवाले पूर्वी हिन्दीभाषी प्रदेश के लोग हैं जो ज्यादातर मेहनत-मजूरी के सहारे जिन्दगी बसर करते हैं। शाम को अपने डेरो पर ढोल-मँजीरा या खँजरी या हुडुक लेकर ये अपने लोकगीत गाते हैं। बंगला और हिन्दीभाषी भद्रजन समान रूप से इन्हे असभ्य और असंस्कृत समझकर इनसे प्राय घृणा करते हैं। इनके अलावा बहुत-से अध्यापक और लेखक हैं, जिनमे से अधिकाश का उद्देश्य कलकत्ता आकर पैसा कमाना है, साहित्य-सेवा करना नही।

ऐसी स्थिति मे कौन बडा है, कौन छोटा है, यह भाव लोगो के मन मे बडी जल्दी पैदा होता है। इसका नतीजा यह होता है कि देश की विभिन्न जातियाँ आपस मे मित्रता बरतने के बदले एक-दूसरे से बैर मानने लगती हैं, एक-दूसरे से सीखने के बदले अपने बडप्पन की डीग हाँकने मे सारा समय लगा देती हैं। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, यहाँ की जातियाँ एक दूसरे से सहयोग करके ही उसे सँवारती रही हैं और आगे भी उसे सँवार सकती हैं। सूर और तुलसी के युग मे यहाँ के सास्कृतिक आन्दोलन बराबर एक प्रदेश के बाहर के लोगो को भी प्रभावित करते रहे हैं। यदि ये व्यापक आन्दोलन न होते तो न सूर के पद रचे जाते, न चण्डीदास के। इसी तरह आधुनिक काल मे देशभक्ति की जो लहर सारे देश मे फैल गई, उसमे अनेक जातियो के लेखको का हाथ था। इसलिए किसी भी भाषा के साहित्य पर गर्व करते हुए उसके प्रेमियो को यह न भूल जाना चाहिए कि उसका विकास दूसरो के सहयोग से ही सम्भव हुआ है और उसस मिलती-जुलती विशेषताएँ दूसरो के साहित्य मे भी हैं।

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, वास्तविक स्थिति यह है कि बगाल आदि राज्यो मे बंगला-जैसी समृद्ध भाषाएँ भी वहाँ के राजकाज की भाषाएँ नही बनी। अग्रेजी का बोलबाला अब भी है और तनाव अग्रेजी और देशी भाषाओ के बीच नही, हिन्दी और यहाँ की दूसरी भाषाओ के बीच है। हिन्दी-प्रेमियों का हित इस बात मे है कि बँगला आदि भाषाएँ राजकाज के लिए अपने देश मे पूरी तरह काम मे लाई जाएँ। जब तक अहिन्दी-भाषी प्रदेशो मे वहाँ की भाषाएँ अपने पूर्ण अधिकार नही पाती तब तक उनके बीच हिन्दी भी पूरी तरह परस्पर व्यवहार का माध्यम नही बन सकती। इसके विपरीत उन्हे डर रहेगा कि हिन्दी हमारी जगह छीनना चाहती है।

इधर शिक्षा के माध्यम को लेकर जो विवाद चल पडे है, उनसे परिस्थिति *और बिगड गई है। कई जगह यह प्रचार किया गया है कि किसी भाषा-विशेष* के बदले हिन्दी ही शिक्षा का माध्यम बनेगी। तर्क यह होता है, हर जगह हिन्दी शिक्षा का माध्यम न होगी तो विश्वविद्यालय आपस मे ज्ञान विनिमय न कर सकेंगे, विज्ञान की उन्नति न हो सकेगी, देश की सास्कृतिक एकता टूट जायगी, इत्यादि। इस स्थिति से लाभ उठाकर अग्रेजी-भक्त कहते हैं—"यह सब बहस

बेकार है, सबसे भली अंग्रेज़ी, इससे नया ज्ञान भी मिलेगा, पारिभाषिक शब्द गढ़ने की समस्या भी न रहेगी और भारत की एकता भी बनी रहेगी।" इधर कुछ विश्वविद्यालय इस ओर काफी सरगरमी दिखा रहे हैं। विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में जितना ही वहाँ की भाषाओं के हक मारे जाएँगे, उतना ही अंग्रेज़ी उनके सिर पर सवार रहेगी, यह बात असंदिग्ध है। आवश्यकता इस बात की है कि देश की भाषाएँ समान अधिकार पाकर विकसित हों और इनके बोलने-वाले अन्तर्जातीय व्यवहार के लिए हिन्दी अपनाएँ, साहित्य के क्षेत्र में बड़प्पन की होड़ लगाने के बदले भारतीय साहित्य की सामान्य विशेषताओं को भी पहचानें और एक-दूसरे से सीखने की बात सोचें। यद्यपि कुछ पढ़े-लिखे लोगों और धनी जनों में जातीय द्वेषभाव काफी बढ़ा हुआ है, तथापि जनसाधारण में परस्पर प्रेम और देशभक्ति के भाव कितने दृढ़ हैं, इसका एक प्रमाण गोआ का सत्याग्रह है। इस छोटे-से प्रदेश को मुक्त कराने के लिए बँगला, मराठी, पंजाबी, हिन्दी आदि अनेक भाषाएँ बोलनेवाले नौजवानों ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी। किसी ने यह सोचकर आगा-पीछा नहीं किया कि गोआ के लोगों की भाषा तो कोंकणी या मराठी है, हम उनके लिए क्यों जान दें! पन्द्रह अगस्त के बाद देश में जो व्यापक प्रदर्शन हुए वे भी इसी जातीय सहयोग और देश-प्रेम के सूचक हैं। जनसाधारण में यह भाईचारे का भाव देश की बहुत बड़ी सांस्कृतिक निधि है। यही वह शक्ति है जो देश को जातीय द्वेष के मार्ग से हटाकर प्रेम, समानता और सहयोग के मार्ग पर ले जायगी। इसके बिना न तो समूचे देश का विकास सम्भव है, न किसी जाति-विशेष का। (१९५५)

१३

अनिवार्य राजभाषा का सवाल

भारत के सविधान म राजभाषा से सम्बन्धित धाराओ को स्वीकृत हुए चार वर्ष से ऊपर हो गए । जो कमीशन हिन्दी के व्यवहार के बारे मे राष्ट्रपति के सामने अपने सुझाव रखेगा, वह भविष्य मे बनेगा। किन्तु कुछ विद्वान् राजनीतिज्ञ उस भाषायी क्रान्ति की सम्भावना से घबरा उठे हैं जिसके जनक वे स्वय थे । उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने पटना मे भारतीय हिन्दी परिषद् के अधिवेशन मे कहा था "अगर अग्रेजी हटाने पर बहुत जोर दिया जायगा तो इसमे हिन्दी को लाभ नही हानि होगी, राष्ट्रीयता लुप्त हो जायगी, प्रादेशिक भावनाएँ प्रबल होगी, भारत के टुकडे-टुकडे हो जायेंगे ।" ऐसा लगता है कि अग्रेजी की स्थिति को जरा-सा भी धक्का लगने पर देश की सुरक्षा खतरे मे पड जाती है । एक अन्य राज्यपाल, मद्रास मे श्री श्रीप्रकाश ने सस्कृत को भारत की राजभाषा बनाने की बात कही है ।

स्पष्ट है कि सविधान की भाषा-सम्बन्धी धाराएँ स्वीकृत करने के बाद भी काग्रेसी नेता भाषा समस्या का अन्तिम समाधान पेश नही कर चुके ।

सामाजिक और सास्कृतिक जीवन मे जनता की भाषाओ के व्यवहार के लिए सघर्ष स्वाधीनता और जनतन्त्र के लिए होनेवाले सघर्ष का ही एक अग है । रवीन्द्रनाथ और भारती जैसे कवियो ने बँगला और तमिल के गौरव गीत गाये । जनता ने मैकाले की भाषा-नीति का विरोध किया, जिसका उद्देश्य विदेशी साम्राज्यवादियो की चाकरी करनेवाले बुद्धिजीवी तैयार करना था । ब्रिटिश शासको ने कोशिश की कि जनता की भाषाएँ दबाई जाएँ, उन पर अग्रेजी लादी जाय, और जनता की एकता नष्ट कर दी जाय । साम्राज्यवादियो का स्वप्न किपलिंग की पुस्तक 'द पीपुल ऑफ इडिया' म इस तरह प्रकट हुआ है, "यह सम्भव है—यद्यपि सम्भावना दूर भविष्य की है—कि शायद अग्रेजी ही भारत की राष्ट्रभाषा बनेगी ।"

प्रारम्भिक दिनो मे कांग्रेस के नेताओ की भाषा अग्रेजी थी । किन्तु १६२० के बाद राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की प्रगति के बाद भारतीय भाषाएँ

राजनीतिक मंच पर अग्रसर होने लगी। लेकिन भारतीय भाषाओं की यह प्रगति नेताओं को हमेशा अच्छी नहीं लगी। उनमे से कुछ चक्रवर्ती सम्राटों के गौरव-मय इतिहास का स्वप्न देखते हैं जब पुरोहितों की सहायता से वर्ण-व्यवस्था वाले समाज में संस्कृत का बोलवाला था। कुछ अन्य नेता 'डूबते को तिनके का सहारा' की मसल चरितार्थ करते हुए अंग्रेजी का दामन थामे हुए हैं।

कांग्रेसी नेताओं ने जब हिन्दी को राजभाषा के लिए मान्य किया, तब तक सत्ता प्राप्त किये उन्हें चार वर्ष हो गए थे। लेकिन इस फैसले के साथ उन्होंने यह भी सुनिश्चित कर लिया कि सभी सरकारी कामों के लिए अगले पन्द्रह साल तक अंग्रेजी का व्यवहार होगा। इस प्रकार अंग्रेजी का चलन उन्होंने बीस साल के लिए पक्का कर लिया। संविधान को लागू हुए पाँच साल भी नहीं बीते कि हमें उपदेश सुनने को मिलने लगे हैं कि अंग्रेजी को हटाना खतर-नाक है। पन्द्रह साल के बाद पार्लियामेंट कानून बनाकर अंग्रेजी का चलन बनाये रह सकती है। कांग्रेसी नेताओं की यह मंशा नहीं थी कि अंग्रेजी हटाने के लिए जमकर कोशिश करें। उन्होंने स्पष्ट ही अपने सामने यह सम्भावना रखी थी कि पन्द्रह साल के बाद भी अंग्रेजी जारी रहेगी, शायद उसके अगले पन्द्रह साल तक भी जारी रहेगी, हो सकता है कि इसके आगे भी जारी रहे। संवि-धान-सभा में बहस की तमाम सरगर्मियों के पीछे यह निर्मम निश्चय साफ दिखाई देता है कि समस्त भारतीय भाषाओं की हानि करते हुए अंग्रेजी को अनिवार्य राजभाषा के रूप में चालू रखा जाय। श्री नेहरू ने बड़ी स्पष्टता से कहा है कि "आप इस बात को प्रस्ताव में चाहे लिखें, चाहे न लिखें, अंग्रेजी लाज़मी तौर से भारत में बहुत महत्त्वपूर्ण भाषा बनकर रहेगी जिसे बहुत लोग सीखेंगे और शायद उन्हें उसे जबरन सीखना होगा।" लोग इन तमाम वर्षों में अंग्रेजी जबरन सीखते आये हैं। अब उनके सामने एकमात्र यह सम्भावना पेश की गई है कि अंग्रेजी के बिना हमारी कला और विज्ञान का पतन हो जायगा और देश का विघटन होगा, उसका नाश हो जायगा।

अंग्रेजी की विशेषाधिकार वाली स्थिति इस बात से और दृढ़ हो गई है कि उसका व्यवहार सुप्रीम कोर्ट और प्रत्येक हाईकोर्ट की कार्यवाही में, पार्लियामेंट या विधानसभाओं में पेश होनेवाले हर बिल के लिए होगा और बिल का अंग्रेजी रूप ही अधिकारी रूप माना जायगा। यदि राज्यपाल या राज्यप्रमुख की *आज्ञा* से किसी बिल, ऐक्ट या आर्डीनेंस के लिए हिन्दी का व्यवहार किया जायगा तो अंग्रेजी रूप ही अधिकारी रूप माना जायगा। भारतीय जनता के लिए इससे अधिक अपमानजनक दूसरी बात हो नहीं सकती। अंग्रेजी के मुकाबले में तमाम भारतीय भाषाओं को नीचा दर्जा संविधान ने ही दे रखा है।

संविधान में यह लिख दिया गया है कि पन्द्रह वर्ष तक भारत की भाषा-नीति में कोई भी परिवर्तन न होगा। संविधान ने राज्यों को इसके लिए भी बाध्य किया है कि वे एक-दूसरे से केवल हिन्दी या अंग्रेजी में ही पत्र-व्यवहार

करें। अपनी सरकारी कार्यवाही मे विशेष कानून बनाये बिना कोई राज्य अंग्रेजी की जगह अपनी भाषा का व्यवहार नही कर सकता। नतीजा यह है कि लगभग सभी राज्यो मे सारा सरकारी काम अंग्रेजी म होता है। इस प्रकार यह विदेशी भाषा न केवल अखिल भारतीय स्तर पर अनिवार्य राजभाषा बनी हुई है वरन् विभिन्न राज्यो मे भी अनिवार्य राजभाषा बनी हुई है।

भारत के कुछ बुद्धिजीवी अनिवार्य राजभाषा के रूप मे हिन्दी का ता विरोध करते हैं लेकिन अंग्रेजी जो सब पर हावी है और जिसे खास अधिकार मिले हुए है उसके बारे म चुप रहते हैं। ये लोग समझते है कि आम जनता पिछडी हुई है, इसलिए अंग्रेजी पढे लोगो का काम है उस पर शासन करना और जनता का काम है शासित होना। कहा जाता है कि अंग्रेजी के बिना देश की आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति बन्द हो जायगी। लेकिन आम जनता के सहयोग के बिना किसी तरह की प्रगति नही हो सकती, न आर्थिक न सांस्कृतिक।

भाषा के आधार पर राज्या के पुनर्गठन का विरोध करने से अंग्रेजी का प्रभुत्व कायम रखने मे मदद मिलती है। एक ही राज्य मे अनेक जातियो के रहने से उनमे स कोई भी अपना राजकाज अपनी भाषा म नही कर सकती। जातीयता के आधार पर जब तक लोग अपने राज्यो मे पुनर्गठित न हागे, तब तक अंग्रेजी का प्रभुत्व समाप्त न होगा।

ब्रिटिश साम्राज्यवादियो के मुखपत्र लन्दन के इकॉनोमिस्ट ने लिखा था "भारत की संविधान सभा ने गरम बहस के बाद तय किया है कि हिन्दी के राजभाषा बनने स पहल अभी पन्द्रह साल तक अंग्रेजी राजभाषा और बनी रहेगी। इससे पता चलता है कि भारत क राजनीतिज्ञ यथार्थ का सामना करने को तैयार हैं और समझौता स्वीकार करते हैं। उनके इस रवैये की बहुत सी मिसालें आजादी के बाद मिल चुकी है।"

इस साम्राज्यवादी पत्र और राज्यपाल श्री मुशी के यथार्थ दर्शन म काफी समानता मालूम होती है।

जहां तक अंग्रेजी के प्रभुत्व का सवाल है, हम वही है, जहां सन् '४७ मे थे। यह प्रभुत्व और दृढ ही हुआ है। असली यथार्थ यही है जिसका दर्शन आम जनता आये दिन करती है, इस यथार्थ को बदलना है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सुब्रह्मण्य भारती, वीरेशलिंगम वल्लत्तोल आदि महान् साहित्यकारो न जो संघर्ष आरम्भ किया था, उसे तब तक जारी रखना चाहिए जब तक अंग्रेजी को हटाकर भारतीय भाषाओ को उनके उचित अधिकार न दिला दिये जाएं। यह संघर्ष हमारे राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय गौरव और आत्मसम्मान की सुरक्षा के लिए संघर्ष है, यह समानता और परस्पर सहयोग के आधार पर भारतीय जनता की एकता को दृढ करने के लिए संघर्ष है।

भारत मे पूंजीवादी राष्ट्रवाद की लपटें उठ रही है। उत्तर दक्षिण के

लोग भीम और दुर्योधन के समान एक-दूसरे पर प्रहार करने को उद्यत दिखाई देते हैं। संविधान-सभा की बहस में श्री एल० के० मैत्र, श्री गाडगिल, श्री रामलिंगम् चेट्टियार, श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी, श्री शंकरराव देव आदि ने हिन्दी के प्रभुत्व से भय की बात की। श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कहा था, "भारतीय संविधान में एक धारा बना देने से आप सब लोगों को बाध्य नहीं कर सकते कि वे एक ही भाषा को स्वीकार कर लें।" उन्होंने यह भी कहा था, "दुर्भाग्य से लोगों में यह भय है और कई जगह उस भय का अमली रूप भी दिखाई देता है। इन जगहों में लोगों को अपनी भाषाओं के व्यवहार की उतनी सुविधा भी नहीं दी गई जितनी घृणित विदेशी राज्य में भी उन्हें प्राप्त थी।"

संविधान में हिन्दी को राजभाषा का पद दिया गया है, किन्तु इस राजभाषा का कार्यक्षेत्र क्या है? अंग्रेज़ी ने राजभाषा बनकर प्रादेशिक भाषाओं के बहुत-से अधिकार छीन लिये थे। विभिन्न राज्यों को स्वायत्त शासन के काफी अधिकार दिये बिना अंग्रेज़ी की जगह हिन्दी को देने का मतलब है, दूसरी भाषाओं के अधिकार नियन्त्रित करना। संविधान में हिन्दी के विकास की बात कही गई है, अन्य भाषाओं का उल्लेख नहीं है। इस तरह की मनोवृत्ति से भारत की विभिन्न जातियों में मैत्री और भाईचारा न बढ़ेगा।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम में कहा गया है, "देश की एकता के नाम पर एक प्रदेश की भाषा 'हिन्दी' को सभी जातियों और राज्यों के लिए उनकी भाषाओं का अहित करते हुए, अनिवार्य राजभाषा बना दिया गया है, इसलिए अहिन्दी जातियाँ अनिवार्य राजभाषा के रूप में हिन्दी का विरोध करती हैं और माँग करती हैं कि उनकी भाषाओं को सभी सरकारी कामों में इस्तेमाल किये जाने की सुविधा दी जाय।"

भाषावार राज्य-निर्माण का आन्दोलन जोर पकड़ रहा है। यह स्पष्ट है कि जातीयता के आधार पर जो नये राज्य गठित होंगे, उनमें राजकाज की भाषाएँ प्रादेशिक भाषाएँ होंगी। जो लोग दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार करते रहे हैं, वे इस बात को समझते हैं। उन्होंने कहा है कि अपने-अपने प्रान्तों में प्रादेशिक भाषाएँ ज्ञान विज्ञान और राजकाज की भाषाएँ बन जाएँगी, तभी हिन्दी सचमुच राष्ट्रभाषा बनेगी।

मार्क्सवाद दूसरों की इच्छा के विरुद्ध किसी भाषा को अनिवार्य राजभाषा बनाने का विरोध हमेशा करता रहा है। लेकिन वह एक या अधिक भाषाओं के माध्यम द्वारा विभिन्न जातियों के परस्पर सम्पर्क कायम करने का समर्थक भी रहा है। लेनिन ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि स्विट्ज़रलैंड की पार्लियामेंट में इटालियन भाषी प्रतिनिधि फ्रेंच बोलते हैं और कहा था, "ऐसा वे किसी बर्बर पुलिस कानून के कारण डंडे के भय से नहीं करते (स्विट्ज़रलैंड में ऐसा कोई कानून नहीं है) वरन् केवल इसलिए कि किसी भी जनतन्त्र के सभ्य नागरिक उस भाषा का व्यवहार करना उचित समझते हैं जिसे बहु-

सख्यक जनता समझती हो।"

सोवियत सघ के राष्ट्रपति कालीनिन ने गैर-रूसी जातियों में राजनीतिक प्रचारकों से कहा था, 'यह बहुत जरूरी है कि गैर-रूसी जातियों के सैनिक रूसी भाषा सीखें। रूसी भाषा सीखे बिना फौज में काम नहीं चल सकता। हमारे फौजी कायदे-कानून रूसी म होते हैं। इसी भाषा में फौजी हुक्मनामे जारी किये जाते हैं और रूसी में ही सिपाहियों की कमान होती है। सोवियत सघ में रूसी सभी जनो की सम्पर्क-भाषा है।"

लेनिन ने जातीय समस्या पर लिखते हुए कहा था, "आर्थिक सम्पर्क की आवश्यकताएँ स्वय बता देंगी कि किसी देश मे बहु-सख्यक लोगों को किस भाषा के सीखने से व्यापार आदि म सुविधा होगी।" अंग्रेजों के आने से पहले भारत मे व्यापार का अभाव न था। अनुभव से साबित हो गया है कि कौन-सी भाषा सीखने से बहु-संख्यक जनता को लाभ होता है। यह हिन्दुस्तानी जाति की भाषा है। सोलहवी-सत्रहवी सदियों मे ही व्यापार की उन्नति होने पर यह भाषा देश के विभिन्न और सुदूर प्रदेशो तक पहुँच रही थी। न केवल भारत के व्यापारी यह भाषा सीखते थे वरन विदेशी सौदागर भी, अंग्रेजी की श्रेष्ठता पर ध्यान न देकर, यही भाषा सीखते थे। यही कारण है कि इटली के यात्री मनुच्ची ने शिवाजी स हिन्दुस्तानी मे बातचीत की थी। महाराष्ट्र और तजौर मे हिन्दी मे कविता रचनेवालो का अस्तित्व इस भाषा की लोकप्रियता का प्रमाण है। इसलिए यह समझना गलत है कि अंग्रेजी के बिना न राष्ट्रीय आन्दोलन होता, न राष्ट्रीय एकता होती। अंग्रेजो ने देश के एकीकरण मे बाधा डाली, इस एकीकरण मे हिन्दुस्तानी जाति की भाषा महत्वपूर्ण भूमिका पूरी कर रही थी। वैष्णव कवियो ने सास्कृतिक स्तर पर जनता की एकता को दृढ किया। उन्नीसवी सदी के समाज सुधारको और धर्म-प्रचारको ने अपने कार्य के लिए इस भाषा को अपनाया। यह स्वाभाविक था, क्योंकि सख्या की दृष्टि से सम्भवत चीनी जाति को छोडकर हिन्दुस्तानी जाति ससार की सबसे बडी जाति है। इस कारण भारत की विभिन्न जातियो म आर्थिक और सास्कृतिक सम्पर्क के लिए उसका व्यापक व्यवहार हुआ।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अनिवार्य राजभाषा का विरोध करती है। इसका यह अर्थ नही है कि वह राष्ट्रीय एकता का मूल्य नही समझती, या उस एकता को दृढ नहीं करना चाहती। कम्युनिस्ट पार्टी पूरी तरह अनुभव करती है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता की सुरक्षा और देश की आर्थिक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न राज्यो और प्रदेशो की जनता की एकता और परस्पर भाईचारा दृढ़ किया जाय। स्वभावत प्रश्न उठता है कि जिन लोगो की मातृ-भाषाएं अलग-अलग हैं, वे किस भाषा म परस्पर बातचीत करें। भारत की ठोस परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए कहा जाएगा कि यह भाषा हिन्दी ही हो सकती है। यह प्रक्रिया अभी भी चालू है। इसलिए अपनी मदुरा काग्रेस मे

कम्युनिस्ट पार्टी ने यह स्पष्ट कहा है कि अनिवार्य राजभाषा को लादने का विरोध करते हुए भी पार्टी चाहती है कि हिन्दी विभिन्न राज्यों की जनता तथा उनकी सरकारों के बीच परस्पर सम्पर्क का साधन अधिकाधिक बने। (१९५४-५५)

१४

अंग्रेज़ी के हिमायती

अंग्रेज़ी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है और उसे इस पद पर बनाए रखने मे भारत के राष्ट्रीय लेखको ने काफी योग दिया है। उपन्यास, कविता, राजनीति, विज्ञान—किस पर वे नही लिखते ? किस पर वे नही बोलते ? अभी तक साहित्य और संस्कृति का अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास नही लिखा गया, लिखे गये हैं विश्व, महाद्वीपो, राष्ट्रो या जातियो के इतिहास। यदि कभी अंग्रेज़ो ने अपनी भाषा का महत्व पहचाना और उसका अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक इतिहास लिखा तो उन्हे इन भारत के अग्रेज अदीबो को महत्वपूर्ण स्थान देना होगा।

पिछले दिनो एक अग्रेज़ी पत्र के 'कॉलमनिस्ट'—'अदीब'—ने भारतीय भाषाओ के बारे मे रोचक विचार प्रकट किए हैं। उनका कहना है कि अग्रेज़ी की सी व्यंजक शक्ति किसी भारतीय भाषा मे नही है; इसलिए भावुकता छोड़कर अग्रेज़ी की शरण जाना ही उचित है। यह बात कितनी सही है, इसे 'अदीब' के साथ इन पंक्तियों का लेखक भी अनुभव कर रहा है। 'कॉलमनिस्ट' का पर्यायवाची हिन्दी में मिलता नही है, उधर अग्रेज़ी शब्द को ज्यो-का-त्यो लिखने मे खतरा यह है कि अपढ हिन्दीभाषी उसे अपभ्रश बनाकर 'कलमनष्ट' न कर दें। हिन्दी के पाठक ऐसे जाहिल है कि उनमे से कुछ 'अदीब' का अर्थ अदब लगा लें, तो भी आश्चर्य नहीं। लेकिन इतना तो उन्हे मालूम ही होना चाहिए कि अदीब अग्रेज़ी का शब्द नही है, हिन्दुस्तान का न सही, एशिया का तो है। अग्रेज़ी के लेखक होते हुए भी 'अदीब' ने अपने लिए एशियाई उपनाम चुना, इस पर दो महीने बाद दिल्ली मे होनेवाले एशियाई लेखक-सम्मेलन को उन्हे बधाई देनी चाहिए।

हिन्दी की व्यजना-शक्ति कितनी सीमित है, इसके उदाहरणस्वरूप 'अदीब' ने इलियट की दो पक्तियो का अनुवाद दिया है—

हम खोखले हैं !

हमारे अन्दर भूसा भरा हुआ है !

महाकवि इलियट को नोबेल पुरस्कार मिल चुका है। अब हिन्दी के पाठक

उनकी रचनाओं मे ऐसे महान् विचार प्रकट होते देखकर आधुनिक अंग्रेजी कविता के बारे मे क्या सोचेंगे, जो सोचेंगे, उससे भारत-ब्रिटेन-मैत्री कैसे दृढ होगी और भारत मे अंग्रेजी साहित्य-रचना का भविष्य क्या होगा, इस तरह की समस्याएँ सभी चिन्तकों को चिन्तित कर सकती हैं। इलियट की महान् कल्पना—हम खोखले हैं, हमारे अन्दर भूसा भरा हुआ है!—'प्रदीव' के अनुसार हिन्दी के अनुवाद मे सत्य बात कहते हुए भी हास्यास्पद हो जाती है। वास्तव मे सत्य कभी-कभी हास्यास्पद हो ही जाता है, यद्यपि हिन्दी मे हास्य रस को उतना ही उच्च स्थान दिया गया है जितना अन्य रसों को। सहृदयों को तो साधारणीकरण द्वारा यहाँ भी रस निष्पत्ति म आपत्ति न होगी!

इलियट-जैसे कवियों का उल्लेख करते हुए 'प्रदीव' ने पूछा है कि इनसे हिन्दी, बँगला या तमिल कैसे बुलवाएँ? बहुत ही अदब से कहना चाहता हूँ कि बँगला या तमिल म बुलवाने की जरूरत क्या है। राष्ट्रभाषा हिन्दी ही उन सब की बोलियों का प्रतिनिधित्व करने के लिए काफी है। फिर आपने हमारे प्रयोगवादियो की बोली नही सुनी? इतने दिन इलियट के भूसे मे हिस्सा बँटाकर जो वत्स आनन्दमय स्वर मे रँभाते रहे हैं, उनकी रागिनी पर आपने कान नही दिया? माना कि 'हम खोखले हैं' और अंग्रेजी की मूल पंक्तियों का अनुवाद करना कठिन है, लेकिन उसी काव्य-परम्परा की इस एक पंक्ति का आप ही अंग्रेजी में अनुवाद कर डालिए—"मैं ही मरघट का वह रिरियाता कुत्ता।"

'प्रदीव' ने क्या ही सुन्दर विचार प्रकट किया है—

A language is not a donkey! भाषा गधा नहीं है। गधे तो भाषा के बोलने और लिखनेवाले म होते हैं। भाषा को ठोकर मारो, चाहे पुचकारो, कोई लाभ न होगा। लेकिन यह क्रिया भाषा के बोलने या लिखनेवालों के साथ करो, अवश्य फल देगी। मेरी समझ मे भारत म अंग्रेजी के लेखकों के प्रति हमारी राष्ट्रीय नीति पुचकारने की है और भारतीय भाषाओं के लेखकों को ठोकर मारने की। मैं इस नीति की सफलता चाहता हूँ।

और इस नीति मे बुरा क्या है? भारत के लोगों ने अपनी भाषाएँ छोड़कर अभी तक अंग्रेजी नहीं अपना ली—जैसे कि जारशाही रूस के अभिजात वर्ग ने फ्रांसीसी भाषा अपना ली थी—इस संकीर्णता को क्या कभी क्षमा किया जा सकता है? रूसी लेखक गोगल ने एक नगर की सम्भ्रान्त महिलाओं के बारे में लिखा था—"रूसी भाषा का संस्कार करने और उसे ऊँचा उठाने के लिए उन्होंने अपने शब्द भण्डार के आधे शब्द बहिष्कृत करके उनकी जगह फ्रांसीसी शब्द रख लिये थे।"

आप स्वीकार करेंगे कि दिल्ली और बम्बई-जैसे नगरों के सज्जन—अर्थात् वास्तव मे शिक्षित सज्जन—उन रूसी महिलाओं से बाजी मार ले गए हैं।

सम्भ्रान्त रूसी समाज के पाठकों के लिए गोगल ने लिखा था—"इनके

अंग्रेजी मे हिमायती /

मुँह से कभी कोई सभ्य रूसी शब्द सुनने को नही मिलता। फ्रांसीसी, जर्मन और अंग्रेजी शब्दावली का प्रवाह उनके मुँह से फूट पड़ता है। उनका उच्चारण भी तरह-तरह का होता है। वे फ्रांसीसी बोलते हैं तो नाक से, और थोड़ा तुतलाते हुए। अंग्रेजी बोलते हैं तो चिड़ियो की तरह, दुरुस्त चहचहाते हुए। और जब बोलते हैं तब चिड़ियो-जैसे दिखाई भी देते हैं। वे उन पर हँसते हैं, जो चिड़ियो-जैसा मुँह नही बना पाते। वे रूसी मे कुछ नहीं लिखते। उनकी देशभक्ति इसमे प्रकट होती है कि वे ग्रीष्म-निवास के लिए रूसी शैली मे झोपड़ी बनवा लें।"

लेकिन अब शिमला, मसूरी, नैनीताल आदि मे अंग्रेजी शैली के 'कॉटेज' होने के कारण भारत के अन्तर्राष्ट्रीयतावादियो के लिए हिन्दुस्तानी ढग की झोपड़ी बनाना भी आवश्यक नही। यहाँ भी वे रूसियो से आगे हैं।

गोगल की शिकायत है कि उस समय के सम्भ्रान्त विद्वान् रूसी भाषा के लिए स्वय तो कुछ न करते थे, लेकिन यह माँग अवश्य करते थे कि रूसी भाषा परिष्कृत और समृद्ध हो जाय, वह अपने परिष्कृत और समृद्ध रूप मे आसमान से उतरे और उनका काम इतना ही हो कि जीभ निकालकर उसे गप कर लें।

लेकिन 'प्रदीप' की यह माँग नही है कि हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओ को समृद्ध किया जाय। उनकी माँग यह है कि भारतीय भाषाओ के बदले अंग्रेजी मे ही सारा काम होता रहे। यहाँ भी भारत के सम्भ्रान्त विद्वानो ने जारशाही रूस के सम्भ्रान्त विद्वानो को पीछे छोड़ दिया है।

'प्रदीप' ने चेतावनी दी है कि अंग्रेजी का सहारा न लिया तो पुल टूटने लगेंगे और दूसरी-तीसरी-चौथी पचवर्षीय योजनाएँ असफल हो जाएँगी। यह चेतावनी एकदम सामयिक है। अभी हिन्दी को केन्द्रीय राजकाज की भाषा बनाने की बात ही चली है कि हैदराबाद राज्य मे दो बार पुल टूट चुके हैं और जनता की भारी क्षति हुई है। जब चर्चा का ही यह फल है, तब व्यवहार मे आने पर हिन्दी से कौन-सी क्षति न होगी, आप स्वय अनुभव कर सकते हैं! इसी तरह योजनाओ के सम्बन्ध मे भी। घूस और रिश्वत का बाजार गर्म है। योजना पूरी हो नही पाती कि घूस-गबन की जाँच के लिए समिति बैठाना आवश्यक हो जाता है। जब तक हिन्दी का पूर्ण बहिष्कार नही हो जाता, तब तक हर योजना को व्यवहार मे लाने के साथ साथ घूस और रिश्वत की जाँच के लिए पहले से ही एक समिति बना देनी चाहिए। इससे सिद्ध हो जाएगा कि योजनाओं द्वारा पैसा खानेवालो का हिन्दी से कितना गहरा सम्बन्ध है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का सम्मान बढ रहा है। राष्ट्रीय जीवन मे भी अंग्रेजी का वैसा ही प्रभुत्व रहे तो अशिक्षा, बेकारी, बाढ, भुखमरी आदि की समस्याएँ तुरन्त हल हो जाएँ और प० नेहरू की गृहनीति मे भी चार चाँद लग जाएँ। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे 'पचशील' का शब्द जरूर चल पड़ा है। यह 'पचशील' या और किसी तरह का शील उन अंग्रेजो-अमरीकियो को पसन्द नही

है, जिनकी अपनी भाषा अंग्रेजी है। इस शब्द का त्याग देना चाहिए। इसके सिवा आपने ध्यान दिया होगा कि रूस के प्रधानमंत्री आए थे तो अपने साथ हिन्दी बोलनेवाला दुभाषिया लाए थे। स्पष्ट है कि साम्यवादी देशों के राजनीतिज्ञ अंग्रेजी के बदले हिन्दी को प्रश्रय देते हैं। इसलिए जो लोग राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत द्वारा अंग्रेजी के बदले हिन्दी के व्यवहार पर जोर देते हैं, वे जाने में या अनजाने में रूसी षड्यन्त्र के सहायक बन जाते हैं।

'प्रदीप' की घ्राण शक्ति सराहनीय है कि उन्हें हिन्दी में मध्यकालीनता की गन्ध मिल गई। जिनकी घ्राण शक्ति क्षीण हो गई है वे हिन्दी को आधुनिक भाषा समझने लगे हैं। यद्यपि विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकें हिन्दी में काफी लिखी हैं, लेकिन वैज्ञानिकों ने उसमें मौलिक पुस्तकें तो नहीं ही लिखीं। इसलिए हिन्दी और उसी की तरह अन्य भारतीय भाषाओं में भी मध्यकालीनता मिले, तो आश्चर्य क्या? अब अंग्रेजी को देखिए। उसके द्वारा अणु बम बनाए जाते हैं जिनसे विश्वशान्ति कायम है और जल्द ही लोगों की जनसंख्या की समस्या हल हो जाएगी। हमारा विचार है कि प्राचीन भारत में गणित ने जो प्रगति की थी, वह भी अंग्रेजी के कारण। आर्य भट्ट ने अवश्य नेसफील्ड ग्रामर पढ़ी होगी। दशमलव ज्ञान का श्रेय भारत को दिया जाता है, लेकिन उस श्रेय में नेसफील्ड का भी हाथ है, यह बहुतों को नहीं मालूम। पाणिनि ने अपना व्याकरण लिखा और आधुनिक भाषा-विज्ञान के विकास में उस व्याकरण की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की जाती है। दुर्भाग्य से पाणिनि पर नेसफील्ड के प्रभाव की खोज किसी भी डॉक्टरेट के उम्मीदवार ने अभी तक नहीं की। जर्मनी, इटली, फ्रांस, रूस आदि देशों में जो वैज्ञानिक प्रगति हुई है, उसका कारण यह है कि वहाँ की भाषाएँ अंग्रेजी से उत्पन्न हुई हैं। न उत्पन्न हुई होतीं, तो वहाँ का सारा वैज्ञानिक कार्य अंग्रेजी के माध्यम से होता होगा। न होता होगा, तो वह विशुद्ध वैज्ञानिक कार्य भी न होगा। जिस तरह भी विचार करें, आप यह स्वीकार किए बिना न रहेंगे कि संसार में वैज्ञानिक प्रगति अंग्रेजी द्वारा ही हुई है। सुना है कि मंगल नक्षत्र में जो प्राणी रहते हैं, वे भी अंग्रेजी बोलते हैं। अमरीकी खगोल-विशारदों ने रेडियो पर उनसे बातचीत की है। इस प्रकार अंग्रेजी का महत्व विश्वव्यापी ही नहीं, सृष्टिव्यापी है।

अस्तु ! 'प्रदीप' के इस निष्कर्ष से सहमत होना ही होगा कि किसी राष्ट्र के जीवन में दस, सौ या हजार वर्ष भी क्या हैं, सोचने-विचारने और आगा-पीछा देखने के लिए समय की कमी नहीं है। तब तक आइए, हम इस मन्त्र का जाप करें—

हम बोलते हैं !

हममें गूँगा भरा हुआ है !

१५

सोवियत क्रान्ति और भाषा-समस्या

आज से चालीस साल पहले संसार की महान् समाजवादी क्रान्ति की विजय ने पिछडे हुए बहुजातीय देशो के सामने सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का एक नया आदर्श रखा। यह विकास पिछडी हुई जातियो की भाषाओ के माध्यम से ही सम्भव था। इसलिए सामाजिक विकास की समस्याओं के साथ समाजवादी क्रान्ति ने भाषा-समस्या हल करने का भी एक नया मार्ग हमे दिखलाया।

अभी सौ साल न बीते थे जब रूस का अभिजात वर्ग रूसी को पिछडी हुई भाषा मानता था; वह अपने सांस्कृतिक जीवन में अधिकतर फासीसी भाषा का व्यवहार करता था। हमारे देश में भी अनेक विद्वान् हिन्दी ही नही, भारत की सभी भाषाओ को पिछडी हुई मानते हैं। इसलिए केन्द्रीय राजकाज के लिए वे बहुत दिनो तक अग्रेजी का व्यवहार उचित समझते है। रूस के नेताओ ने अपने राजनीतिक पत्र फ्रासीसी के बदले रूसी में ही प्रकाशित किये थे; रूसी उनके राजनीतिक जीवन की भाषा थी। गैर-रूसी इलाको के नेता वहाँ की भाषाओ का व्यवहार करते थे। इसलिए रूसी को पिछडी हुई भाषा मानकर सक्रमण काल के लिए अनेक वर्षों तक फ्रासीसी भाषा के व्यवहार का प्रस्ताव उन्होने नही रखा। रूसी जनता के लिए उन्होने तुरन्त रूसी भाषा को राजकाज की भाषा घोषित कर दिया। आज तो लोग मानते हैं कि रूसी ससार की समृद्ध भाषाओं में है लेकिन यह स्थिति १९१७ में न थी। तोल्स्तोय, चेखव, गोर्की आदि कुछ उपन्यासकार अवश्य हो गए थे, जैसे भारत में रवीन्द्रनाथ, भारती, प्रेमचन्द, शरत्चन्द्र, इकबाल आदि कवि और कथाकार हो गए हैं। लेकिन फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन की तुलना में वैज्ञानिक शिक्षा की पुस्तकें उसमें कहाँ थी? यह तर्क दिया जा सकता था कि किसी भी विषय की समुचित शिक्षा के लिए रूसी भाषा पर्याप्त नही है, इसलिए जब तक वह समृद्ध न हो जाय तब तक केन्द्रीय राजकाज फ्रासीसी में होना चाहिए। लेनिन के नेतृत्व में स्वाभिमानी रूसी जनता ने अपनी पिछडी कहलानेवाली, अभिजात वर्ग द्वारा उपेक्षित

भाषा में ही अपना सारा राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्य आरम्भ किया। भारत में जहाँ भाषा और शिक्षा की हजारों वर्ष पुरानी परम्परा है (सिन्धु घाटी के जन भी लिखना-पढ़ना जानते थे) वहाँ आज यह दयनीय स्थिति है कि देश की सभी भाषाओं को पिछड़ा हुआ मानकर अनेक वर्षों के लिए अंग्रेजी के व्यवहार का समर्थन किया जाता है।

खैर, रूसी में तो रवीन्द्रनाथ, प्रेमचन्द की तरह तोल्स्तोय और गोर्की जैसे विश्वविख्यात लेखक थे। वैज्ञानिक शब्दावली में फ्रेंच के मुकाबले में रूसी भले ही पिछड़ी रही हो, कथा-साहित्य में हिन्दी और बँगला की तरह रूसी समृद्ध थी। किन्तु बेलोरूसी, उक्रैनी, जाजियाई आदि भाषाओं में तो इतने बड़े नाम न थे। सोवियत राज्यसत्ता ने उन्हें भी अपने-अपने क्षेत्र में राजकाज की भाषा बनाया। इनसे भी गई-गुजरी अजरबैजानी, ताजिक, कजाक आदि भाषाएँ थीं जिनमें मौखिक साहित्य ही अधिक प्रचुर था। ये भी राजकाज की भाषा बनीं। इनसे भी 'पिछड़ी हुई' चुकची, बुर्यात, मंगोल, चेरकास, समोयेद आदि भाषाएँ थीं जिनकी स्थिति भारत के अनेक आदिवासी जनों की भाषाओं से भी गई-बीती थी। इनको भी विकसित होने का मौका मिला। आज उनमें व्याकरण, कोश, विज्ञान, कथा-साहित्य, काव्य—सभी-कुछ है। हमारे देश में भाषा-समस्या के विवेचन में आदिवासियों की भाषाओं की चर्चा करने का अभी चलन नहीं है।

सोवियत संघ में कहीं भी यह दलील नहीं दी गई कि भाषाएँ पिछड़ी हुई हैं, इसलिए चालीस साल तक, उनके व्याकरण और शब्दकोश तैयार होने तक, उनकी जगह रूसी भाषा का व्यवहार होगा। भाषा जनता के लिए है, जनता भाषा के लिए नहीं है। हमारे देश में जनता की आवश्यकताओं को देखकर भाषा-समस्या हल नहीं की जाती, अंग्रेजी से हमारे जो काम हो जाते हैं, वे भारतीय भाषाओं से होंगे या नहीं, यह समस्या पहले आती है। पारिभाषिक शब्दावली इस तरह गढ़ी जाती है मानो वह जनता के काम आने के लिए नहीं, उसकी जीभ और तालू का व्यायाम कराने के लिए है। पूँजीवादी और समाजवादी दृष्टिकोणों में यही अन्तर है। यदि भारत में साधारण जनता शासन के कामों में भाग ले, यदि उसके अपने जन-संगठन राज्यसत्ता का वास्तविक आधार हों, अर्थात् यदि इस जनवादी देश में जनता का राज सचमुच हो तो क्या यह कल्पना की जा सकती है कि एक दिन भी यहाँ अंग्रेजी से काम चलेगा?

नवम्बर क्रान्ति ने मानवता के उद्धार और विकास का नया मार्ग दिखलाया, उस मार्ग पर चलकर नवनिर्माण का आदर्श हमारे सामने रखा। इस निर्माण में एक वर्ग दूसरे का शोषण और उत्पीडन नहीं करता; उसमें एक जाति 'फ्री वर्ल्ड' के लुटेरों की तरह दूसरी जाति को दबाकर उसकी भाषा और संस्कृति को पैरों तले नहीं रौंदती। मानव-समाज जाति और वर्गों के रूप में ही संगठित हुआ है। वर्ग मिट जाने पर भी जाति बनी रहती है, इस-

मृद्ध थी। इग्लैंड में ऐसे साहित्यकार भी थे जो फ्रासीसी में रचना करके अमर होना चाहते थे। किन्तु इतिहास ने लैटिन और फ्रासीसी में लिखे हुए इनके ग्रन्थों को कूड़े के ढेर में फेंक दिया जहां वे अब केवल अनुसन्धानकर्ताओं के काम आते हैं।

अग्रेजों ने हिन्दुस्तान पर शासन किया, अग्रेजों के देश पर भी रोमनों और फ्रासीसियों ने शासन किया था। किसी समय इग्लैंड में अभिजात वर्ग पर फ्रासीसी भाषा का वैसा ही रौब गालिब था जैसा आज के समनर-गोत्रीय भारतवासियों पर अग्रेजी का है। किन्तु लैटिन या फ्रासीसी को अधिक समृद्ध मानकर अग्रेज जनता ने उसे राष्ट्रभाषा न मान लिया। उसके साहित्यकारों ने अपनी भाषा को समृद्ध किया और उसे यूरोप की नवीन और प्राचीन भाषाओं की पाँति में सम्मानप्रद आसन दिलाया। अग्रेजी समृद्ध होने के बाद राजभाषा नहीं बनी, राजभाषा होने के बाद वह समृद्ध हुई। वह लैटिन और फ्रासीसी भाषाओं की तुलना में समृद्ध हुई जिनके हिमायती उसके उचित आसन से उसे हटाना चाहते थे।

अग्रेज शासकों ने यहां की जनता के आर्थिक, राजनीतिक और सास्कृतिक विकास को रोका। उन्होंने यहां की भाषा के ऊपर साम्राज्ञी की तरह अग्रेजी को प्रतिष्ठित किया। अग्रेजी भाषा को अग्रेज-प्रेमी भारतवासियों के पूर्वजों ने विधान-सभा में प्रस्ताव पास करके स्वीकार न किया था। वह अग्रेज आततायियों द्वारा लादी हुई भाषा थी। ससार में अग्रेजी का बोलबाला मिल्टन और शेली के कारण नहीं हुआ, उसका प्रसार करनेवाले क्लाइव और डलहौजी की बिरादरी के थे। उत्तरी अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड आदि देशों में अग्रेजी का प्रसार करनेवाले वे आक्रमणकारी थे जिन्होंने वहां के आदिवासियों के नरमेध रचाये थे, जिनका मिल्टन और शेली से इतना ही सम्बन्ध था कि दोनों ही अग्रेजी बोलते थे (कैसी अग्रेजी बोलते थे, यह प्रश्न छोड़ दीजिए)। यदि समृद्धि के बल पर कोई भाषा अग्रेजी की तरह 'विश्वभाषा' बनती तो पाणिनि और कालिदास की भाषा मृत भाषा न कहलाती, दान्ते, गेटे, तोल्स्तोय की भाषाएँ भी विश्वभाषा बन जातीं। अग्रेजी के समर्थक उसके प्रसार के लिए मिल्टन और शेली का नाम लेते हैं, उस ब्रिटिश साम्राज्य की कहानी भूल जाते हैं जिसमें कभी सूर्यास्त न होता था और अर्नेस्ट जोन्स के शब्दों में जिसकी धरती पर कभी रक्त न सूखता था।

अग्रेजी-प्रेमी भारतवासी अपनी प्रिय विश्वभाषा के पक्ष में जितनी दलील देते हैं उनमें एक भी ऐसी नहीं है जो पहले 'लिबरल' राजनीति-विशारदों ने न दी हो। ये 'लिबरल' भद्रजन अग्रेजी राज और अग्रेजी भाषा के मामले में अत्यन्त उदार थे, हिन्दुस्तानी जनता के राज और हिन्दी भाषा के बारे में अत्यन्त अनुदार थे। वे अग्रेजी राज को प्रगतिशील मानते थे, अग्रेजों को भारतीय अराजकता दूर करके यहां न्याय और शान्ति की व्यवस्था कायम करनेवाला

मानते थे। कमी इतनी ही थी कि अंग्रेज उच्च पदों पर इन्हें नियुक्त न करते थे। भारतीय जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन से त्रस्त ये उदारपन्थी महानुभाव नौकरियों में रियायतें पाने के लिए परम प्रगतिशील अंग्रेज शासकों के सामने प्रार्थना-पत्र पेश करने में महान् गौरव अनुभव करते थे। उन्हीं की परम्परा निबाहनेवाले ये वर्तमान 'लिबरल' हैं जिनके लिए अंग्रेजी के राजभाषा न रहने से राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो जाएगा, देश में गृहयुद्ध छिड़ जाएगा, हिन्दीवाले सब नौकरियाँ हथिया लेंगे, विश्व संस्कृति से आदान प्रदान के द्वार बन्द हो जाएँगे, इत्यादि। अंग्रेजों के चले जाने से बहुसंख्यक हिन्दू अल्पसंख्यक मुसलमानों और अछूतों को खा डालेंगे—राउंड टेबुल कांफ्रेंसों में जैसे ब्रिटिश प्रधानमन्त्री यह दलील पेश करते थे, वैसे ही स्वाधीन भारत में ये 'लिबरल' अंग्रेजी के बारे में कहते हैं, अंग्रेजी गई नहीं कि हिन्दीवाले सारी नौकरियाँ हथिया लेंगे, उत्तरवाले दक्षिण पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लेंगे, अहिन्दी भाषाओं का नाम-निशान मिट जायगा। यह बात नहीं है कि राउंड टेबुल कांफ्रेंसों के दिनों में सम्प्रदायवादी रूढ़िवादी हिन्दू नहीं थे जो अछूतों को गुलाम बनाकर रखना चाहते, जो मुसलमानों को अपना शत्रु समझते थे। किन्तु इनसे अछूतों और मुसलमानों की रक्षा करने के लिए यह आवश्यक न था कि हिन्दू-अहिन्दू सभी अंग्रेजों की शरण जाते। आज भी ऐसे हिन्दी प्रेमी हैं जो अहिन्दी भाषाओं को दबाकर हिन्दी को वही स्थान देना चाहते हैं जो अंग्रेजी को प्राप्त था। इनसे अहिन्दी भाषाओं की रक्षा करने का मार्ग यह नहीं है कि हम अंग्रेजी की शरण में जाएँ।

अंग्रेजी को राजभाषा बनाये रखने के पक्ष में उदारपन्थियों की दलीलों का खंडन देशभक्त भारतवासियों ने ही न किया था, वरन् उनका खंडन भारत प्रेमी अंग्रेजों ने भी किया था। उदाहरण के लिए उदार-हृदय सी० एफ० ऐण्ड्रूज ने 'द ट्रू इंडिया' नाम की अपनी पुस्तक में लिखा था—"अभी तक अंग्रेजी भाषा को समझनेवाले मुट्ठी-भर बुद्धिजीवी ही हैं किन्तु यह उभरती हुई साधारण भाषा जो हिन्दुस्तानी कहलाती है, उत्तर और मध्यभारत में पचीस करोड़ जनता द्वारा आसानी से समझी जाती है, दक्षिण में भी जहाँ द्रविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं, उत्तर की इस भाषा से लोग थोड़ा-थोड़ा परिचित हो गए हैं। यहाँ मद्रास प्रेसीडेन्सी के इस तिरुपत्तूर आश्रम में जब मैं लोगों की बातचीत सुनता हूँ तो उत्तर के उन संस्कृत शब्दों को पहचान लेता हूँ जो तमिल में घुल मिल गए हैं। कल एक व्यक्ति मुझसे मिलने आया था, उससे जब मैंने अंग्रेजी में बातचीत करने की कोशिश की तो उसने कहा, 'कृपा करके हिन्दुस्तानी में बातचीत कीजिए'। और जब मैं उस भाषा में बोला तो वह मेरी बात आसानी से समझ गया।"

सी० एफ० ऐण्ड्रूज की यह पुस्तक १६३६ में प्रकाशित हुई थी, तब से दक्षिण में हिन्दी पढ़नेवालों और हिन्दी समझनेवालों की संख्या बहुत बढ़ गई है। अंग्रेजी पढ़नेवालों और अंग्रेजी समझनेवालों की संख्या उसी अनुपात में नहीं

बढी। अंग्रेज़ी के समर्थक अब भी मुट्ठी-भर बुद्धिजीवी ही हैं।

भारत प्रेमी ब्रिटिश महिला ऐनी बेसेंट ने 'इंडिया बाउण्ड और फ्री' में राजभाषा अंग्रेज़ी के विरुद्ध अपनी अन्य किसी रचना से यह कथन उद्धृत किया था—"जब मैकाले ने अंग्रेज़ी शिक्षा पर जोर दिया था, तब वह भारत के महान् साहित्य को घृणा की दृष्टि से देख रहा था। उसने यह न अनुभव किया था कि अंग्रेज़ी शिक्षा पर जोर देकर वह विशाल जनता को अज्ञान के हवाले कर रहा था। रोटी के बदले वह पत्थर दे रहा था। लड़के शिक्षा पाते थे और अपने देश की श्रेष्ठ कृतियों से अपरिचित रहते थे। वे अंग्रेज़ी में वक्तृता भाड़ सकते थे अपनी मातृभाषा में नहीं। किसी देश में राष्ट्रीयता के भाव नष्ट करने का इससे अधिक कुशल उपाय नहीं है कि एक विदेशी भाषा को उच्च वर्गों की भाषा, कानून और अदालतों की, कॉलेजों की भाषा बना दिया जाय और सरकारी नौकरियों के लिए उस विदेशी भाषा की जानकारी आवश्यक कर दी जाय।"

ऐनी बेसेंट का कथन जितना युक्तिपूर्ण तब था, उतना ही आज भी है। अंग्रेज़ों के जाने के बाद साम्राज्यवाद से भारतीय जनता का अन्तर्विरोध समाप्त नहीं हो गया। इन्डोनेशिया, पाकिस्तान, मिस्र, सीरिया आदि एशिया के देशों में साम्राज्यवाद अपने मित्रों की तलाश में है जिनकी सहायता से वह इन देशों के आन्तरिक जीवन में हस्तक्षेप करे। इसलिए भारतीय जनता की राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने की ओर हमें सचेत रहना चाहिए।

ऐनी बेसेंट ने 'इंडिया बाउण्ड और फ्री' में उपर्युक्त कथन उद्धृत करने के बाद लिखा था, "मैं यही कहना चाहूँगी कि इंग्लैंड ने बहुत-कुछ, यद्यपि पूरी तरह नहीं, उसी शिक्षा नीति का अनुसरण किया था जिसे पोलैंड में रूस ने लागू किया था। स्कूलों में पोलिश भाषा में शिक्षा देना बन्द करा दिया गया था और वहाँ रूसी का वैसे ही प्रयोग होता था जैसे यहाँ अंग्रेज़ी का। सभी देशों के तानाशाह एक-दूसरे से मिलते जुलते हैं।"

आज उसी तरह कुछ अंग्रेज़ी प्रेमी सज्जन शिक्षा संस्थाओं में भारतीय भाषाओं की तुलना में अंग्रेज़ी को उच्चतर स्थान देना चाहते हैं। इससे भारतीय भाषाओं की कितनी क्षति होती है, इसकी ओर वे ध्यान नहीं देते। अंग्रेज़ी भाषा के आधुनिक 'लिबरल' हिमायतियों से एण्ड्रूज और बेसेंट के विचारों की तुलना कीजिए तो पता चल जायगा कि इन भद्रजनों का दृष्टिकोण कितना प्रतिक्रियावादी है। राज्यसत्ता जनता के लिए है, जनता राज्यसत्ता के लिए नहीं है, यह सत्य उनकी समझ से परे है। वे राज्यतन्त्र को उसी पुराने नौकर-शाही ढंग से चलाना चाहते हैं जिसमें नौकरशाह जनता के नौकर न होकर उसके शाह होते थे। यह युग जनतन्त्र का है, जनता अधिक-से-अधिक शासन-तन्त्र में भाग लेगी। शासनतन्त्र जनता के उत्पीडन का यन्त्र न होकर उसकी सेवा का माध्यम बनेगा। इस शासनतन्त्र में जनता अपनी भाषाओं द्वारा और केन्द्रीय

राजकाज मे हिन्दी द्वारा ही भाग ले सकती है। अंग्रेजी चाहे जितनी समृद्ध हो और हिन्दी चाहे जितनी दरिद्र हो, राजभाषा के रूप मे अंग्रेजी का भविष्य अन्धकारमय है हिन्दी का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल। अंग्रेजी के समर्थक इतिहास की प्रगति से युद्ध कर रहे हैं, इसलिए उनकी पराजय निश्चित है।

राजभाषा की समस्या किसी भाषा के समृद्ध होने की कसौटी पर न तो अन्यत्र हल हुई है, न यहाँ होगी। सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की आवश्यकताओं ने अनेक बुद्धिजीवियों को भारतीय भाषाएँ अपनाने पर पहले भी बाध्य किया था, आगे भी करेंगी। इन आवश्यकताओं मे कुछ अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं ने इजाफा किया है। राष्ट्रीय आत्म सम्मान का निर्वाह शायद देश मे इतना आवश्यक नही होता जितना विदेश मे। अखबारों के अनुसार स्वाधीन भारत के प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने जनवरी मे प्राग्ज्योतिषपुर मे कहा था, "मैं अंग्रेजी का पक्षपाती हूँ। मैं चाहता हूँ कि न केवल भारत मे अंग्रेजी पढ़ी जाय वरन् उसकी शिक्षा का और भी प्रसार हो। लेकिन मैं इसकी कल्पना नही कर सकता कि कोई अंग्रेजी को भारत की राष्ट्रभाषा कहे। मैं चाहता हूँ कि लोग इस बात पर ध्यान दें। यह कहना कि अंग्रेजी एक राष्ट्रीय भाषा है, सत्य के विरुद्ध है। यह झूठ है। मैं नही समझता कि यह दलील कैसे दी जा सकती है। यह बात विचारणीय है कि हम कब तक अंग्रेजी का व्यवहार करते हैं या व्यावहारिक कारणो से अंग्रेजी और हिन्दी दोनो को काम मे लाते हैं।"

इसके बाद अखबारी विवरण के अनुसार "श्री नेहरू ने कहा कि विदेश मन्त्री की हैसियत से अन्य देशो को कागज पत्र भेजते हुए वह बड़े असमंजस मे पड़े कि जिन देशो मे अंग्रेजी नहीं बोली जाती, उन्हें अंग्रेजी मे लिखे हुए कागज पत्र कैसे भेजे जाएँ। दुनिया अंग्रेजी बोलनेवाले देशो से बड़ी है। बड़े असमंजस की बात थी। उन्होने अंग्रेजी मे कागज भेजना बन्द कर दिया। अब वह सदा उन्हें हिन्दी मे भेजते थे, उनकी सुविधा के लिए अंग्रेजी मे अनुवाद साथ रहता था लेकिन मूल हिन्दी मे होता था। जब उन्हें रूस या चीन से कोई खरीता मिलता था, तो वह हमेशा रूसी या चीनी मे होता था। हो सकता है, साथ मे अंग्रेजी मे अनुवाद भी रहता हो। कुछ भी हो वह कह यह रहे थे कि दुनिया के सामने भारत मे यह घोषित करना बड़ी अजीब बात थी कि भारत की राष्ट्रभाषा अंग्रेजी है। इस 'कल्पना से ही मेरा सिर चकरा उठता है'।"

अंग्रेजी प्रेमियो के दुर्भाग्य से दुनिया अंग्रेजी-भाषी देशो से बहुत बड़ी है। इस अंग्रेजी विहीन दुनिया मे साठ करोड़ आबादी का महादेश चीन है। इसमे संसार के छठे भाग में फैला हुआ समाजवादी सोवियत देश है। सोवियत संघ, चीन और भारत मे जो भाषा न चले, उसे विश्वभाषा नही कहा जा सकता। इन तीन देशो से एशिया और यूरोप का अधिकांश भाग घिरा हुआ है। इनके साथ अफ्रीका और दक्षिण अमरीका को मिला लीजिये, यूरोप से जर्मनी, इटली, **फ्रांस, स्पेन**

ग्रौर पूर्वी यूरोप के देशों को भी गिन लीजिये तो पता चल जाएगा कि अंग्रेजी का विश्वभाषा होना कितना सार्थक है।

अस्तु, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही कारणों से अंग्रेजी को राजभाषा का पद छोडना होगा। जो लोग भारतीय जीवन के कल्पित या वास्तविक अन्तर्विरोधों के कारण अंग्रेजी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित रखना चाहते हैं, वे लिबरलों, अंग्रेज-भक्तों, अल्पसंख्यकों के उन तथाकथित प्रतिनिधियों का अनुसरण करते हैं जो अंग्रेजी राज को आवश्यक बताकर, अंग्रेजों को न्यायकर्ता बनाकर पराधीनता के बन्धनों को दृढ करते रहे थे। भारतीय जनता की राष्ट्रीय भावना इन भारतवासियों के अंग्रेजी-प्रेम पर अवश्य विजय पायेगी। (१९५८)

१७

बहुजातीय राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा हिन्दी

समाचारपत्रों के अनुसार दिल्ली में श्री हुमायूँ कबीर ने कहा कि हिन्दी-भाषी लोग जब हिन्दी को राजभाषा बनाने पर जोर देते हैं, तब कम-से-कम अंशत उनके मन में यह कामना रहती है कि वे सार्वजनिक जीवन और नौकरियों के मामले में अहिन्दी-भाषियों के मुकाबले में फायदे में रहेंगे।

विश्वविद्यालयों की शिक्षा और राष्ट्रीय एकता के सम्बन्ध में भाषण करते हुए

देश ने अब इतनी प्रगति कर ली है कि कोई भी माँग जातीय स्वार्थ से परे नहीं समझी जा सकती। हिन्दीभाषी जनता हिन्दी को राजभाषा बनाने की माँग करती है तो यह भी नौकरियाँ पाने के लिए। अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी के एक प्रचारक महात्मा गांधी भी थे। पता नहीं, नौकरी पाने की किस छिपी हुई कामना से उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए प्रचार किया था।

श्री कबीर ने कहा कि देश की सभी मुख्य भाषाओं को समानता का दर्जा मिले तो परस्पर शंका और संघर्ष की भावना दूर हो जाय। यह बहुत नेक सलाह है और हम उसका समर्थन करते हैं। किन्तु विभिन्न भाषाओं के बोलनेवालों में जो संघर्ष और मतभेद दिखाई देता है, उसका कारण भाषा ही नहीं है, हिन्दी भाषा तो और भी नहीं। पिछले दिनों आंध्र प्रदेश में जातीय एकीकरण के लिए प्रबल आन्दोलन उठा। इसका कारण भाषा न थी; हिन्दी भाषा और भी नहीं। बम्बई को लेकर गुजरात-महाराष्ट्र में, अलग राज्य (अथवा प्रान्त) बनाने की माँग को लेकर केन्द्रीय सत्ता और इन प्रदेशों की जनता में जो तनातनी अभी तक बनी हुई है, उसका कारण हिन्दी नहीं है। इस तरह के और बहुत-से झगड़े हैं जिनका सम्बन्ध जातीय प्रदेशों के एकीकरण, सीमा निर्धारण, उद्योगीकरण आदि से है। इन सारे मतभेदों को भाषा-सम्बन्धी विवाद के खाते में नहीं डाला जा सकता। इनसे स्पष्ट है कि देश में राष्ट्रीय एकता को कमजोर करनेवाले जातीय मतभेद के जो चक्र चल रहे हैं, उनसे हिन्दी का बहुत कम सम्बन्ध है। राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा हिन्दी से नहीं है वरन् इस जातीय विद्वेष और अलगाव की भावना से है। तमिलनाडु में तमिल राजभाषा है किन्तु वहाँ का एक दल इस प्रदेश को भारत से

अलग करने की माँग करता है। उत्तर में कश्मीर और दक्षिण में तामिलनाडु—इन दो प्रदेशों में कुछ दलों का भारत से अलगाव के नारे लगाना परिस्थिति की गम्भीरता की सूचना देता है।

यह बात सही है कि एक आदर्श जनतन्त्र में किसी भाषा को विशेषाधिकार न मिलने चाहिए। किन्तु यह बात सही नहीं है कि हिन्दी को राजभाषा बनाने के विरोधी अंग्रेजी के विशेषाधिकारों के बारे में चुप रहें, उन्हें सिर झुकाकर स्वीकार कर लें, अंग्रेजी को अन्तर्राष्ट्रीय और विश्व-भाषा कहकर उन विशेषाधिकारों की रक्षा करें, इससे उनके जनवादी अन्त करण को ज़रा भी कष्ट न हो, किन्तु हिन्दी के विशेषाधिकार प्राप्त करने की सम्भावना मात्र से वे आसमान सिर पर उठा लें। यह मनोवृत्ति मुस्लिम लीग के उन नेताओं की याद दिलाती है जो बहुसंख्यक हिन्दुओं के शासन-भय से अंग्रेज़ी राज की शरण लेते थे।

भारत एक बहुजातीय राष्ट्र है। राष्ट्रीयता और बहुजातीयता—इन दो पक्षों में से एक को भी भुलाना घातक होगा। जो लोग राष्ट्र का यह अर्थ लगाते हैं कि उसमें एक ही भाषा बोलनेवाले रहते हों, वे भारतीय राष्ट्रीयता के विकास को आँखों से ओझल कर देते हैं। शताब्दियों से यहाँ विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाले लोग रहते आये हैं। आज यह तथ्य और भी स्पष्ट है—प्राचीन अतीत की समस्याओं की तरह अस्पष्ट और विवादास्पद नहीं, वर्तमान के ज्वलन्त सत्य के समान असंदिग्ध है। इन जातियों की सीमारेखाएँ कोई मिटाना भी चाहे तो वह सफल न होगा। उनकी समानता, भाईचारे, परस्पर सहयोग और एकता के बल पर ही राष्ट्रीय एकता दृढ़ हो सकती है।

साथ ही भारत देश एक राष्ट्र है, 'सब कॉन्टीनेन्ट' (उप-महाद्वीप) नहीं है। यहाँ सोवियत देश की तरह मजदूर वर्ग द्वारा सत्ता प्राप्त करने के बाद विभिन्न जातियों द्वारा स्वेच्छा से संघ बनाने का प्रश्न नहीं उठता। भारत विभिन्न जातियों द्वारा निर्मित संघ नहीं है, वह ऐतिहासिक विकासक्रम में संगठित एक राष्ट्र है। भारतीय जनता में राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास विश्व इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। समाजवादी सत्ता कायम होने से पहले इस तरह की बहुजातीय राष्ट्रीयता का विकास किसी देश में नहीं देखा गया। चीन में गैर चीनी जातियों की स्थिति हमारे यहाँ के कोल-भीलों की दशा से मिलती जुलती थी। वहाँ उस तरह की बहुसंख्यक गैर विकसित गैर-चीनी जातियाँ नहीं रहीं जैसी भारत में गैर-हिन्दी जातियाँ हैं। यूरोप के पूँजीवादी देशों ने जो बहुजातीय राष्ट्र कायम किये, उनमें शासक जाति से भिन्न सभी जातियाँ दासों की स्थिति में होती थीं।

भारतीय राष्ट्र की एकता की भावना अंग्रेजों की देन नहीं है, वह अंग्रेजों के आने से बहुत पहले की है। यह धार्मिक भावना मात्र नहीं है क्योंकि इसका सम्बन्ध एक ही धर्म से नहीं रहा। धार्मिक सहनशीलता और उदारता के कारण यहाँ प्राचीन काल से अनेक धर्म—अनीश्वरवादी धर्म तक—पल्लवित होते रहे

किन्तु यह देश बौद्धो, जैनो या हिन्दुओ का राष्ट्र नही माना गया। यह एकता केवल भौगोलिक नहीं है। यहाँ के राज्यों की, विशेषकर उत्तर भारत के राज्यो की सीमाएँ देश से बाहर उत्तर-पश्चिम म दूर तक फैली रही है। यदि भौगोलिक एकता नियामक कारण होती तो भारत-विभाजन की नौबत न आती। भौगोलिक और धार्मिक कारण भी रहे हैं किन्तु मुख्य कारण है यहाँ की जातियो का सामान्य इतिहास, उनकी सास्कृतिक समानताएँ, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रो मे उनका परस्पर सम्बद्ध और मिला-जुला विकास। इस ऐतिहासिक आधार पर ही यहाँ की राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ है।

मार्क्सवाद ने जातियो के विकास पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। लेनिन और स्तालिन के अनुसार जातियाँ पूँजीवाद के अभ्युदय-काल की देन हैं। किन्तु मार्क्सवाद की किसी पुस्तक मे भारत-जैसी बहुजातीय राष्ट्रीयता के विकास की व्याख्या नही मिलती। कुछ लोग यात्रिक ढग स यहाँ की परिस्थितियो पर मार्क्सवाद लागू करते हुए इस परिणाम पर पहुँचे थे कि यहाँ हर जाति अपनी सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न विधान सभा बनाये, फिर ये विधान सभाएँ यहाँ अपना सघ निर्मित करें। इस तरह के विचारको के अनुसार सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति मे राष्ट्रीय चेतना का अभाव था, कारण यह कि राष्ट्रीयता का आधार रेल-तार थे जिनका पूरी तरह चलन न हुआ था। भारतीय इतिहास की वास्तविकता पर ध्यान दिए बिना यह कभी समझ मे न आयेगा कि माधवजी सिन्धिया ने पेशवा को मुगल बादशाह का नायब क्यो घोषित किया, १८५७ ५८ मे देश के विशाल भाग की जनता शाही झण्डे के नीचे क्यो लडी, झाँसी म 'मुल्क बादशाह का, अमल रानी लक्ष्मीबाई का' की डुग्गी क्यो पीटी गई। सी० एफ० ऐण्ड्रूज जैसे विदेशी लेखको ने ज्यादा सचाई से लिखा था कि अंग्रेजो के आने के बाद राष्ट्रीय चेतना दृढ भले हुई हो, वह विद्यमान पहले से थी।

वर्तमान काल म जातियो की एकता और समानता की जो समस्या हमारे सामने है, उसका घनिष्ठ सम्बन्ध इस राष्ट्रीय चेतना के ऐतिहासिक विकास से है। हम जातीय समस्या और भाषा की समस्या को अपना इतिहास भुलाकर हल करेंगे या उसे राष्ट्रीयता के सन्दर्भ मे हल करेंगे? राष्ट्रीयता के सन्दर्भ को भुलाकर जब हम उसे हल करते है, तब सीमान्त पर साम्राज्यवादी अड्डे कायम होते हैं। दस साल मे एक बार भी आम चुनाव नहीं होता, जनतन्त्र के बदले धर्म-विशेष का राज्य कायम किया जाता है। लाखों की तादाद म नर-नारी बेघर-बार होकर खुद तबाह होते है और देश के अर्थतन्त्र को सकट में डाल देते हैं। यह जातीय अलगाव बहुत जल्दी साम्राज्यवादी षड्यन्त्र का अग बन जाता है। जिन उप-निवेशो पर साम्राज्यवाद ने शासन किया है, उन्हे वह स्वाधीन नही देखना चाहता। एक साम्राज्यवादी ताकत गई तो दूसरी उसे हडपने को तैयार रहती है। अलगाव का नारा राष्ट्रीय एकता को कमजोर करनेवाला और साम्राज्यवाद तथा युद्ध की ताकतो को शहजोर करनेवाला है।

इसलिए जातीय समस्या और भाषाओ के समान अधिकारो की समस्या राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ मे हल करनी होगी।

भारत मे प्रत्येक भाषा को अपने क्षेत्र मे राजकीय और सास्कृतिक कार्यों मे पूर्ण अधिकार प्राप्त होने चाहिए। साधारण हिन्दी जनता, हिन्दी का शिक्षित वर्ग और लेखक इस स्थिति के पक्ष मे हैं। हिन्दी-पत्रो मे यह बार-बार कहा गया है कि हिन्दी किसी भाषा के अधिकार नही छीनना चाहती; अहिन्दी-भाषी जातियो के परस्पर व्यवहार के लिए अग्रेजी की जगह हिन्दी होनी चाहिए।

कई शताब्दियो से देश की विशेष परिस्थितियो के कारण हिन्दी अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा बनती रही है। उत्तर भारत मे केन्द्रबद्ध मुगल शासन का होना, यहाँ आगरा जैसे व्यापार के बडे-बडे केन्द्रो का निर्माण, उन्नीसवी सदी से पूर्व ही यहाँ के लोगो का विभिन्न प्रदेशो मे फैलना ऐसे ही कारण थे। अग्रेज व्यापारी भी उस समय अपनी सुविधा के लिए हिन्दी सीखते थे। वर्तमान काल मे दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सर्वत्र ऐसे व्यापारी और पूँजीपति मिलेंगे जिनकी सास्कृतिक भाषा हिन्दी है। हिन्दी के प्रसार का एक बहुत बडा कारण कलकत्ता-बम्बई जैसे केन्द्रो मे लाखो 'हिन्दुस्तानी' मजदूरो का निवास है। इन बडे-बडे नगरो के अतिरिक्त प्रत्येक जातीय प्रदेश म अल्पसख्यको के रूप मे हिन्दुस्तानी मिलेंगे। विशाल आध्र मे हैदराबाद और उसके आस-पास हिन्दुस्तानियो का भारी जमघट है। अहिन्दी प्रदेशो में इस प्रकार हिन्दी को अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा बनाने मे सुविधा मिली है।

इसके अतिरिक्त सीलोन रेडियो और विविध भारती (और पाकिस्तान रेडियो भी) की कृपा से फिल्मी सगीत द्वारा देश के चारो कोनो तक रोज शाम-सबेरे हिन्दी गूँजती रहती है। कभी इन फिल्मी गानो की फरमाइश करनेवालो के नाम सुनिए। जितने हिन्दी-भाषी प्रदेश के होते हैं, उतने ही अहिन्दी-भाषी प्रदेशो के। स्वय गायको और गायिकाओ मे एक अच्छी सख्या अहिन्दी कलाकारो की रहती है। विशाल हिन्दी-भाषी प्रदेश फिल्मो के लिए सबसे अच्छा बाजार है। ये व्यावसायिक परिस्थितियाँ बहुतो के न चाहने पर—और शायद उनके न जानने पर भी—हिन्दी को राष्ट्रभाषा बना रही हैं।

इनके सिवा हिन्दी भाषा, लिपि और साहित्य की कुछ विशेषताएँ है जो इस कार्य मे सहायता करती है। हम यहाँ उनका उल्लेख नही करते।

हिन्दी अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा बन रही है, जनसाधारण के लिए अभी भी वह ऐसी भाषा है। वह केन्द्रीय राजकाज की भाषा भी जल्दी बन सकती है। इसमे एक बाधा है हिन्दी-भाषियो का असगठन, उनमे जातीय चेतना की कमी। हिन्दी-भाषी प्रदेश के राज्यो मे भी हिन्दी अभी पूरी तरह राजकाज की भाषा नही बनी है। दक्षिण के लोगो की यह आपत्ति अनुचित नही है कि पहले अपने घर मे हिन्दी को राजभाषा बना लो, फिर उसे सारे देश की राष्ट्रभाषा बनाना। यदि हिन्दी भाषी जनता सगठित हो, यदि वह अपने प्रदेश मे हिन्दी

१८

हिन्दी की व्याकरण-सम्बन्धी कठिनाइयाँ

हिन्दी की व्याकरण-सम्बन्धी कठिनाइयों से कुछ अंग्रेजी-प्रेमी भारतवासी इतना परेशान है कि वे कभी कभी उसके कलकत्ता-बम्बई जैसे नगरों में कुछ अहिन्दी-भाषियों द्वारा व्यवहृत रूप को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने की बात करते हैं। इनमें राजनीतिक नेताओं के अलावा कुछ प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक भी हैं जिन्होंने यथेष्ट गम्भीरता से यह प्रस्ताव रखा है। अंग्रेजों के सम्पर्क में आनेवाले हिन्दुस्तानी खानसामा भी अंग्रेजी का एक सरल रूप काम में लाते थे जो साहब और उनके बीच की सांस्कृतिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्याप्त होता था। कुछ देशों के कुलियों आदि ने इसी तरह अंग्रेजी को सरल करके अपना काम निकाला है। लेकिन इस देश में न तो हिन्दी भाषी जनता अंग्रेज साहबों की स्थिति में है, न अहिन्दी-भाषी जनता कुलियों और खानसामाओं की। इस कारण जो लोग हिन्दी के तथाकथित सरल व्याकरण विहीन रूप को अपनाने की बात करते हैं, वे अपने और हिन्दी-भाषियों के प्रति अन्याय ही करते हैं। कहना न होगा कि खानसामा-अंग्रेजी को भारत की लिंगुआ-फ्राङ्का या विश्वभाषा बनाने की बात नहीं की जाती। इसके विपरीत इस कोटि के राष्ट्रभाषा-प्रेमी अंग्रेजी-शिक्षा का स्तर गिरने से नितान्त व्यथित रहते हैं और आए दिन इस स्तर को उठाने के लिए नये-नये उपाय भी सुझाया करते हैं। यह बात भी कम मनोरंजक नहीं है कि एक ओर वे हिन्दी के दरिद्र होने की, उसमें उच्च कोटि के साहित्य के अभाव की घोषणा करते हैं, दूसरी ओर व्याकरण की कठिनाइयों से मुक्त हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाने का 'जनतान्त्रिक' सुझाव भी देते हैं।

अंग्रेजी भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी कठिनाइयाँ कम नहीं हैं। डेढ़ सौ साल से लगातार अंग्रेजी पढ़ने के बाद भी इस भाषा को सीखने का स्तर जो गिरता नज़र आ रहा है, उसका कारण विद्यार्थियों और शिक्षकों की प्रतिभा के अलावा उस भाषा की खूबियाँ भी हैं। किन्तु अंग्रेजी-प्रेमी देशभक्त अपनी प्रिय भाषा की व्याकरणगत कठिनाइयों से जरा भी विचलित नहीं होते, उन्हें शिकायत है हिन्दी की कठिनाइयों से। इनमें भी सारे फसाद की जड़ उनकी समझ में हिन्दी का लिंग-

भेद है।

हिन्दी शब्दों की लिंग-सम्बन्धी कठिनाई वास्तविक है। यह कठिनाई आहन्दी-भाषियों के लिए ही नहीं है, भोजपुरी आदि पूर्वी बोलियों के क्षेत्रों में हिन्दी बोलनेवालों के लिए भी यह कठिनाई विद्यमान है। इतिहासकारों का कहना है कि एक बार दिल्ली के कत्लेआम में 'खारा पानी' कहनेवालों को पछाँह का समझकर छोड़ दिया गया, 'खारी पानी' कहनेवालों को पूरब का मानकर उन्हें तलवार के घाट उतार दिया गया। इस कठिनाई से ऐसे नतीजे भी निकल सकते हैं!

भाषा का निर्माण किसी अकादमी में नहीं होता, न उसका व्याकरण बनाने का काम राजनीति विशारद करते हैं, वरना यह कठिनाई दूर हो जाती। संस्कृत के महान् वैयाकरण भी, जो भाषा को व्यवस्थित करने में अपना सानी नहीं रखते, इस कठिनाई से पार न पा सके। शत्रु पुल्लिग, मित्र नपुंसक लिंग! वृक्ष जैसा जड़ पदार्थ पुल्लिग, हृदय जैसा तरल और गतिशील पदार्थ नपुंसक लिंग! पांसु (धूल), परशु, इषु (बाण) जैसे निर्जीव पदार्थ पुल्लिग हैं, शरीर और शीर्ष जैसे सजीव पदार्थ नपुंसक लिंग हैं।

इस देश के सांस्कृतिक इतिहास में संस्कृत का जो महत्त्व रहा है, उसे सभी लोग जानते हैं। भारत की भाषाओं पर उसका जो व्यापक प्रभाव पड़ा है, वह भी किसी से छिपा नहीं है। संस्कृत शब्दों की लिंग-सम्बन्धी कठिनाई से उसके प्रसार में कोई बाधा नहीं पड़ी। सम्भव है, कुछ सज्जन कहें कि इस कठिनाई के कारण ही वह मृत भाषा हुई। यदि ऐसा होता तो संस्कृत भाषी प्रदेश की भाषाएँ— जिनमें हिन्दी सर्वोपरि है—इस कठिनाई से मुक्त होतीं।

संस्कृत के समान यूरोप की भाषाओं और संस्कृति पर प्राचीन यूनान की भाषा—वहाँ अनेक भाषाएँ थीं, हमारा तात्पर्य एथेन्स की भाषा से है—का प्रभाव पड़ा। किसी समय वह भूमध्य सागर के तट पर फैले हुए अनेक यूनानी उपनिवेशों के कारण एक विशाल भूभाग में फैल गई थी। इस भाषा में अरस्तू और अफलातून जैसे विचारकों ने, सोफोक्लीज, यूरिपिदीज जैसे नाटककारों ने, हेराक्लितस जैसे दार्शनिकों ने अपनी रचनाएँ कीं जिनके आधार पर यूरोप की संस्कृति का प्रासाद निर्मित हुआ। इस भाषा में गेनोस (संस्कृत जन) नपुंसक है किन्तु दिमोस (जनता) पुल्लिग है! थूरा (द्वार), माखइरा (तलवार), अकन्था (काँटा) जैसी बेजान चीजें स्त्रीलिंग हैं। यदि आप कहें ये आकारान्त हैं, इसलिए स्त्रीलिंग हैं तो देखिए स्तीमा (समाधि), ओइको दोइमा (भवन) आदि नपुंसक लिंग हैं। नेक्रोस् (शव) तो पुल्लिग है, पाइदिओन् (शिशु) नपुंसक लिंग है!

प्राचीन यूनानी के समान और भी बड़े पैमाने पर लैटिन व्यवहार में आई। वह शताब्दियों तक इटली ही नहीं, यूरोप की धार्मिक और सांस्कृतिक भाषा रही। इसमें भी यूनानी भाषा की तरह लिंगभेद वर्तमान था। अग्नि के लिए दो शब्द हैं, 'इन्केण्डियम्' और 'इग्निस्', पहला नपुंसक, दूसरा पुल्लिग है। जनता के लिए दो शब्द हैं, गेन्स् (जन) और पोपूलुस्; पहला स्त्रीलिंग है, दूसरा पुल्लिग। इस्वेर

(वर्षा), टूरिस् (मीनार), मारे (समुद्र) तीनो को स्वभावत नपुसक लिंग होना चाहिए किन्तु ये क्रमश: पुल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुसक लिंग हैं। अक्वीला (बाज) और अग्रिकोला (कृषक) देखने मे एक-से आकारान्त शब्द हैं किन्तु पहला स्त्रीलिंग है, दूसरा पुल्लिग।

लैटिन की उत्तराधिकारिणी भाषाओ मे फ्रासीसी भाषा भी है। वह यूरोप मे अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा रही है। उसमें घर के लिए दो शब्द हैं, मेंजों, बातीमां, पहला स्त्रीलिंग है, दूसरा पुल्लिग। इसी प्रकार धरती के लिए तेयर और पेयी, मार्ग के लिए रूत और शर्मैं शब्दो मे पहला स्त्रीलिंग है, दूसरा पुल्लिग। फ्रासीसी लोग पर्वत जैसी विशाल वस्तु (मोताञ्) को स्त्रीलिंग विज्ञापित करते हैं, पुस्तक जैसी छोटी चीज (लीव्र) को पुल्लिग।

यूरोप के एक विशाल प्रदेश मे व्यवहृत फ्रासीसी की तरह एक हद तक अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा जर्मन है। उसमे सस्कृत के समान ही लिंगभेद है। पत्थर (श्टाइन), वृक्ष (बाउम), जूता (शू) जैसे निर्जीव पदार्थ पुल्लिग हैं, जनता (फोल्क), नारी (इसके लिए एक शब्द व्वाइप भी है), लडकी (मेडखेन) आदि सजीव वस्तुएँ नपुसक लिंग है। सस्कृत के समान जर्मन मे तीनो लिंग विद्यमान है और शब्द के अर्थ या रूप से उन्हें पहचानना आसान नही है।

ससार के छठे भाग मे फैले हुए सोवियत सघ की अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा रूसी है। इसमे भी संस्कृत और जर्मन की तरह तीनो ही लिंग हैं। अधिकतर निर्जीव पदार्थ नपुसक लिंग होते हैं किन्तु पुस्तक (क्नीगा), होटल (गस्तीनित्सा), पुस्तकालय (बिब्लियोतेका) आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं। यद्यपि शब्दो के रूप से उनका लिंग पहचाना जा सकता है, फिर भी इस विषय में नियमो के अनेक अपवाद हैं।

प्राचीन काल से आज तक ससार की अनेक और प्रमुख भाषाएँ शब्दो में लिंगभेद करती रही हैं। यह भेद वास्तविक न होकर—शब्दो द्वारा विज्ञापित वस्तु के लिंग का अनुसरण न करके—बहुधा शब्दो के रूप के अनुसार होता है। शब्दों का रूप देखकर उसका लिंग निश्चित करना सदा सरल नही होता। इस सम्बन्ध मे कुछ मोटे नियमो का पालन किया जाता है किन्तु उनके अपवादो की सख्या कम नही है। भाषा ससार के पदार्थों, मनुष्य के व्यवहार और चिन्तन की अभिव्यजना के लिए ही विकसित हुई है। वह इस भौतिक जगत् और मनुष्य के भौतिक जीवन से विलग होकर विकसित नही हुई। उसकी जड़ें इसी भौतिक जीवन और जगत् मे हैं। किन्तु भाषा भौतिक जगत् से मनुष्य का सम्बन्ध विज्ञापित करने का साधन ही नहीं है। जैसे सगीत मे विभिन्न प्रदेशो की जातियो को स्वरो का विशेष सामजस्य, उनका विशेष आरोह-अवरोह पसन्द आता है, वैसे ही भाषा के क्षेत्र में विभिन्न जातियाँ शब्दो के साथ विशिष्ट रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती हैं। एक ही वस्तु के लिए विभिन्न भाषाओ के पर्यायवाची शब्दो मे लिंग-सम्बन्धी अन्तर होता है। एक ही भाषा मे किसी वस्तु के लिए भिन्न लिंगवाले पर्याय-

वाची शब्दो का प्रयोग देखा जा सकता है। दूसरो के लिए इस वैचित्र्य के कारण भाषा कठिन हो जाती है किन्तु उसके बोलनेवालों के लिए इस वैचित्र्य का रागात्मक मूल्य है। भाषा के समस्त ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप यह विभिन्नता उत्पन्न होती है। वह भाषा की सजीव परम्परा का अग होती है। उसे समाप्त करना वैसे ही असम्भव है जैसे मुहावरो का समाप्त करना। मुहावरो की तरह लिंग भेद सीखना होता है। अन्तर्जातीय व्यवहार की कठिनाइयाँ दूर करने के लिए भाषा के रूप को न तो आज तक कहीं बदला गया है, न अब बदला जा सकता है। अन्य भाषाओ और जातियो के सम्पर्क म आने से भाषा मे परिवर्तन होते हैं। किन्तु इन परिवर्तनो का सम्बन्ध व्याकरण स सबसे कम होता है। अग्रेजी ने ससार की अनेक भाषाओ से शब्द लिये हैं—वास्तव में जर्मन या रूसी की तुलना में उसकी अपनी पूँजी नगण्य है—किन्तु उसके व्याकरण मे कितना परिवर्तन हुआ है? उसने शब्द दूसरो के लिये किन्तु व्याकरण के रूप अपने रखे। उसका शब्द-भण्डार जितना मिश्रित है, उसका व्याकरण उतना ही अपेक्षाकृत विशुद्ध।

खडी बोली ने अरबी-फारसी से सैकडो शब्द लिये, उसका उर्दू रूप विकसित हुआ। कुछ विद्वानो का विचार है कि बाहर से आनेवाले मुसलमान यहाँ की भाषा समझते न थे, उनकी अपनी भाषाओ और यहाँ की बोलियो—अथवा खडी बोली और फारसी—के मिश्रण से फौजी खेमो और बाजारो मे उर्दू का जन्म हुआ। बाहर से आनेवाले मुसलमानो की भाषा क्या थी, एक थी या एक से अधिक थी, बगाल, कश्मीर, पजाब, केरल आदि प्रदेशो मे मुसलमान वहाँ की भाषा कैसे समझने लगे, इन प्रश्नो का विवेचन न करके हम केवल इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करेंगे कि उर्दू को जन्म देनेवाले मुसलमानो को यहाँ का शब्द-भण्डार स्वीकार करने मे चाहे जो कठिनाई हुई हो, खडी बोली के व्याकरण-रूपो को उन्होने सप्रेम स्वीकार कर लिया। इन रूपो मे लिंग-भेद भी है। ऐसा नहीं हुआ कि लिंग-सम्बन्धी कठिनाई दूर करके बाहर से आनेवाले मुसलमानो ने खडी बोली को अपनाया हो। उन्होंने यहाँ की व्याकरण-परम्परा को—जिसे सीखना शब्दों को ग्रहण करने से ज्यादा कठिन था—स्वीकार किया। भारत की अनेक भाषाएँ—जैसे बँगला—शब्द-भण्डार की दृष्टि से हिन्दी के जितना निकट हैं, उतना उर्दू नहीं है। यदि बाहर से आनेवाले मुसलमान यहाँ के लिंग सम्बन्धी भेद सीख सकते थे तो शब्द-भण्डार की इतनी समानता रहने पर बगाली मित्र उनसे क्यो पार नहीं पा सकते? इस कारण 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' म डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित सुझाव अभी तक अग्राह्य रहा है 'परन्तु यदि ये व्याकरण-विषयक विशिष्टताएँ, जो बाकी के भारतवासियो के लिए वास्तविक कठिनाइयाँ बन रही हैं कम कर दी जायें, जैसा कि पूर्वी हिन्दीवालो तथा बिहारियो ने किया है (?), तो सस्कृतनिष्ठ प्रचलित हिन्दुस्तानी, एक अत्यन्त सहज, सुबोध तथा ओजपूर्ण भाषा बन जाती है। इस सहज बनी हुई हिन्दुस्तानी का

सारा व्याकरण एक पोस्टकार्ड पर लिखा जा सकता है। 'बाजारू हिन्दुस्थानी' के सदृश सुगठित तथा ओजपूर्ण भाषा को हाट बाजार से, जहाँ पर कि उसका स्वतन्त्र, अनवरुद्ध जीवन-प्रवाह पण्डितों की घृणा की परवाह न करते हुए अनवरत रूप से बहा चला जा रहा है, उठाने की आवश्यकता है। हमें उसे आदरपूर्ण आन्तर्जातिक या आन्तर्देशिक भाषा के इतने उच्च स्तर तक उठाना होगा कि वह कम-से-कम सार्वजनिक सभा-सम्मेलनों आदि में प्रयुक्त होने योग्य बन जाय। इसमें साहित्य का सृजन बाद में हो सकता है—आगे चलकर होगा ही (!)। परन्तु वह सारी भविष्य की बात है। अभी हाल के लिए इसे एक द्वितीय भाषा के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है, जिससे सर्वसाधारण को परिचित हो जाने के लिए कहा जा सकता है। यह उसी भाँति फारसी-युक्त उर्दू तथा नागरी-हिन्दी के साथ साथ प्रयुक्त होती रहेगी, जैसे आज होती है।"

अस्तु परिणाम यह निकला कि हिन्दी की लिंग-सम्बन्धी कठिनाइयाँ दूर करके उसे सरल नहीं बनाया जा सकता। जिस तरह खानसामा-अंग्रेजी को राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का दर्जा नहीं मिला उसी तरह अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में कुछ लोगों द्वारा व्यवहृत हिन्दी के टूटे फूटे रूप को देश के राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवहार की भाषा नहीं बनाया जा सकता। यह सही है कि हिन्दी-भाषियों को दूसरों की त्रुटियों पर हँसना न चाहिए, वरन् भाषा-सम्बन्धी अपने प्रयोगों के प्रति उन्हें अधिक सचेत होना चाहिए। साथ ही यह भी सही है कि कुछ अहिन्दी-भाषी मित्र हिन्दी की व्याकरण सम्बन्धी कठिनाइयों को दुर्लंध्य बतलाकर, उन्हें दूर करके भाषा को सरल करने का सुझाव देकर अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा-समस्या हल नहीं कर सकते। धैर्य, उदारता और परिश्रम से ही इस कठिनाई पर विजय प्राप्त हो सकती है। (१९५८)

१६

उर्दू की समस्या

प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू, कांग्रेस की कार्य-कारिणी तथा अन्य राजनीतिक संस्थाओं ने पिछले दिनों उर्दू के संरक्षण की समस्या की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया है। उनके वक्तव्यों का यह मूल्य है कि उन्होंने एक महत्वपूर्ण समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया है जिसके प्रति साधारणतः हिन्दी-भाषी जनता उदासीन हो गई थी। इससे सिद्ध यह होता है कि भारत के साम्राज्यवादी विभाजन में जो अनेक समस्याएं नहीं सुलझीं, उनमें उर्दू की भी एक समस्या है। दुर्भाग्य से इन वक्तव्यों में यह नहीं बतलाया गया कि उर्दू के आरक्षण या दमन के लिए उत्तरदायी कौन है, विभाजन के बाद यह समस्या अब भी क्यों बनी हुई है, उर्दू के संरक्षण के लिए कौन से उपाय किये जाने चाहिएं, इत्यादि। संक्षेप में स्थिति यह है कि भावुकता के अलावा वैज्ञानिक स्तर पर इस समस्या के बारे में इन वक्तव्यों में कुछ नहीं कहा गया।

एक समय था जब कांग्रेस का नेतृत्व हिन्दी-उर्दू को मूलतः एक भाषा मानता था, उनमें अनावश्यक संस्कृत और अरबी शब्द भरने का विरोधी था, हिन्दुओं और मुसलमानों की मिली-जुली भाषा को कौमी जबान कहता था और उसे राजभाषा बनाने पर जोर देता था। आज स्थिति बदल गई है। कौमी जबान की बात करना तो महापाप है, जो सबसे प्रगतिशील बात कही जा सकती है, वह यह कि उर्दू को दबाया न जाय। और कौमी जबान के राष्ट्रभाषा बनने का सवाल नहीं, शुद्ध राष्ट्रभाषा हिन्दी भी राजभाषा नहीं बन पाई, सारे देश में नहीं बन पाई, और अपनी जन्मभूमि उत्तर प्रदेश—तथा अन्य हिन्दीभाषी राज्यों—में भी वह राजभाषा नहीं बन पाई।

देश के राष्ट्रीय नेताओं ने साम्प्रदायिक समस्या को हल किया साम्प्रदायिक मांगों को स्वीकार करके। साम्प्रदायिकता के आधार पर किये हुए समझौते के वृक्ष में राष्ट्रीयता के फल न लगें तो इसमें आश्चर्य क्या? उर्दू का नाम सुनते ही बहुत-से हिन्दी-प्रेमी स्वभावतः परेशान हो उठते हैं। आखिर इन्हीं समस्याओं को हल करने के लिए तो पाकिस्तान बना और यह उर्दू का बखेड़ा अब भी बना हुआ है।

उर्दू-प्रेमियों ने अलग परेशान होकर कौमी जबान को इलाकाई जबान बनाने के लिए दस्तखत इकट्ठे किये। उन्होंने उत्तर प्रदेश या अन्य राज्यों में अंग्रेजी को हटाने के लिए आन्दोलन करना जरूरी नहीं समझा। न उन्होंने इस आन्दोलन की नीति निर्धारित करने के लिए हिन्दी प्रेमियों से सलाह-मशविरा किया। इसलिए वैधानिकता का जामा पहनने पर भी यह एक सीमित साम्प्रदायिक आन्दोलन ही रहा।

उर्दू के सम्बन्ध में अनेक गलत धारणाएँ हिन्दी-प्रेमियों और उर्दू-प्रेमियों दोनों के मन में बनी हुई हैं। इन पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

एक धारणा यह है कि मुसलमानों ने यहाँ आकर उर्दू नाम की एक नई भाषा को जन्म दिया। बहुत-से मुसलमानों को उर्दू से एक प्रकार का धार्मिक प्रेम है, वे उसे अपने धर्म और विशेष संस्कृति की भाषा समझते हैं। बहुत-से हिन्दू इस धारणा को स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में मुसलमान कभी हिन्दुस्तानी नहीं बना, इसलिए उर्दू भी 'अरब जेहादियों का कीर्तिस्तम्भ' है! हिन्दुओं और मुसलमानों में जो चरम साम्प्रदायिकतावादी हैं, वे उसके प्रति एक-सा ही प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि अनेक साम्राज्यवादी भाषा-वैज्ञानिकों का भी यह मत रहा है कि उर्दू इस्लाम की भाषा है।

यदि उर्दू इस्लाम की भाषा है तो पूर्वी बंगाल के मुसलमान बँगला क्यों बोलते हैं? उन्होंने उर्दू के एकमात्र राजभाषा बनाये जाने के विरुद्ध संघर्ष क्यों किया? बंगाल के अलावा केरल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात, कश्मीर आदि प्रदेशों के मुसलमान घर में उर्दू क्यों नहीं बोलते? और हिन्दुस्तान-पाकिस्तान से बाहर तुर्की, ईरान, इराक आदि राष्ट्रों में उर्दू क्यों नहीं बोली जाती?

स्पष्ट है कि संसार में एक हिन्दुओं की भाषा, एक मुसलमानों की भाषा, एक बौद्धों या ईसाइयों की भाषा नहीं है। भाषाओं का निर्माण और विकास धर्म के आधार पर नहीं हुआ। धार्मिक विचारधाराओं के कारण उनके लिखने-बोलने-वालों ने उनमें कुछ नई विशेषताएँ पैदा की हों, वह दूसरी बात है। भाषा का सम्बन्ध जातीयता से है, किसी जाति के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास से है। जाति और धर्म एक वस्तु नहीं है। ईरानी, अरबी, तुर्की जातियाँ इस्लाम धर्म मानती हैं किन्तु इनकी भाषाएँ अलग-अलग हैं। इसी प्रकार भारत की विभिन्न जातियों की अपनी-अपनी भाषाएँ हैं, उन जातियों के प्रदेशों में हिन्दू-मुसलमान दोनों ही उन भाषाओं को बोलते हैं, उनमें अपना सांस्कृतिक काम-काज करते हैं। उर्दू का व्यवहार कहाँ के मुसलमान करते हैं? सबसे पहले हिन्दी-भाषी प्रदेश के, उत्तर प्रदेश, बिहार, दिल्ली, मध्यप्रदेश आदि के। कारण यह कि उर्दू यदि कहीं की जातीय भाषा है तो हिन्दी भाषी प्रदेश की है। इसके बाद कलकत्ता, हैदराबाद, बम्बई जैसे नगरों में मुसलमानों की बस्तियाँ हैं जो अपने मूल प्रदेश से वहाँ पहुँचे हैं या जिनके पुरखे पहले कभी पहुँचे थे। इनके बाद

कश्मीर आदि प्रदेशों के मुसलमान हैं जिनकी मातृभाषा कश्मीरी है या अन्य कोई भाषा है और जो उर्दू भी जानते हैं और उसे काम में लाते हैं।

धर्म के आधार पर उर्दू की रक्षा की बात करना या उसे इस्लाम की भाषा समझकर उसका नाश करने की बात सोचना एक अवैज्ञानिक और प्रतिक्रियावादी कार्य है।

उर्दू इस्लाम की भाषा है, इस धारणा से भिन्न एक दूसरी स्थापना है जो प्रगतिशील और राष्ट्रीय समझी जाती है। वह यह है कि उर्दू हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल से बनी है। दूसरे शब्दों में उर्दू केवल इस्लाम की भाषा नहीं, वह इस्लाम और हिन्दू धर्म दोनों की भाषा है। यह स्थापना देखने में प्रगतिशील मालूम होती है क्योंकि वह राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक हिन्दू-मुस्लिम-एकता की ओर संकेत करती है। इस स्थापना का सहारा लेकर ही अनेक राष्ट्रीय नेताओं और विचारकों ने भाषा-समस्या को हल करने का प्रयत्न किया था और उसमें असफल भी हुए थे।

यदि हिन्दुओं और मुसलमानों के मिलने से उर्दू बनी होती तो बम्बई से कलकत्ता तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक हर जातीय प्रदेश में उर्दू ही बोली जाती, बंगला, मराठी, कश्मीरी, मलयालम आदि भाषाओं का अस्तित्व ही न होता। उर्दू एक विशेष जातीय प्रदेश की भाषा है,भारत के सभी जातीय प्रदेशों की नहीं। उसे मातृभाषा के रूप में काम में लानेवाले वही लोग हैं जो हिन्दी-भाषी प्रदेश के निवासी हैं या वहाँ से जाकर दूसरे प्रदेशों में बस गए हैं। हिन्दी-उर्दू एक ही जातीय प्रदेश की भाषा हैं, इसीलिए उनका बोलचाल का रूप एक-सा है या प्रायः एक-सा है।

भारत में जो मुसलमान आये उनमें कोई पश्तो बोलता था, कोई तुर्की, कोई अरबी, कोई फारसी। उनकी भाषाएँ कम से कम तीन भिन्न परिवारों की हैं। तुर्की, अरबी, फारसी एक दूसरे से भिन्न भाषा-परिवारों की हैं। यदि उर्दू का निर्माण हिन्दुओं-मुसलमानों के मिलने से होता तो उसमें तुर्की के उतने ही शब्द होते जितने फारसी के। या इस्लाम धर्म का सम्बन्ध विशेष रूप से अरबी से जोड़ा जाय तो उर्दू में तुर्की फारसी का बहिष्कार और अरबी संस्कृत का बराबर सम्मिश्रण होना चाहिए था। बाहर से आनेवाले मुसलमानों ने राजभाषा के लिए अरबी नहीं, फारसी को चुना। उनका धर्मग्रन्थ अरबी में है, फारसी में नहीं। फारसी पर अरबी का प्रभाव है, फिर भी वह मूलतः भारत-यूरोपीय परिवार की भाषा है और अरबी की अपेक्षा वह संस्कृत के अधिक निकट है। मुसलमान सामन्तों ने अरबी को राजभाषा क्यों न बनाया? इस पद के लिए उन्होंने फारसी को क्यों चुना? इसलिए कि वे सामन्त अनेक बर्बरताओं के बावजूद मुस्लिम लीग के नेताओं से अधिक उदार थे। फारसी को चुनने में धार्मिक नहीं, सांस्कृतिक कारण प्रधान थे। सांस्कृतिक दृष्टि से ईरान समृद्ध राष्ट्र था, मध्य एशिया और मध्यपूर्व के देशों पर ईरानी संस्कृति की छाप थी। बाहर से आनेवाले मुसलमान यह छाप

अपने साथ लाए थे। मुगल सम्राटो के यहाँ दरबारियो मे काफी ईरानी होते थे; फारसी बोलचाल की भाषा थी। इस कारण मुगल राज्यसत्ता मे फारसी का बोलबाला रहा।

मुसलमान सामन्तो ने ब्रजभाषा मे रचनाएँ की, अनेक सूफियो ने अवधी मे काव्य लिखे, रसखान और रहीम जैसे कवियो ने ऐसी सरस कविताएँ लिखी कि वे आज भी गाँवो मे लोगो की ज़बान पर है। हिन्दी भाषी प्रदेश स बाहर कश्मीरी, पजाबी, बँगला आदि भाषाओ और उनके काव्य-साहित्य के उत्थान और विकास म मुसलमानो ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। आजकल बहुत-से हिन्दू-मुसलमान इन बातो को याद करना पसन्द नही करते। उनस एक अनचाहा परिणाम निकलता है कि मुगल शासनकाल मे फारसी के राजभाषा रहते हुए भी यहाँ की जातीय भाषाओ ने अभूतपूर्व उन्नति की और इस उन्नति मे मुसलमानो का बहुत बडा हाथ था। हिन्दू साम्प्रदायिको को यह निष्कर्ष पसन्द नही है क्योकि उनके अनुसार मुसलमानो ने भारत का कभी अपना देश नही समझा, फिर वे यहाँ की भाषाओ और उसके साहित्य की उन्नति म योग कैसे दे सकते थे? मुस्लिम साम्प्रदायिको को यह निष्कर्ष पसन्द नही क्योकि जातीय भाषाओ के विकास के इस चौखटे मे उनकी उर्दू-सम्बन्धी धारणाएँ फिट नही होती।

तब उर्दू का विकास क्या साम्प्रदायिक कारणो से हुआ? या उर्दू हमारी जातीय भाषा थी और उसके मुकाबले मे हिन्दी का विकास साम्प्रदायिक कारणो से हुआ?

उर्दू का बोलचालवाला रूप वही या प्राय वही है जो हिन्दी का है। इस रूप का एक नाम खडी बोली है। इसे बोलनेवाले हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, ईसाई अनेक धर्मों के लोग हैं। इस रूप को न तो मुसलमानो ने जन्म दिया, न उसे अवध और बिहार मे फैलाने मे एकमात्र उन्होने भाग लिया। फारसी के राजभाषा रहने के कारण इस खडी बोली मे फारसी के सैकडो शब्द आये। फारसी के माध्यम से सैकडा अरबी शब्द भी खडी बोली मे आये। उर्दू के समर्थको का कहना है कि उर्दू को सँवारने और निखारनेवाले हिन्दू भी थे। यह बात सही है। इन मित्रो को इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि उर्दू को सँवारने मे हिन्दुओ और मुसलमानो दोनो ने हिस्सा लिया, फिर भी खडी बोली का एक दूसरा रूप हिन्दी क्यो विकसित हुआ? प्रेमचन्द जैसे देशभक्त उर्दू प्रेमी लेखको ने हिन्दी-सेवा क्यो की?

बहुत से उर्दू-प्रेमियो की यह धारणा है कि एक अच्छी खासी मुश्तर्का जबान बन गई थी, हिन्दीवालो ने एक साम्प्रदायिक आन्दोलन चलाया और अरबी-फारसी के मीठे शब्दो की जगह सस्कृत के भारी-भरकम शब्द रखकर एक नकली जबान गढ ली। उसी साम्प्रदायिक भाषा को अब लोग राष्ट्रभाषा कहने लगे हैं। हिन्दुओ की साम्प्रदायिकता और विश्वासघात के कारण उर्दू का गला घोंटा जा रहा है।

ये मित्र दो तीन बातें भूल जाते हैं। खडी बोली मे अरबी फारसी के शब्दो की आमद हिन्दुओ और मुसलमानो के मिलन का परिणाम नही वरन् यहाँ फारसी

के राजभाषा बनाये जाने का परिणाम है। फारसी यहाँ के किसी प्रदेश की भाषा न थी, न वह बाहर से आनेवाले सभी मुसलमानों की भाषा थी, न वह भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल से बनी हुई भाषा थी। ईरान के प्रति अपनी सांस्कृतिक गुलामी के कारण उन सामन्तों ने उसे राजभाषा बनाया जिनकी मातृ-भाषा तुर्की या कोई अन्य गैर-फारसी भाषा थी। फारसी को राजभाषा बनाना यहाँ की भाषाओं के साथ अन्याय करना था। इस अन्याय में मुसलमानों के साथ अनेक हिन्दू सामन्त और उनके आश्रित कर्मचारी भी शामिल थे। किसी विदेशी भाषा को राजभाषा बनाना जातीय उत्पीडन का एक रूप है। इस तरह के जातीय उत्पीडन में पूँजीपति ही नहीं, उनसे पहले सामन्त भी भाग ले चुके हैं। इस उत्पीडन में बहुत-से हिन्दू शामिल हुए किन्तु इनके विपरीत बहुत-से हिन्दू अपनी पहले से चली आती हुई भाषा या भाषाओं के लिए लडे भी। उन्होंने फारसी के बदले ब्रज या अवधी में रचनाएँ कीं। इन हिन्दुओं के साथ बहुत-से मुसलमान भी थे। सामन्त वर्ग और जनसाधारण—इन दोनों की सांस्कृतिक नीति अलग-अलग थी। सामन्त वर्ग मुख्यतः ईरानी संस्कृति का मुँह जोहता था, जनसाधारण अपनी भाषा और लोक संस्कृति के विकास में लगा हुआ था।

अँग्रेजों ने अँग्रेजी लादकर जातीय उत्पीडन को और तीव्र किया। अँग्रेजी और फारसी राजभाषाएँ रहीं लेकिन दोनों के उत्पीडन में अन्तर था। फारसी एशिया की ही और हमारे पडोस की एक भाषा थी। उसे राजभाषा बनानेवाले हिन्दी या ब्रज में कविताएँ करते थे, यहाँ की भाषाओं को प्रोत्साहन देते थे विशेष रूप से संगीत में उन्होंने यहाँ की समूची परम्परा को अपना लिया। उर्दू की तरह संगीत में अरबी-फारसी तानों से लदी हुई शैली का चलन न हुआ। राजभाषा अँग्रेजी की तुलना में राजभाषा फारसी का उत्पीडन बहुत सीमित था।

सामन्तकाल में शिक्षा का काम पुरोहित वर्ग के हाथ में रहता है। इसलिए शिक्षा के नाम पर संस्कृत या अरबी-फारसी की पढ़ाई होती रही। इस कारण शिक्षित वर्ग में फारसी पढे लोग दर्शन, साहित्य आदि की विशिष्ट शब्दावली के लिए फारसी से शब्द लेने लगे। नौकरी के लिए फारसी या उर्दू की जानकारी आवश्यक होती थी, इसलिए हिन्दू-मुसलमान दोनों काफी संख्या में फारसी-उर्दू सीखते थे। किन्तु यह हिन्दू-मुस्लिम-एकता विशेष आर्थिक और सामाजिक कारणों से पैदा हुई थी, इसलिए वह टिकाऊ न हुई।

उर्दू ने दर्शन, साहित्य, राजनीति आदि के लिए, या सभ्य व्यवहार के लिए केवल अरबी-फारसी से शब्द लिये। उसके बोलचाल के रूप में तो हिन्दी शब्दों की भरमार थी लेकिन सभ्य व्यवहार के रूपों में—'तशरीफ लाइये, नोश फरमाइये' वाले रूपों में—और साहित्य में जो नये शब्द आये, वे सब-के-सब अरबी-फारसी से। इस तरह उर्दू के बोलचाल के रूप में तो भाषा की जातीय परम्परा कायम रही लेकिन उसके सांस्कृतिक रूप में वह नष्ट हो गई।

उर्दू ने अपने इस नये विकसित रूप को दो धाराओं से अलग कर लिया।

एक तो वह हिन्दी की बोलियों—अवधी, व्रज, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी और खड़ी बोली के ही ग्रामीण रूप—से बहुत दूर चली गई। दूसरे, वह भारत की अन्य भाषाओं—बँगला, मराठी, गुजराती आदि—की सामान्य विशेषताओं से दूर जा पड़ी। सस्कृत के कठिन शब्दो के नाम पर उसने उन तमाम शब्दों का बहिष्कार करना शुरू किया जो भारत की अन्य सभी भाषाओं की सामान्य निधि हैं। इस तरह उर्दू-प्रेमियों ने यहाँ के हिन्दी-भाषियों से ही अलगाव पैदा नहीं किया वरन् बँगला आदि भाषाएँ बोलनेवाले मुसलमानों से भी अलगाव पैदा कर लिया।

इसीलिए हिन्दी का आन्दोलन जोर पकड़ता गया, हिन्दू-मुस्लिम-एकता का सीमित आधार रहने पर भी उर्दू अपना स्थान सुरक्षित रखने मे सफल न हुई और प्रेमचन्द, बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पद्मसिंह शर्मा आदि अनेक लेखकों ने उर्दू से परिचय और प्रेम होते हुए भी हिन्दी की सेवा की। हिन्दी के प्रति गलत धारणाओं के कारण उर्दू प्रेमी सज्जन हिन्दी के सहयोग मे कोई आन्दोलन नहीं चला सके। देश के विभाजन के बाद अब उनमे उर्दू को कौमी जबान बनाने का साहस नहीं रहा, उन्होंने पस्ती के कारण उसे इलाकाई ज़बान बनाने का नारा दिया। उर्दू को पढ़ने-पढ़ाने और उसके व्यवहार के लिए सुविधाएँ होनी चाहिए, हम इस माँग का समर्थन करते हैं। किन्तु अपने बोलचाल के रूप मे वह किसी विशेष इलाके की जबान नहीं है, इलाकाई ज़बान का नारा जातीय अलगाव और विघटन का नारा है, इसलिए हम उसका विरोध करते हैं। उत्तर प्रदेश और अन्य हिन्दी-भाषी राज्यों से अंग्रेज़ी जाय, उसकी जगह हिन्दी को राज्यभाषा बनाया जाय, हिन्दी के साथ अल्पसंख्यकों—जिनमे मुसलमानों के साथ कुछ हिन्दू भी गिने जाएँगे—की भाषा के रूप मे उर्दू का सरक्षण किया जाय, इस आधार पर हिन्दी-उर्दू-प्रेमी अब भी एक मंच पर संयुक्त आन्दोलन कर सकते हैं।

आगे चलकर क्या होगा ? उर्दू रहेगी या मिट जायगी ? उर्दू का बोलचाल वाला रूप मिट नहीं सकता, क्योंकि वह कुछ शिक्षित व्यक्तियों तक सीमित नहीं है। यह रूप हिन्दी के बोलचाल वाले रूप जैसा है और हिन्दी-लेखक उसे अपनाकर हिन्दी को समर्थ बना सकते हैं। उर्दू का साहित्यिक रूप हिन्दी को काफी प्रभावित कर सकता है, अभी भी कर रहा है। अनेक हिन्दी-कवियों की छन्द-योजना और शैली पर उर्दू का प्रभाव देखा जा सकता है। यह प्रभाव कितना अधिक पड़ता है, यह उर्दू वालों पर भी निर्भर है। उर्दू-लेखक जितना ही अपना सीमित दायरा छोड़कर अपना साहित्य जनता के लिए लिखेंगे और देवनागरी के माध्यम से उस तक पहुँचायेंगे, उतना ही वे हिन्दी के विकास को प्रभावित कर सकेंगे।

हमारी समझ मे उर्दू से प्रभावित होकर हिन्दी का बोलचालवाला रूप पुष्ट होगा और हिन्दी से प्रभावित होकर उर्दू के 'सभ्य' अरबी-फारसीवाले रूप मे काफी परिवर्तन होगा। यह कहना आवश्यक है कि उर्दू मे काफी देशभक्तिपूर्ण

और जनतान्त्रिक साहित्य है। शब्दावली के कारण साहित्य की विषयवस्तु नहीं बदल जाती। हिन्दी-प्रेमी काफी उर्दू-साहित्य पढ़ते हैं, उर्दू-प्रेमियों को इस विषय में उनसे होड़ करनी चाहिए।

उर्दू की रक्षा करना और उसकी स्वस्थ विशेषताओं से सीखना हिन्दी के हित में है। उसकी बोलचाल का रूप, कहावतें और मुहावरे हमारी भाषा की सम्पत्ति हैं। सैकड़ों शेर या उनके टुकड़े कहावतों का रूप ले चुके हैं। वे हमारी सांस्कृतिक सम्पत्ति का अंग हैं। उर्दू में अरबी फारसी के शब्द होने से उसके लिखने बोलने-वाले देशद्रोही नहीं हो जाते।

दरो दीवार पै हसरत से नजर करते हैं।
खुश रहो अहलेवतन हम तो सफर करते हैं॥

इस तरह के शेर उन लोगों ने गुनगुनाये थे जिन्होंने अपना रक्त देकर अपनी देशभक्ति प्रमाणित की थी। हमारा उद्देश्य हिन्दीभाषी प्रदेश की सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करना, उसके साहित्य को जनता के हित में विकसित करना है। इसीलिए हम चाहते हैं कि हिन्दी-उर्दू प्रेमी एक दूसरे के निकट आएँ, यहाँ अँग्रेजी की जगह अपनी भाषा प्रतिष्ठित करें और उसके विकास में मिल-जुलकर योग दें।

स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा ने अपने 'हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी' वाले प्रसिद्ध भाषण में हिन्दी उर्दू की एकता के सम्बन्ध में कहा था, "कुटुम्ब के बँटवारे की तरह भाषा का यह बँटवारा भी कुटुम्ब-कलह और सम्पत्ति-विनाश का कारण है, बहुत-से सम्पन्न घराने बँटवारे की बदौलत टुकड़े-टुकड़े होकर बिगड़ गये, राज-परिवार भिखारी बन गये यदि हिन्दी-उर्दू दोनों संयुक्त परिवार की दशा में आ जाएँ, तो फिर इसकी साहित्य सम्पत्ति का संसार की कोई भाषा मुकाबला न कर सके।" इसमें सन्देह नहीं कि हमारे प्रदेश के हिन्दुओं, मुसलमानों तथा अन्य धर्मवालों में रचनात्मक प्रतिभा की कमी नहीं है। उर्दू किसकी सेवा करेगी? पाकिस्तान के पंजाबियों, बंगालियों, पठानों और सिंधियों की या अपने प्रदेश के लोगों की? यह युग जनतन्त्र का है। हिन्दी उर्दू एक ही जनता की सेवा करेंगी, इसलिए उनका संयुक्त परिवार बनना अनिवार्य है। (१९५८)

२०

जातीय प्रतिद्वन्द्विता और हिन्दी

देश के स्वाधीन होने के बाद जातीयता का भाव तेजी से बढा है। हम गुजराती हैं, बगाली हैं मलयाली या आन्ध्र हैं—अपने प्रदेश, भाषा और सस्कृति से सम्बन्धित इस भाव को हम जातीयता का भाव कहते हैं। कुछ वर्ष पहले पढ़े-लिखे लोगो की बातचीत मे एक शब्द अक्सर सुनाई देता था —'प्रोविन्शल'। जब हम किसी को अपनी भाषा और साहित्य की बेहद बडाई करते देखते थे तो कहते थे —ये लोग बडे प्रोविन्शल होते हैं।

अपनी भाषा, जाति, प्रदेश, उसकी सस्कृति आदि पर गर्व करना बुरी बात नही है। इन अनेक जातियो से ही भारत राष्ट्र की रचना हुई है। इन प्रदेशो की विभिन्न सस्कृतियो से मिलकर ही भारतीय सस्कृति का निर्माण होता है। इसलिए अपने प्रदेश और उसकी सस्कृति को भुलाकर राष्ट्रीयता और भारतीय सस्कृति की बात करना सम्भव नही है।

इससे एक परिणाम यह भी निकलता है कि अपनी भाषा और उसके साहित्य को ही श्रेष्ठ समझने का फल देश की प्रगति के लिए हानिकर हो सकता है। हम एक दूसरे से सीखकर, मिल जुलकर आगे बढने के बदले जातीय प्रतिद्वन्द्विता मे फँस जाएँगे और अपनी शक्ति का काफी भाग अपनी जातीय श्रेष्ठता सिद्ध करने मे व्यय करेंगे। अन्ध जातीयता के इस खतरे को स्वीकार करते हुए यह मानना होगा कि उचित मात्रा मे जातीयता की चेतना विकास के लिए आवश्यक है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि हिन्दी-भाषियो मे—विशेषकर पढे-लिखे मध्यवर्ग के लोगो मे—यह जातीयता का भाव उचित मात्रा मे विद्यमान है या नहीं।

जातीयता की बात चलने पर कुछ मित्र कहते हैं—हिन्दी राष्ट्रभाषा है, हम सारे राष्ट्र की बात सोचते हैं, किसी प्रदेश के बारे मे सोचने की सकीर्णता क्यो दिखाएँ?

देश की परिस्थितियाँ ऐसी है जो हिन्दी-भाषियों मे न चाहने पर भी जातीयता का भाव उभार रही हैं। इनमे एक उल्लेखनीय परिस्थिति अहिन्दी-भाषियो से हमारा सम्पर्क है। यातायात के साधनो के विकसित होने और आर्थिक कारणो

से हजारों आदमियों को एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश जाना पड़ता है या अपने प्रदेश में ही अन्य भाषाएँ बोलनेवालों से मिलना पड़ता है। इस जातीय प्रतिद्वन्द्विता का एक बहुत बड़ा केन्द्र कलकत्ता है। इस नगर से हिन्दी का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। 'भारत मित्र' और 'मतवाला' जैसे पत्र यहीं से निकले हैं, निराला और उग्र जैसे लेखक यहाँ अपनी साहित्य साधना कर चुके हैं। आज भी हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रगति में कलकत्ता की भूमिका नगण्य नहीं है। यहाँ आकर हिन्दी-भाषी व्यक्ति को यह बार-बार सुनने को मिलता है कि वह हिन्दुस्तानी है। हिन्दी-भाषी प्रदेश के लिए 'हिन्दुस्तान' शब्द का प्रयोग काफी पुराना है। हिन्दी-भाषियों की चेतना में यह शब्द सारे देश का वाचक ही रहा है। हिन्दी-भाषी प्रदेश का कोई विशेष नाम प्रचलित नहीं है। इस नाम के अभाव में हिन्दी-भाषी जाति का अस्तित्व मिट नहीं जाता। अन्य जातियों के सम्पर्क में आने से हिन्दी भाषी व्यक्ति को विवश होकर सोचना पड़ता है कि उसकी जाति क्या है। ऐसी परिस्थिति में अपनी जातीयता से सम्बन्धित कुछ बातें स्मरण रखना आवश्यक है।

सबसे पहले हिन्दी भाषी जनता में जातीय चेतना के अपेक्षाकृत अभाव पर ध्यान देना चाहिए। जिस समय सारे देश में भाषा के आधार पर प्रान्त अथवा राज्य निर्माण की चर्चा चलती रही है, हमारे प्रदेश में अनेक राज्यों को मिलाकर विशाल हिन्दी प्रदेश के गठन का आन्दोलन नहीं चला। इसके विपरीत उत्तर प्रदेश को ही विभाजित करने की बात कुछ राजनीतिज्ञों से सुनाई दी। अन्यत्र भाषाओं के आधार पर प्रान्त-निर्माण करने से—विशेषकर दक्षिण में—छोटे राज्यों का चित्र सामने आता था। किन्तु हिन्दी भाषियों को एक प्रदेश में संगठित करने से अनेक राज्यों से एक बड़ा राज्य बनता था। विभाजन के बदले स्पष्ट ही देश की एकता दृढ़ होती थी। किन्तु इस ओर किसी राजनीतिक दल ने ध्यान नहीं दिया। यह स्थिति हमारे प्रदेश में जातीय चेतना के अपेक्षाकृत अभाव का प्रमाण है।

इस स्थिति के अनेक कारण हैं। हिन्दी-भाषी प्रदेश असाधारण रूप से विशाल है। उसमें भारत के किसी भी भाषा-क्षेत्र की तुलना में बोलियों की संख्या अधिक है। इस क्षेत्र में ब्रज, अवधी और मैथिली जैसी बोलियाँ हैं जिनका अपना विशाल साहित्य भण्डार है। अनेक लोगों के मन में अब भी यह दुविधा है कि ये बोलियाँ दरअसल बोलियाँ हैं या हिन्दी से स्वतन्त्र भाषाएँ हैं। यातायात के साधनों का समुचित विकास न होने और उद्योग धन्धों और व्यापार में हमारे प्रदेश के अनेक भागों के पिछड़े रहने से यह जातीय एकता का भाव विशृंखल-सा रहा है। इन बोलियों की समस्या के अलावा हमारे यहाँ हिन्दी-उर्दू की विशेष समस्या रही है। बोलचाल की भाषा के दो शिष्ट या साहित्यिक रूप होने से जातीय गठन में बाधा पड़ती रही है। एक ही दिशा में बढ़ने के बदले सांस्कृतिक शक्तियाँ दो दिशाओं में बँट गई थीं। ये परिस्थितियाँ अब धीरे धीरे बदल रही हैं।

इस प्रदेश के इतिहास के बारे में दो-चार बातें उल्लेखनीय हैं। संस्कृत भाषा और साहित्य से हमारे प्रदेश का घनिष्ठ जातीय सम्बन्ध है। भाषाशास्त्र की दृष्टि

स संस्कृत से जितना सम्बन्ध हिन्दी और उसकी बोलियों का है उतना अन्य भार-
तीय भाषाओं और उसकी बोलियों का नहीं। संस्कृत साहित्य के विशाल भण्डार
मे भारत के सभी प्रदेशों के विद्वानों ने अपनी ज्ञानराशि संचित की है। फिर भी
इस साहित्य के अधिकांश भाग की रचना उन लोगों ने की है जो वर्तमान हिन्दी-
प्रदेश के निवासी थे। पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य के सम्बन्ध में भी
यही बात कही जा सकती है।

आगे चलकर तुर्की बोलनेवाली अनेक जातियाँ यहाँ आईं। पश्तो, फारसी
आदि अन्य विदेशी भाषाएँ बोलनेवाले जन भी यहाँ आये। एक-दो पीढ़ी के बाद
वे अपनी पूर्व जातीयता खोकर यहाँ के लोगों मे घुल मिल गए। इसका एक रोचक
प्रमाण बाबर-वंश मे तुर्की भाषा का गायब होना है। बाबर की मातृभाषा तुर्की
थी किन्तु उसके वंशज घर मे तुर्की न बोलते थे। फारसी उनकी मातृभाषा न थी,
सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्र मे व्यवहार के लिए स्वीकार की हुई वह एक
विदेशी भाषा थी—यद्यपि यह एशिया की ही भाषा थी और संस्कृत से उसका
घनिष्ठ सम्बन्ध था। सभी मुसलमानों की भाषा फारसी नहीं थी—यह तथ्य
स्मरण रखना चाहिए। भारत के विभिन्न भाषा क्षेत्रों मे मुसलमानों की वही
भाषा थी जो वहाँ के हिन्दुओं या अन्य धर्मवालों की थी। इसलिए यह सम-
झना कि हिन्द-प्रदेश के मुसलमान किसी फारसी बोलनेवाली जाति के थे अथवा
उनकी अलग जातीयता आज तक सुरक्षित है, सही नहीं है।

तीसरा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य १८५७ के स्वाधीनता संग्राम से
सम्बन्धित है। भारतीय जातियों का परस्पर सम्बन्ध सौ वर्ष पहले आज से भिन्न
था। १८५७ मे आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से हिन्द-प्रदेश भारतीय जीवन
की धुरी था। सन सत्तावन का स्वाधीनता-संग्राम हिन्द-प्रदेश तक सीमित नहीं
था। पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र, हैदराबाद आदि प्रदेशों मे भी संघर्ष हुए किन्तु
मुख्य समरभूमि दिल्ली, झाँसी और शाहाबाद के विशाल त्रिकोण से सम्बद्ध थी,
इसमे सन्देह नहीं। सन् सत्तावन के संग्राम की मुख्य शक्ति हिन्द-प्रदेश की हिन्दू-
मुसलमान जनता थी। अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने यहाँ के नगरों को उजाड डाला,
यहाँ का व्यापार नष्ट कर दिया, भयंकर नरसंहार द्वारा उन्होंने यहाँ की जनता
को त्रस्त और आतंकित करने मे कुछ उठा न रखा। तब से जातीय संतुलन
बदल गया। संख्या मे विशाल होने पर भी आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से
हमारी जाति बहुत-कुछ पिछड़ी रही। यह स्थिति धीरे-धीरे बदल रही है।

भारत की अनेक समृद्ध भाषाओं की तुलना मे हिन्दी गद्य का विकास विलम्ब
से हुआ। खड़ी बोली का शिष्ट और सुसंस्कृत रूप पहले उर्दू के माध्यम से सामने
आया। यदि हिन्दी गद्य का स्वतन्त्र विकास न होता, यदि उर्दू वास्तव मे हमारी
जातीय भाषा की भूमिका पूरी कर पाती तो हमारा गद्य-साहित्य आज बहुत
समृद्ध होता। किन्तु हिन्दी शब्दों के बहिष्कार और फारसी-अरबी से ज्यादा शब्द
उधार लेने के कारण उर्दू का विकास भारत की अन्य भाषाओं स अलग एक

निराली दिशा मे हुआ। उर्दू मे केवल दरबारी साहित्य नही है, खडी बोली के इस साहित्यिक रूप मे राष्ट्रीय भावना और नये युग की चेतना प्रचुर मात्रा म विद्यमान है। फिर भी शब्द-भण्डार की विशिष्टता के कारण वह हमारे जनपदो की बोलियो से दूर होती गई और हिन्दी गद्य का विकास अनिवार्य हो गया। यह प्रसन्नता की बात है कि उर्दू की बहुत सी पुस्तकें देवनागरी अक्षरो म छप रही हैं और हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित बहुत सी पुस्तकें उर्दू म निकली है। इससे हमारी भाषा के दोनो साहित्यिक रूप एक-दूसरे के निकट आते हैं और एक मिली-जुली साहित्यिक भाषा की ओर बढने की सम्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं।

जातीय प्रतिद्वन्द्विता का सामना करन के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी के सरल और मुहावरेदार रूप को ज्यादा-से-ज्यादा काम मे लाया जाय। विशेष रूप से कथा साहित्य मे भाषा का साफ-सुथरा रूप आना जरूरी है। हिन्दी कथाकार जान बूझकर कठिन भाषा नही लिखते। लेकिन सरलता ही काफी नही है। बालमुकुन्द गुप्त और प्रेमचन्द की शैली ही की तरह भाषा इतनी आकर्षक होनी चाहिए कि पाठक स्वत उसकी ओर खिंचे। संस्कृत शब्दावली का प्रयोग करने से सारे भारत मे हिन्दी लोकप्रिय हो जाएगी—यह धारणा कथा साहित्य पर निगाह डालने से मिथ्या साबित होती है। हिन्दी और अहिन्दी-प्रदेशो म उन्ही कथाकारो की रचनाएँ अधिक पढी जाती हैं जो सरल और मुहावरेदार भाषा लिखन मे सबसे आगे हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास विलम्ब से हुआ, फिर भी यह विकास असाधारण वेग से हुआ है। पिछले साठ-सत्तर वर्षों मे हिन्दी ने प्रेमचन्द जैसे उपन्यासकार, निराला जैसे कवि, प्रसाद जैसे विचारक, कवि और नाटककार, बालमुकुन्द गुप्त जैसे व्यग्य-लेखक, हरिश्चन्द्र और बालकृष्ण भट्ट जैसे पत्रकार, महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे आलोचक और सम्पादक, वृन्दावनलाल वर्मा जैसे ऐतिहासिक उपन्यासकार उत्पन्न किए हैं। इन सबकी रचनाएँ न केवल हिन्दी साहित्य वरन भारतीय साहित्य के इतिहास मे उल्लेखनीय रहेगी। साठ-सत्तर वर्ष की छोटी अवधि म हिन्दी साहित्य की कुछ जातीय विशेषताएँ उभरकर सामने आती हैं। इनम प्रमुख विशेषता है जिन्दादिली। भारतेन्दु युग के साहित्यकारों की जिन्दादिली का कहना ही क्या ? भयानक कठिनाइयो का सामना करने पर भी वे अपनी विनोदप्रियता और उत्साह की रक्षा कर सके। कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दी मे हास्यरस का अभाव है लेकिन हिन्दी का शायद ही कोई लेखक हो जो व्यग्य विनोद से पूरी तरह बचकर सदा गम्भीर बना रहा हो। गम्भीर आलोचक रामचन्द्र शुक्ल तक रीतिकालीन कवियो की चर्चा होने पर अपनी विनोदप्रियता का दमन न कर पाते थे। छायावादी लेखक निरालाजी के रेखाचित्रो—'देवी', 'चतुरी चमार' आदि—और अनेक आलोचनात्मक निबन्धो—'कला के विरह मे जोशीबन्धु' आदि—मे उनका व्यग्य-विनोद देखते ही बनता है। प्रेमचन्द के कथा साहित्य मे—विशेषकर उनकी कहानियो मे—उनका व्यग्य अन्तर्धारा

रे समान प्रवाहित है। हम कह सकते हैं कि जिन्दादिली हिन्दी-साहित्य की एक जातीय विशेषता है।

दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता हिन्दी लेखकों का राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन से सम्बन्ध, विशेषकर ग्रामीण जीवन से उनका गहरा सम्बन्ध है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके युग के अधिकांश लेखक देश में स्वाधीनता-प्रेम और नई राष्ट्रीय चेतना का प्रसार करनेवाले थे। किसान-जीवन से प्रेमचन्द का कितना गहरा सम्बन्ध था, इसे सभी लोग जानते हैं। इसी कारण वे भारतीय साहित्य मे एक नये यथार्थवाद की प्रतिष्ठा कर सके। प्रसाद जैसे साहित्यकार ने भी 'तितली' मे प्रेमचन्द के समान किसानो का चित्रण किया। ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा की रचनाओ मे बुन्देलखण्ड की लोक-संस्कृति का वैभव देखने को मिलता है। नागार्जुन जैसे लेखको ने इस परम्परा को सुरक्षित रखा है। अमृतलाल नागर ने निम्न मध्यवर्ग और ध्वस्त होती हुई सामन्ती संस्कृति के अनुपम चित्र देकर इस यथार्थवाद को व्यापक और प्रशस्त बनाया है। हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा समाज निरपेक्ष न होकर समाज से पूर्णतः सम्बद्ध है। हिन्दी साहित्य का यह यथार्थवादी पक्ष उसका सबल पक्ष है और हम उस पर उचित अभिमान कर सकते हैं।

हिन्दी साहित्य की इस प्रगति और जातीय प्रतिद्वन्द्विता मे हिन्दी की स्थिति को ध्यान मे रखते हुए नई कविता से सन्तोष नही किया जा सकता। यह धारा अन्तर्मुखी, सामाजिक जीवन की उपेक्षा करनेवाली और कलात्मक सौन्दर्य से हीन है। हिन्दी को हास्यास्पद बनाने के लिए पारिभाषिक शब्दावली के कुछ नमूने और नई कविता की कुछ खंडित पंक्तियाँ उद्धृत करना काफी होता है। नई कविता के समर्थक वर्तमान काल मे हिन्दी के जातीय और राष्ट्रीय दायित्व को पहचानते हैं, यह नही कहा जा सकता। आधुनिक हिन्दी कविता को समृद्ध करने-वाले ऐसे बहुत-से कवि हैं जो नई कविता के रंग-ढंग से दूर हैं। फिर भी यह मानना होगा कि दिनकर, सुमन, नरेन्द्र के बाद के कवियो की पीढ़ी उतनी समर्थ नही है। आधुनिक हिन्दी कविता की तुलना मे हिन्दी कथा-साहित्य आगे बढ़ा हुआ है।

हिन्दी पढ़ने-लिखनेवाले अहिन्दी-भाषियो की संख्या तेजी से बढ़ रही है। वे जब हिन्दी पढ़ते हैं तब अपनी भाषा के साहित्य से हठात् उसकी तुलना भी करते हैं। उनका दृष्टिकोण हमसे अधिक आलोचनात्मक होता है। ऐसे लोगो की संख्या निकट भविष्य मे और भी बढ़ेगी। इसीलिए जातीय प्रतिद्वन्द्विता के इस युग मे हिन्दी लेखको का दायित्व बहुत बढ़ गया है। साहित्य के हर क्षेत्र मे उनसे असा-धारण परिश्रम की अपेक्षा है। आधुनिक साहित्य के विकास मे हम कुछ देर से शामिल हुए हैं। विलम्ब से होनेवाली क्षति पूरी करनी है। हमारी जाति संख्या मे भारत की सभी जातियो से बड़ी है और विश्व की तीन-चार भाषाओ मे—जिनके बोलनेवालो की संख्या सबसे अधिक है—हिन्दी भी है। परिमाण से

सन्तोष न करके उसे गुणात्मक रूप से समृद्ध करना हमारा कर्तव्य है। व्यापार के प्रसार से हिन्दी में पुस्तक प्रकाशन खूब बढ़ा है। शोध प्रबन्धों से लेकर उपन्यासों तक सैकड़ों पुस्तकें हर साल प्रकाशित होती हैं। जल्दी लिखने और पुस्तकें छापने का मोह अनेक लेखकों को खींचता है। साधना के बिना साहित्य का स्तर ऊँचा नहीं हो सकता। पुस्तकों की भारी संख्या साहित्य की गरिमा का प्रमाण नहीं है। यदि सम्भव हो तो प्रत्येक हिन्दी लेखक को कुछ दिन के लिए अपना प्रदेश छोड़कर किसी अन्य भाषा क्षेत्र में जाना चाहिए, वहाँ की साहित्यिक गतिविधि से परिचित होना चाहिए, छिद्रान्वेषण के बदले वहाँ की अच्छी बातें सीखने का प्रयत्न करना चाहिए और धैर्य से हिन्दी के सम्बन्ध में अहिन्दी भाषियों की राय सुननी चाहिए। इससे आत्मसन्तोष की गलत भावना कम होगी और नई लगन से साहित्य साधना करने की प्रेरणा मिलेगी। देश की वर्तमान परिस्थितियों में केवल हिन्दी भाषी प्रदेशों तक—उनमें भी केवल बिहार या उत्तर प्रदेश तक और इनमें भी अक्सर इलाहाबाद, बनारस या पटना तक—अपना दृष्टिकोण सीमित करके साहित्यकार विशेष प्रगति नहीं कर सकते। अपनी जातीय संस्कृति पर उचित गर्व करते हुए उस गर्व को अहंकार और दम्भ में परिवर्तित होने से बचाते हुए, भारत की सभी जातियों में सद्भावना और मैत्री को बढ़ाते हुए एक उदार दृष्टिकोण के आधार पर हम अपने प्रदेश के साथ समग्र देश की प्रगति में सहायक हो सकते हैं। (१९५९)

२१

राष्ट्रभाषा अंग्रेज़ी

सर्व-प्रभुत्व-सम्पन्न भारतीय गणराज्य की लोकसभा मे पिछले महीने इस प्रश्न पर दिलचस्प बहस हुई कि अग्रेज़ी को भारत की एक राष्ट्रभाषा माना जाय या नही। हिन्दी मे जब हम राष्ट्रभाषा की बात करते है तब उसका अर्थ यह होता है कि सारे राष्ट्र के विभिन्न प्रदेशो मे परस्पर व्यवहार की भाषा। पहले अग्रेज़ी भाषा के माध्यम से भारतीय समस्याओ पर विचार करनेवाले विद्वान् इसी अर्थ मे (अथवा प्राय इस अर्थ मे) 'द नैशनल लैंग्वेज' की चर्चा करते थे। लेकिन अब वही या उनमें से अनेक विद्वान् 'ए नैशनल लैंग्वेज' की बात करने लगे हैं अर्थात् भारत राष्ट्र मे जितनी भाषाएँ बोली जाती हैं, वे सभी राष्ट्र के अन्दर ही बोली जाने से राष्ट्रभाषाएँ है।

एक विश्वविद्यालय ने पुस्तकालय मे पुस्तकें मँगाने का काम अर्थशास्त्र के एक आचार्य को सौंपा गया। वह अग्रेज़ी के लिए निर्धारित रकम भी अर्थशास्त्र की पुस्तको के लिए खर्च कर देते थे। आपत्ति करने पर उन्होने उत्तर दिया—आप देखते नही, ये अर्थशास्त्र की पुस्तकें भी तो अग्रेज़ी मे लिखी हुई हैं!

उसी तरह राष्ट्र मे जो भाषा भी कही बोली जाय, वह राष्ट्रभाषा है!

वस्तुत राष्ट्र के लिए अग्रेज़ी मे कोई पर्यायवाची शब्द नही है। नेशन और नैशनल के लिए राष्ट्र और राष्ट्रीय शब्दों का प्रयोग होता है किन्तु इस प्रयोग को उचित मानें तो 'मल्टीनैशनल कंट्री' का अनुवाद बहुराष्ट्रीय राष्ट्र होगा (अर्थात् एक देश मे अनेक राष्ट्र हैं!)। हिन्दी म राष्ट्र शब्द देश के समकक्ष है, उससे घटकर नही है। यह भी हिन्दी का दोष है कि अग्रेज़ी जैसी समृद्ध भाषा मे हिन्दी जैसी दरिद्र भाषा के राष्ट्र शब्द का कोई नपा-तुला पर्याय नही है। और हो भी क्यो? राष्ट्र कहते ही कुछ दकियानूसीपन की गन्ध नही आती क्या जैसे हिन्दी कहते ही देहातीपन की बू आने लगती है?

अग्रेज़ी! इग्लिश! नेशन! कितने साफ-सुथरे शब्द हैं! मुँह से निकलते ही चेहरा खिल उठता है! इसलिए अग्रेज़ी 'ए नैशनल लैंग्वेज' भी है, 'द नैशनल लैंग्वेज' भी है। वह भारत राष्ट्र मे बोली जानेवाली अनेक भाषाओ मे एक है और

इन अनेक मे एकमात्र नेक भाषा है।

ऐंग्लो इडियन-कुल-कमल दिवाकर श्री फ्रैंक ऐन्टनी एम० पी० ने लोकसभा मे कहा कि कुछ लोग अग्रेजी का नाश करने पर तुले हुए हैं। इनमे अग्रगण्य वे हैं जिनकी मातृभाषा हिन्दी है। ये हिन्दी प्रेमी समझते हैं कि हिन्दी तब तक राज-काज की भाषा न बनेगी, जब तक अग्रेजी का नाश न किया जाएगा।

श्री ऐन्टनी ने यह नही कहा कि अग्रेजी को राजभाषा बनाये रखने के लिए हिन्दी का नाश करना जरूरी है। किन्तु इससे पहले अनेक अवसरो पर वह हिन्दी के लिए लोकसभा मे जिन विशेषणो का प्रयोग कर चुके हैं, उनसे यही ध्वनि निकलती है।

श्री ऐन्टनी इतिहास मे भी दखल रखते हैं। उन्होने राष्ट्रभाषा-समस्या के दायरे से बाहर निकलकर भारतीय इतिहास का विहगावलोकन करते हुए घोषित किया, "द हिस्ट्री ऑफ इडिया बिफोर द ऐडवेण्ट ऑफ इगलिश वाज द हिस्ट्री ऑफ ट्राइबलिज्म।" (६ अगस्त, १६५६ के टाइम्स ऑफ इडिया मे प्रकाशित विवरण)। अर्थात् अग्रेजो के आने से पहले भारत का इतिहास कबीला का इतिहास था।

कबीला को शिक्षित करने, उन्हे राष्ट्रीय एकता का पाठ पढाने, उनकी आदिम बर्बरता को दूर करने का काम अग्रेजो ने किया। अग्रेजी शासको को राष्ट्रीयता से इतना प्रेम था कि यहाँ से विदा होते समय वे एक के बदले दो राष्ट्र बना गए!

श्री फ्रैंक ऐन्टनी ने अपनी सहज विनम्रता से यह नही कहा कि सभ्यता के वाहक अग्रेज शासको के नामलेवा और पानीदेवा ऐंग्लो-इडियन सम्प्रदाय के ऐन्टनी जैसे नेता अभी बचे रह गए हैं।

लेकिन ऐन्टनी महोदय देशभक्ति मे किसी से पीछे नही। आज जब देश के अनेक कर्णधार जनता को यह समझाते नही थकते कि अग्रेजो की पुरानी अत्याचार-गाथा भूल जाओ, नये सिरे से सत्य और अहिसा के आधार पर उनसे मैत्री-सम्बन्ध कायम करो, तब भारतीय गणतत्र की लोकसभा मे श्री फ्रैंक ऐन्टनी ने माननीय सदस्यो को सूचित किया कि वह ऐंग्लो इडियन सम्प्रदाय का इतिहास लिख रहे हैं और वे ही जानते हैं (उनका दिल जानता है!) कि अग्रेजी राज ने जितना नुकसान 'ऐंग्लो-इडियन कम्युनिटी' का किया है, उतना और किसी का नहीं! उन्होने सखेद निवेदन किया कि १८०६ से पहले ऐंग्लो-इडियन कम्युनिटी के सदस्य मैनिक और श्रेष्ठी (मर्चेण्ट प्रिंसेज) होते थे (और इस रूप मे भारत राष्ट्र की सेवा करते थे!) किन्तु १८०६ के बाद वे उस गौरवशाली स्थान से हटा दिये गए। श्री ऐन्टनी के अनुसार अग्रेज शासको को सन्देह था कि वे हिन्दुस्तानियो से मिलकर किसी दिन विद्रोह कर देंगे।

उदारमना, सुसस्कृत अग्रेज शासको की राज्यसत्ता का आधार शायद इतना व्यापक था कि उन्हे भारतीय जनता से ही भय नही था, वरन् उनमे भी सकट की

आशका थी जो अपने को अग्रेजो का वशज मानने मे गर्व और गौरव का अनुभव करते थे, भले ही अग्रेज रक्त-साम्मश्रण का सन्देह करके घृणा से मुँह फेर लेते हो। ऐंग्लो-इडियनो से विद्राह की शका निर्मूल थी। १८०६ के पचास साल बाद, सन् अठारह सौ सत्तावन के साल अनेक ऐंग्लो इडियन देशभक्तो ने, हैदराबाद के निजाम और नेपाल के राना जगबहादुर जैसे दूरदर्शी राजनीतिज्ञो के समान ही, प्रगतिशील अग्रेज़ो की राज्यसत्ता फिर मे स्थापित कराने मे एडी-चोटी का पसीना एक कर दिया। १६३२ मे हर्बर्ट ऐलिक स्टार्क नाम के एक ऐंग्लो-इडियन सज्जन ने 'द काल ऑफ द ब्लड' (खून की पुकार) नाम की पुस्तक लिखी थी। उसमे उन्होंने १८५७ मे ऐग्लो-इडियनो की राष्ट्र-सेवा का चित्रण किया था। इसकी भूमिका मे उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया था कि १७८६ के बाद (श्री ऐन्टनी के दिए हुए सन् से कुछ वर्ष पहले) ऐंग्लो-इडियनो को इस बात की मनाही कर दी गई थी कि वे ज़मीन खरीदें या फौज और सिविल सर्विस मे ऊँची जगह पाएँ। फिर भी खून की पुकार तो खून की ही है, विशुद्ध अग्रेज उसे कैसा भी खून समझें। स्टार्क ने गर्व से लिखा है कि लामार्टीनियर कॉलिज, लखनऊ के (ऐंग्लो-इडियन) छात्रो ने रेज़ीडेंसी के घेरे के समय अग्रेज सैनिको के साथ रहकर उनकी अनुपम सेवा की, उनकी जूठी रकाबियाँ और गन्दे कपड़े धोय, चक्की पीसी, खाना पकाया और पखा खीचा। इस सेवा का पुरस्कार छात्रो को क्या मिला, मालूम नही, लामार्टीनियर के प्रिंसिपल महोदय को ताल्लुकेदार अवश्य बना दिया गया।

१८५७ मे भारतीय सेना के साथ मिलकर अग्रेजो के विरुद्ध लडनेवाले कुछ गोरे अफसर भी थे। उनका उल्लेख करते हुए स्टार्क ने सगर्व लिखा है—अग्रेजो से अग्रेज तक लडे, नही लडे तो केवल-ऐंग्लो इडियन!

श्री फ्रैंक ऐन्टनी भी कह सकते हैं—अग्रेजो ने भी चाहे हिन्दी को राजभाषा स्वीकार कर लिया हो, नही स्वीकार किया तो उन-जैसे एग्लो-इडियनो ने!

श्री ऐन्टनी के भाषण के समय चारो ओर से सदस्यो ने उस पर आपत्ति की और अपना तीव्र विरोध प्रकट किया। किन्तु प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलालनेहरू ने अग्रेज़ी के भविष्य के सम्बन्ध मे श्री ऐन्टनी को यथेष्ट आश्वासन दिया। कहना चाहिए, आश्वासन यथेष्ट से भी अधिक था क्योकि प्रधानमन्त्री के भाषण के बाद श्री ऐन्टनी ने सन्तोष प्रकट करते हुए कहा कि उन्होने जितने की आशा की थी, उससे भी अधिक प्रधान मन्त्री से उन्होंने पाया।

प्रधान मन्त्री अत्यन्त उदारचेता व्यक्ति हैं। सकीर्णता उनके स्वभाव के प्रतिकूल है। उनका अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण जितना व्यापक है, उतना ही और उससे कुछ अधिक ही व्यापक उनका राष्ट्रीय दृष्टिकोण है। विशेष रूप से उनका हिन्दी-सम्बन्धी दृष्टिकोण इतना व्यापक हो गया है कि अब वह कोण न रहकर रेखा बन गया है जिसमे चौडाई क्षीण होकर लम्बाई मे परिवर्तित हो गई है।

भारत मे कुछ लोग हिन्दी के हिमायती हैं, कुछ लोग अग्रेज़ी के। पचशील का तकाजा है कि दोनो का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व कायम रहे। जैसे भारत की

स्वाधीनता-रक्षा के साथ राष्ट्रीय सरकार ने देश में ब्रिटिश पूंजी के मुनाफे की रक्षा का भार भी लिया है, उसी तरह क्या अंग्रेजी का राजभाषा बना रहना हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने में सहायक नहीं हो सकता ? असली चीज है दोनों के अलग-अलग क्षेत्रों को पहचानना। यह पहचान हासिल हो तो संघर्ष की नौबत ही न आए। भाषाएँ 'ओवरलैप' करती हैं, ओवरलैप करने से प्रधान मन्त्री का आशय क्या है, यह जितना हम समझते हैं, उतना अखबार पढ़कर आप भी समझ सकते हैं। 'लैंग्वेजेज टू ओवरलैप'—प्रधान मन्त्री के इस भाषाविज्ञानी सूत्र की व्याख्या करना हमारा काम नहीं।

प्रधान मन्त्री ने बताया कि पहले अंग्रेजी एक लादी हुई भाषा थी। फिर भी उसने आधुनिक ज्ञान के द्वार खोल दिये।

इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्तमान समय में जो लोग उस लादी हुई भाषा का लदाव अस्वीकार करके स्वेच्छा से उसे ढोते हैं, वे और भी जल्दी आधुनिक ज्ञान भण्डार तक पहुँच जाएंगे। उनके लिए द्वार खोलने का सवाल भी न उठेगा, वे खिड़की या रोशनदान से ज्ञान मन्दिर के आँगन में कूद पड़ेंगे।

प्रधानमन्त्री ने कहा कि ऐंग्लो-इंडियन सम्प्रदाय को पूर्ण अधिकार है कि वह अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा पाये। इसके सिवा उन्होंने एक बात मार्के की और कही—"ऐंग्लो-इंडियन्स शुड बी गिविन एव्री फैसिलिटी टू डिवेलप इंगलिश लैंग्वेज।' ऐंग्लो इंडियनों को यह पूर्ण अधिकार मिलना चाहिए कि वे अंग्रेजी भाषा को विकसित कर सकें। अभी तक हम सुनते थे कि हिन्दी को ही भाषा-रूप में विकसित करना आवश्यक है, वह पिछड़ी हुई भाषा है, उसका भाषागत अथवा साहित्यिक महत्त्व नहीं है, महज सुविधा के लिए, बोलनेवालों की विशाल संख्या के ही कारण उसे राष्ट्रभाषा या राजभाषा बनाना है, इसलिए उसे विकसित करना होगा। किन्तु सर्वज्ञान समृद्ध, आधुनिकता की खान, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महाभाषा अंग्रेजी को 'डिवेलप' कराना जरूरी है, और वह भी भारत के ऐंग्लो-इंडियन सम्प्रदाय द्वारा—इसमें बड़ी सूझ-बूझ की बात लोकसभा में स्वयं प्रधान मन्त्री भी आगे कहेंगे, इसमें सन्देह है।

प्रधान मन्त्री ने अपनी नीति के समर्थन में कहा कि पांडिचेरी प्रदेश ('पांडिचेरी-टेरीटरी') की भाषा फ्रांसीसी है।

भले ही इस पांडिचेरी प्रदेश की भारतीय जनता की भाषा फ्रांसीसी न हो, लेकिन अगर एक यूरोपीय भाषा होने के नाते वहाँ उसे राजभाषा का पद मिल सकता है, तो सारे भारत में अंग्रेजी को राजभाषा—अथवा हिन्दी के साथ अतिरिक्त राजभाषा (और व्यवहार में एकमात्र राजभाषा)—का पद क्यों नहीं दिया जा सकता ?

प्रधानमन्त्री ने कहा कि जो प्रदेश पुर्तगालियों के अधिकार में है, एक दिन वह भी भारत राज्य में मिल जाएगा। तब पुर्तगाली भी 'ए लैंग्वेज ऑफ इंडिया' (भारत की एक भाषा) होगी।

इससे स्पष्ट परिणाम निकला कि सविधान मे उल्लिखित भारतीय भाषाओ मे अग्रेजी का नाम न होने पर भी वह है भारतीय भाषा ही !

लोकसभा के एक दक्षिण भारतीय सदस्य ने श्री ऐन्टनी के समर्थन मे कहा कि दो शताब्दियो मे भारत का बुद्धिजीवी वर्ग अग्रेजी को अपनी भाषा के रूप मे अपनाये हुए है । देश की एकता के लिए यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालयो मे शिक्षा का माध्यम एक ही भाषा अर्थात् अग्रेजी हो । प्रधान मंत्री ने माननीय सदस्य की बात की चर्चा करते हुए कहा कि वह स्वय भी चाहते है कि विश्वविद्यालयो मे शिक्षा का माध्यम एक ही भाषा अर्थात् अग्रेजी रहे लेकिन उन्हें किसी तरह के दबाव से नफरत है; इन सब चीजो का सहज विकास ही वाछनीय है। उन्होने कहा कि हिन्दी के हिमायती जब दूसरो पर हिन्दी लादना चाहते हैं, तो वह भी नापसन्द है।

नतीजा यह कि इन दो नापसन्दगियो के बीच अग्रेजी हमारी पसन्द से, बिना किसी पर लदे हुए, राजभाषा बनी रहती है।

अग्रेजी के राजभाषा न रहने से क्या होगा ? प्रधान मन्त्री के अनुसार अग्रेजी आधुनिक ससार की ओर खुलनेवाली बडी खिडकी है। 'वी डेयर नॉट क्लोज दैट विण्डो। इफ वी क्लोज इट, इट इज ऐट द पेरिल ऑफ अवर फ्यूचर।' (यह खिडकी हमे हर्गिज बन्द न करनी चाहिए। उसे बन्द किया तो हमारा भविष्य सकट मे पड जाएगा।)

भारत का भविष्य यहाँ की निन्यानवे फीसदी जनता पर निर्भर नही है। भविष्य निर्भर है डेढ फीसदी अग्रेजी जाननेवालो पर, जो इस खिडकी से आधुनिक ससार की ओर झाँकते हैं। इन डेढ फीसदी मे भी बहुतो को खिडकी तक पहुँचने और बाहर झाँकने का सौभाग्य नही मिलता। अग्रेजी व्याकरण, उसके बाद उच्चारण और उससे भी बढकर शब्दो के लेखन की ऐसी बाधाएँ है जो उन्हे झाँकने से रोकती हैं। इसी कारण कुछ प्रदेशो के मन्त्री और उपमन्त्री तक बहुधा अपने अग्रेजीदाँ सेक्रेटरियो की पीठ का सहारा लेकर ही खिडकी से झाँकते हैं। झाँककर वे क्या पाते हैं, यह कहना कठिन है क्योकि जनता से अधिक भाग्य-नक्षत्रो पर भरोसा होने के कारण वे ज्योतिष-शास्त्र को आधुनिक विज्ञान की चरम उपलब्धि मानते हैं।

प्रधानमन्त्री की युक्तिपूर्ण बातें कुछ समाचारपत्रो की समझ मे नही आईं। इनमे ऐसे पत्र भी हैं जो हिन्दी के समर्थको की आलोचना करते हैं और जिनकी भाषा अग्रेजी है। उदाहरण के लिए, 'टाइम्स ऑफ इडिया' ने १४ अगस्त की सम्पादकीय टिप्पणी मे लिखा था, "राजभाषा के सम्बन्ध मे लोकसभा की समिति ने अपने अत्यन्त तर्कसगत विवरण मे 'हिन्दी साम्राज्यवाद' के भय को निर्मूल कर दिया था। उसके बाद प्रधानमन्त्री द्वारा अधिक आश्वासन की अपेक्षा न थी। जो भय दूर हो चुके थे, उन्हें फिर से दूर करने के प्रयास मे श्री नेहरू ने ऐसी बातें कही जो उन चरम-पथियो के हाथ मजबूत करती है जो इस स्थिति को अस्वीकार करते

हैं कि हिन्दी देश की राजभाषा हो।

यह अखबार मानता है कि आधुनिक संसार को देखने के लिए अंग्रेजी खिड़की आवश्यक है लेकिन उसे खेद है कि श्री नेहरू आवश्यकता से अधिक आश्वासन दे गए। और हम खेद है प्रेमचन्द की बुद्धि पर जो अंग्रेजी का राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व न समझकर उसे राष्ट्रभाषा माननेवाले देशभक्तों के लिए कह गए थे—'वे इतनी बुलन्दी पर पहुँच गए हैं कि नीचे का धूल और गर्मी उन पर कोई असर नहीं कर सकती। वे मुअल्लक हवा में लटके रह सकते हैं। लेकिन हम सब तो हजार कोशिश करने पर भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। हम तो इसी धूल और गर्मी में जीना और मरना है। इंटेलीजेंशिया में जो कुछ शक्ति और प्रभाव है वह जनता ही से आता है। उससे अलग रहकर वे हाकिम की सूरत में ही रह सकते हैं खादिम की सूरत में जनता के होकर नहीं रह सकते। उनके अरमान और मंसूबे उनके हैं जनता के नहीं। उनकी आवाज उनकी है उसमें जनसमूह की आवाज की गहराई और गरिमा और गम्भीरता नहीं है। वह अपने प्रतिनिधि हैं जनता के प्रतिनिधि नहीं। (१९५९)

२२

सोवियत संघ में भाषा-समस्या-समाधान

तोल्स्तोय ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' मे एक क्लब की चर्चा की है जिसकी स्थापना इस उद्देश्य से की गई थी कि उसके सदस्य रूसी बोलें, जो रूसी न बोले वह जुर्माना दे। यह सस्था राष्ट्रीयता के आवेश मे तब कायम की गई थी जब नेपोलियन मास्को के निकट पहुँच गया था। एक महिला सदस्य बीच मे फ्रासीसी बोलने लगती है और फिर भूल सुधारकर कहती है, आखिर इस बात को रूसी मे कैसे व्यक्त करे ! रूस के अभिजात वर्ग की यह फ्रासीसी-भक्ति भारत के बहुत-से नौकरी-पेशा, नेता-पेशा भद्रजनो की अग्रेजी-भक्ति से तुलनीय है। समाजवादी क्रान्ति ने यह विदेशी भाषा-भक्ति खत्म कर दी।

समाजवादी क्रान्ति के बाद साम्यवादी नेता इस बात का इन्तजार नही करते रहे कि रूसी भाषा विकसित होकर फ्रासीसी या जमन के बराबर हो जाय तब उसे राजभाषा बनाएँगे। उन्होने रूसी को ही राजभाषा नही बनाया, उक्रैनी, जार्जियाई, बेलोरूसी आदि भाषाओ को भी राजभाषा बनाया। सोवियत सघ गणराज्यो का सघ है और प्रत्येक गणराज्य की अपनी राजभाषा है। जो जातियाँ पिछडी हुई थी, जिनकी भाषाओ की लिपि नही थी, उन्हें भी लिपि-व्याकरण आदि से दुरस्त करके स्वायत्त शासन के कार्यों के लिए चालू किया गया। जैसा कि गाधीजी ने कहा था, भारतीय भाषाओ के पिछडेपन की दुहाई देकर अग्रेजी को बरकरार रखना आलस्य की निशानी है।

विभिन्न जातियो के बीच आपसी व्यवहार और केन्द्रीय राजकाज के लिए कोई भाषा हो या न हो ? रूस मे जातीय उत्पीडन तीव्र था, इसलिए लेनिन ने यह नारा दिया कि कोई भी अनिवार्य केन्द्रीय राजभाषा न होनी चाहिए। साथ ही लेनिन ने अपने भाषा-सम्बन्धी लेखो मे यह भी कहा कि सभ्य देश मे लोग उस जाति की भाषा को आपसी व्यवहार के लिए स्वीकार करेंगे जिसके बोलनेवालो की सख्या ज्यादा होगी। इस तरह केन्द्रीय पार्टी-कार्यों और केन्द्रीय राजकाज के लिए रूसी भाषा का व्यवहार बराबर होता रहा।

पूँजीवादी बहुजातीय देशो और सोवियत सघ मे केन्द्रीय भाषा की स्थिति मे

अन्तर है। सोवियत सघ मे क़ानून से रूसी को केन्द्रीय भाषा नहीं बनाया गया, वह स्वेच्छा से स्वीकृत हुई है। स्वेच्छा से स्वीकृत होने का सामाजिक आधार यह है कि किसी जाति के पूँजीपति दूसरी जाति के अधिकारो का दमन करने को नहीं बचे। इसके अलावा रूस मे गैर-केन्द्रीय भाषाओं को जितने अधिकार प्राप्त हैं, उतने किसी भी बहुजातीय पूँजीवादी देश मे गैर-केन्द्रीय भाषाओं को प्राप्त नहीं हैं। प्रत्येक गणराज्य (या रिपब्लिक) में उसकी अपनी राजभाषा है। स्वायत्त शासन क्षेत्रों मे अन्य छोटी जातियो की भाषाओ में राजकाज होता है। युद्धकाल मे कालीनिन ने राजनीतिक कार्यकर्ताओं से कहा था कि वे सैनिकों से उन्ही की भाषा मे बातचीत करें, तभी उनका प्रचार-कार्य सफल होगा। यू० एन० ओ० तक मे उक्रैनी सदस्य अपनी भाषा का व्यवहार कर चुके हैं।

सोवियत सघ बहुजातीय देश है किन्तु वहाँ गणराज्यों की सरकारो के अलावा केन्द्रीय सरकार भी है। देश के राजकाज का सचालन करनेवाली पार्टी है जिसका सगठन-सिद्धान्त है जनवादी केन्द्रीयता। स्तालिन जार्जिया के थे लेकिन केन्द्रीय शासन और पार्टी-कार्य के लिए रूसी बोलते और लिखते थे। ख्रुश्चेव उक्रैनी हैं लेकिन पार्टी काग्रेसो आदि में रूसी बोलते हैं। मिकोयान आर्मीनियन हैं। उनकी स्थिति भी वही है। रूसी जाने और उसका व्यवहार किये बिना वहाँ कोई राष्ट्रीय नेता नही बन सकता। इससे जो निष्कर्ष निकलते हैं, वे भारत के प्रगतिशील नेताओं के ध्यान देने योग्य हैं।

सोवियत सघ मे सौ से ऊपर जातियाँ हैं लेकिन इनके सोलह प्रजातन्त्र या गणराज्य ही हैं। प्रत्येक भाषा को लेकर एक राज्य क्यों नही बना? इसका कारण यह है कि रूसी नेताओं ने भाषा समस्या को मूल सामाजिक समस्या के अधीन माना है, उससे स्वतन्त्र नही। मूल समस्या है, किसान-मजदूरो की मुक्ति की, समाजवाद के विकास की। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से यदि किसी जाति का गणराज्य निर्बल पड़ता है तो उसे दूसरे के साथ मिलकर रहना होगा, अलबत्ता उसका अपना स्वायत्त शासन-क्षेत्र होगा जिसमे उसकी अपनी भाषा का व्यवहार जायज होगा। भारत मे प्रत्येक भाषा को लेकर एक राज्य बने या न बने—यह प्रश्न मूल सामाजिक समस्या से अलग रखकर हल नहीं किया जा सकता।

सोवियत सघ मे प्रत्येक जाति की भाषा को विकास की सुविधाएँ प्राप्त हैं। फिर भी ये अधिकार और जातीय समानता हर जगह सौ फीसदी एक-से नहीं हैं। रूसी भाषा हर नागरिक को सीखनी होती है, रूसी-भाषियों को दूसरी भाषाएँ उसी तरह नहीं सीखनी पड़ती। गणराज्य की भाषा वहाँ के प्रत्येक नागरिक को सीखनी होती है। जिनकी वह मातृभाषा नहीं है, उन्हें भी वह सीखनी होती है। यथा उक्रैनी गणराज्य मे उक्रैनी-भाषियों को मातृभाषा के अलावा रूसी सीखनी होगी; वहाँ उजबेक हो तो वे उजबेक के अलावा रूसी और उक्रैनी सीखेंगे। इस तरह हर नागरिक को एक, किसी को दो, किसी को तीन या अधिक भाषाएँ परि-स्थिति के अनुसार सीखनी होती हैं।

सोवियत सघ मे हर भाषा विश्वविद्यालय मे शिक्षा का माध्यम नही है। निम्नस्तर के राजकाज और सास्कृतिक कार्यवाही के लिए मातृभाषा का ही व्यवहार किया जाता है। उच्च शिक्षा का माध्यम बनानेवाली भाषाओ की सख्या सीमित है और इनमे भी जितना उच्च अनुसन्धान और शिक्षा-कार्य रूसी मे होता है, उतना अन्य भाषाओ मे नही। इस बात को ध्यान मे रखने से राजस्थानी, पजाबी आदि भाषाओ के प्रति न्याय करने की समस्या हल की जा सकती है। साथ ही इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि सभी सोवियत विश्वविद्यालयों मे शिक्षा का माध्यम रूसी नही है। उक्रैन की विज्ञान अकादमी अपना विवरण आदि उक्रैनी मे ही प्रकाशित करती है।

मुख्य बात यह है कि सोवियत-विज्ञान जनता की सेवा के लिए है, सोवियत शिक्षा जनता को सुसस्कृत करके उसे साम्यवाद की ओर ले जाने के लिए है। पूँजीवादी शोषण को समाप्त कर देने से सोवियत सघ मे भाषा और धर्म को लेकर दगे नही होते, सभी जातियाँ परस्पर सहायता और सहयोग का जीवन बिताती हैं। इसलिए वहाँ भाषा समस्या भी सन्तोषजनक ढग से हल कर ली गई है।

(१६६१)

२३

हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता

किसी जाति की भाषा-समस्या पर विचार करते हुए हमें सबसे पहले उसके बोलचाल के रूप पर ध्यान देना चाहिए। क्या बोलचाल के रूप में भी हिन्दी-उर्दू दो भाषाएँ हैं ? इसमें सन्देह नहीं कि बहुत कठिन हिन्दी और बहुत कठिन उर्दू बोली जा सकती है, लेकिन आम लोग उन्हें बोलते नहीं। इसलिए प्रेमचन्द का यह कहना ठीक था कि "बोलचाल की हिन्दी और उर्दू प्राय एक सी है।" उर्दू हिन्दी के सर्वनाम एक हैं—वह, मैं, तू, हम इत्यादि। हिन्दी-उर्दू की क्रियाएँ एक ही हैं—जाना, सोना, खाना, पीना, करना, मरना, जीना, लिखना, पढना इत्यादि। आजमाना, गुज़रना, लरजना जैसी क्रियाएँ बहुत थोडी हैं, कुल मिलाकर एक दर्जन से ज्यादा नहीं, जो फारसी अरबी शब्दों के आधार पर बनी हैं। वे हिन्दी में मतरूक (उपेक्षित) नहीं हैं। बोलचाल में उनका प्रयोग बराबर होता है। हिन्दी-उर्दू के सम्बन्धवाचक शब्द—में, पर, से, का आदि—वही हैं जो हिन्दी के। दोनों का मूल शब्द भण्डार भी एक है, लेकिन यहाँ बहुत दिनों तक फारसी के राजभाषा रहने से हिन्दी शब्दों के फारसी या अरबी पर्यायवाची शब्द प्रचलित हो गए हैं—जैसे देश मुल्क, आकाश-आसमान, धरती ज़मीन, भाष ज़बान, किसान-काश्तकार, नदी दरिया, रोगी बीमार इत्यादि।

इन शब्दों का व्यवहार बोलचाल की हिन्दी उर्दू में बिना किसी भेदभाव के होता है। देश, आकाश, धरती जैसे शब्द उर्दू-साहित्यकारों की रचनाओं में मिलेंगे और मुल्क, आसमान, जमीन जैसे शब्द हिन्दी साहित्यकारों की रचना में। इसके सिवा हल, बैल, खेत, खलिहान, बीज, जुताई, बुवाई, कारखाना, मजदूर, काम, छुट्टी आदि हजारों ऐसे शब्द हैं जिनके पर्यायवाची शब्द बोलचाल की भाषा में व्यवहृत नहीं होते, साहित्यिक भाषा में भले होते हों। लखनऊ और हैदराबाद के हिन्दू-मुसलमान बोलचाल की भाषा में फारसी शब्दों का व्यवहार ज्यादा करेंगे, उन्हीं फारसी शब्दों की जगह बिहार और मध्य प्रदेश के मुसलमान हिन्दी या संस्कृत शब्दों का प्रयोग करेंगे। यह स्थानीय भेद हुआ, इससे दो भाषाओं का निर्माण नहीं होता। हिन्दी उर्दू का व्याकरण

एक, वाक्यरचना एक-सी, शब्द-भण्डार और क्रियाएँ एक सी—इसीलिए हिन्दी-उर्दू-भाषियो की दो कौमे नही है। उनकी जाति एक है और बोलचाल की भाषा एक है।

हिन्दी-उर्दू मे सबसे पहला भेद लिपि का है। लिपि लिखने के काम आती है न कि बोलने के। इसलिए लिपि-भेद को हम बुनियादी भेद नही मानते। हिन्दी-उर्दू मे दूसरा भेद है शब्द भण्डार का। यह भेद साधारण लोगो की बोलचाल मे बिल्कुल नही है, पढे-लिखे लोगो मे बहुत थोडा है और भाषा के लिखित रूपो मे बहुत ज्यादा है। बोलचाल मे जो शब्द सामान्य सम्पत्ति हैं, लिखते समय उनमे भी अलगाव करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। धरती, आकाश, किसान, नदी, भाषा, रोगी, देश जैसे शब्द उर्दू मे कम मिलेंगे, काश्तकार, दरिया, आसमान, जबान जैसे शब्द साहित्यिक हिन्दी मे कम मिलेंगे।

लेकिन मूल भेद दूसरा है। दर्शन, राजनीति, साहित्य आदि मे जब हमे ऐसे शब्दो की जरूरत होती है, जो किसानो-मजदूरो की बोलचाल मे नही हैं, तब उर्दू लेखक अरबी-फारसी से उधार लेते हैं, हिन्दी लेखक सस्कृत से। राजनीति-सियासत, साहित्य अदब, लिपि-रस्मुल्खत, भाषाविज्ञान-लसानियात, आलोचना तनकीद, अन्तर्राष्ट्रीय बैनुलअक्वामी, इतिहास-तारीख, जनतन्त्र-जम्हूरियत, कोश-लुगत—मुख्यत इस तरह की शब्दावली हिन्द-उर्दू मे अलगाव उत्पन्न करती है।

पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि हिन्दी-उर्दू का यह अलगाव हमारे जातीय विकास के लिए घातक है। पढे-लिखे लोगों की शक्ति एक जगह सिमट-कर पूरी जाति को आगे बढाने के बदले बिखर जाती है और लिपि के आधार पर पाठक-वर्ग दो हिस्सो मे बँट जाता है। यदि भाषा और साहित्य उच्च वर्गों के थोडे-से पढे लिखे आदमियो के लिए ही हो, तो वे चाहे उर्दू मे मनोरजन करें, चाहे हिन्दी मे, बाकी जनता इस मनोरजन से दूर रहेगी। लेकिन सवाल है देश के साधारण लोगो का मेहनत से अन्न पैदा करनेवालो और पचवर्षीय योजनाएँ पूरी करनेवालो का। भाषा और साहित्य इनके लिए हैं। समाजवादी व्यवस्था में सबसे पहले इन्ही के लिए परिवर्तन होगे। तब यह भाषा और लिपि का बँटवारा कब तक चलेगा?

समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के लिए जनता का सगठन, उसकी शिक्षा और आन्दोलन जरूरी हैं। यदि एक ही कारखाने के मजदूर दो लिपियो से काम लेते हैं तो इससे उनकी शक्ति कम होगी, उनकी सस्कृति मे दरारें पडेंगी। इसके सिवा हिन्दुस्तानी जाति दुनिया की सबसे बडी जातियो मे है। अग्रेजी बोलनेवाले बहुत हैं, लेकिन वे अनेक जातियो के हैं। एक ही भाषा बोलनेवाली कोई जाति हमसे सख्या मे बडी हो सकती है, तो चीनी है। भारत की सभी जातियो मे हमारी जाति सबसे बडी है, यह निर्विवाद है। ऐसी स्थिति मे हमारी भाषा का राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्व है। स्पष्ट है कि हमारी भाषा अपनी

पूरी ताक़त से तभी प्रगति कर सकती है, जब उसमे जाति के सभी तत्वों का सहयोग हो।

हिन्दी उर्दू को एक होना चाहिए—यह हमारे ऐतिहासिक विकास की माँग है। इसके लिए आवश्यक सास्कृतिक आधार यह है कि साधारण जनता की बोलचाल की भाषा एक है। हमे इस एकता की ओर बढने के लिए मजबूर करनेवाला सामाजिक कारण देश का पिछडापन, जनता की गरीबी, समाजवादी निर्माण की आवश्यकता है। इसके सिवा यह भी याद रखना चाहिए कि भारत के हर प्रदेश का सामाजिक और सास्कृतिक जीवन अलग अलग रहकर विकसित नहीं होता, वह अखिल भारतीय जीवन प्रवाह की एक धारा है। और उस प्रवाह के साथ ही आगे बढता है। यहाँ की भाषाएं भी एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं और करेंगी। भारत के हर जातीय प्रदेश की भाषा और लिपि एक हो, लेकिन हिन्द प्रदेश की दो लिपियाँ और दो भाषाएँ हो, यह सम्भव नही है।

उर्दू अलग किसी कौम की भाषा नही है, इसलिए उसे इलाकाई जबान मनवाने के आन्दोलन का विरोध करना उचित है। किन्तु वह सास्कृतिक अल्पसख्यकों की साहित्यिक भाषा है, इसलिए उसे पढने-पढाने और उसका व्यवहार करने की सुविधा मिलनी चाहिए। राजभाषा के रूप मे हिन्दी होनी चाहिए, राजकाज के लिए दो लिपियाँ और उनमे लिखी हुई दो भाषाएँ नही हो सकती। हिन्दी-उर्दू के शब्द-भण्डार मे काफी आदान प्रदान की गुजाइश है। हिन्दी मे बोलचाल के बहुत से शब्द साहित्यिक कृतियों मे छोड दिये जाते हैं। बहुत से मुहावरे, कहावतें, बोलचाल के शब्द एसे है जो उर्दू मे हैं, लेकिन जिनका प्रयोग हिन्दी मे नही होता, कम होता है या गलत भी होता है। यह सब उर्दू स हिन्दी म आएगा। हमारी साहित्यिक भाषा ज्यादा सरल और मुहावरेदार होगी।

उर्दू मे सस्कृत शब्दो से जो परहज है, उसे कम हाना है। भारत की भाषाओ के लिए अरबी फारसी का वही महत्व नहीं है, जो सस्कृत का है। व्याकरण और मूल शब्द-भण्डार की दृष्टि स उर्दू सस्कृत परिवार की भाषा है, न कि अरबी-परिवार की। इसलिए अरबी म पारिभाषिक शब्द लेने की नीति गलत है, केवल अरबी स शब्द लेने और सस्कृत शब्दो को मनहूक समझने की नीति और भी गलत है। भारत की भाषाएँ प्राय सस्कृत के आधार पर पारिभाषिक शब्दावली बनाती है। उर्दू इन सब भाषाओ से न्यारी रहकर अपनी उन्नति नही कर सकती। जहा तक पाकिस्तान का सम्बन्ध है, यह याद रखना चाहिए कि वहाँ की भाषाएँ सिंधी, पजाबी, पश्तो, बँगला आदि हैं। उर्दू उनके अधिकार छीननेवाली राजभाषा है। पाकिस्तान म उर्दू का सामाजिक आधार बहुत ही सकुचित है। इसमे जरा भी सन्देह न हाना चाहिए कि सिंध, पजाब, पूर्वी बगाल आदि प्रदशो की जनता अपनी भाषाओं की रक्षा करेगी

हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता]

और उन्ही के माध्यम से अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति करेगी। इसलिए यदि कोई यह सोचे कि पाकिस्तान उर्दू की रक्षा करेगा, तो यह उसका भ्रम है। पाकिस्तान बनने से उत्तर प्रदेश के मुसलमानो की न सामाजिक समस्याएँ हल हुईं, न उनकी भाषा-समस्या हल हो सकती है। इसीलिए उर्दू की समस्या का हल यही है, तो इसी हिन्द प्रदेश मे है, जहाँ की जनता मे उसका बोलचाल का रूप कायम है।

शब्द भण्डार मे आदान प्रदान सम्भव है लेकिन लिपि मे इसकी सम्भावना बिलकुल नही है। उर्दू से अलिफ और हिन्दी स 'इ' लेकर कोई नई लिपि नही बनाई जा सकती। रोमन लिपि का सवाल नही है। हम अपनी लिपि छोडकर रोमन लिपि न अपनाएँगे। यदि रोमन लिपि कोई बहुत पूर्ण और वैज्ञानिक लिपि होती, तो उस पर विचार भी किया जाता। हिन्दी-उर्दू के लिपि-भेद को दूर करने के लिए रोमन लिपि को अपनाना वैसे ही है, जैसे हिन्दी तमिल, मराठी गुजराती या बँगला असमिया के भगडो को दूर करने के लिए अग्रेजी को यह राजभाषा बनाये रखना।

उर्दू लिपि के व्यवहार के लिए पूर्ण स्वाधीनता देते हुए प्रगतिशील विचारकों को चाहिए कि उर्दू-भाषियो को देवनागरी लिपि सिखाएँ। देवनागरी लिपि मे उर्दू की जितनी किताबें छप रही हैं, उन्हे देखते हुए यह अनुमान होता है कि आगे चलकर देवनागरी लिपि मे ही उर्दू के लेखकों की रचनाएँ छपेंगी। साक्षरता-प्रसार के साथ और दक्षिण मे हिन्दी-प्रचार के साथ हिन्दी पुस्तको के लिए एक बहुत बडा बाजार तैयार हो गया है। यह नामुमकिन है कि उर्दू के होशियार पजाबी लेखक इस स्थिति से फायदा न उठाएँ। सीधी मुनाफे की बात है उर्दू मे किताब छपेगी कम बिकेगी, हिन्दी मे छपेगी ज्यादा बिकेगी। यह एक तरह का आर्थिक दबाव है जिससे देवनागरी लिपि को उर्दू लेखक अपनाएँगे।

इस प्रकार सामाजिक जीवन की परिस्थितियाँ हिन्दी उर्दू को बराबर एक दूसरे के नजदीक लाती रही हैं। सिनेमा और रगमच के लिए लिखनेवाले शुद्ध हिन्दी उर्दू का खयाल रखें तो उनकी रचनाएँ असफल हो। किसानो और मजदूरो मे राजनीतिक काम करनेवालो को मजबूरन ऐसी सरल भाषा का प्रयोग करना पडता है जिसे हिन्दू-मुसलमान दोनो समझे। जन आन्दोलन की एकाता हिन्दी उर्दू के रूपो पर बराबर असर डाल रही है, और इसीलिए हमें यह दृढ विश्वास है कि ये दोनो रूप अपने अच्छे तत्वो से एक ही साहित्यिक भाषा के विकास मे सहायता करेंगे। (१९६१)

२४

राष्ट्रीय एकता और अंग्रेज़ी

राष्ट्रभाषा ऐसी होनी चाहिए जिसे देश की बहुसंख्यक जनता जानती हो और जो लोग उसे न जानते हों, वे उसे आसानी से सीख सकें। यह दृष्टिकोण राष्ट्रीय ही नहीं जनतांत्रिक भी है क्योंकि बहुसंख्यक जनता द्वारा बोली-समझी जानेवाली भाषा के पक्ष में दिये जानेवाले तर्क के पीछे भावना यह है कि राष्ट्रीयता मुट्ठी भर अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों की बपौती नहीं है, उसका सम्बन्ध देश की बहुसंख्यक जनता से है।

पं० जवाहरलाल नेहरू ने बीस-बाईस साल पहले लिखा था, 'प्रान्तीय भाषाओं के अधिकार क्षेत्र की सीमाओं का जरा भी उल्लंघन किये बिना हमारे लिए आवश्यक है कि अखिल भारतीय व्यवहार की एक सामान्य भाषा हो। कुछ लोग सोचते हैं कि अंग्रेज़ी ऐसी भाषा बन सकती है, एक हद तक हमारे उच्च वर्गों के लिए और अखिल भारतीय राजनीतिक कार्यों के लिए अंग्रेज़ी ऐसी भाषा बनी भी है। किन्तु यदि हम आम जनता को ध्यान में रखकर सोचें तो यह बात स्पष्ट ही असम्भव प्रतीत होगी। हम करोड़ों लोगों को एक नितान्त विदेशी भाषा द्वारा शिक्षित नहीं कर सकते।" (नैशनल लैंग्वेज फॉर इंडिया—ए सिम्पोज़ियम, इलाहाबाद, १९४१, पृ० ४६-५०)

यदि राष्ट्रीयता उच्च वर्गों तक सीमित कर दी जाय, यदि जनतंत्र का उद्देश्य मुट्ठी भर लोगों का ऊँची सरकारी नौकरियाँ पाना हो, तो अवश्य अंग्रेज़ी ही राष्ट्रभाषा रहेगी जैसे कि वह पिछले पन्द्रह वर्षों (या और भी पहले से) रही है। अंग्रेज़ी को हटाने और हिन्दी को व्यवहार में राष्ट्रभाषा बनाने का प्रश्न राष्ट्रीयता को व्यापक बनाने, राज्यसत्ता को जनतांत्रिक रूप देने का प्रश्न है। जितने ही दिन अंग्रेज़ी असली राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित रहेगी है, उतने ही दिन राष्ट्रीयता का आधार क्रमशः संकुचित होता जाएगा, राज्य सत्ता जनता का विशद सम्पर्क और समर्थन खोती जाएगी। अनिश्चित काल के लिए अंग्रेज़ी को राष्ट्रभाषा बनाये रखने का अर्थ है, निश्चित रूप से जनतंत्र के आधार को संकुचित करते जाना और अन्त में उसे निर्मूल कर देना।

पराधीन भारत मे ऊँची सरकारी नौकरियाँ पाने का अर्थ होता था, जनता पर हुकूमत करना। स्वाधीन भारत मे सरकारी नौकरियो का अर्थ होना चाहिए जनता की सेवा करना। जिस भाषा को देश की जनता का एक प्रतिशत भाग समझता है, उससे विशाल जनता की सेवा कैसे हो सकती है? आज भी बगाल, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत मे—पजाब और कश्मीर की तो बात ही क्या—जितने लोग हिन्दी समझते हैं, उतने अग्रेजी नही। अग्रेजी न जाननेवाले इन करोडो अहिन्दी भाषियो की सवा ऊँची सरकारी नौकरियाँ पानेवाले सज्जन हिन्दी के माध्यम से अधिक कर सकते है या अग्रेजी द्वारा?

कुछ लोग राष्ट्रीय एकता—या भावात्मक एकता—अग्रेज़ी के माध्यम से दृढ करने का स्वप्न देखते हैं। यदि राष्ट्रीय एकता का अर्थ मुट्ठी-भर अग्रेजी पढ़े-लिखे लोगो की एकता है तो सम्भव है, वह अग्रेजी से दृढ़ हो यद्यपि अग्रेजीदाँ नेताओ की कलह देखकर यह सम्भावना भी बहुत विश्वसनीय नही जान पडती। किन्तु यदि राष्ट्रीय एकता का अर्थ जन साधारण की एकता है तो उसे दृढ करने मे अग्रेजी बाधक ही हो सकती है, साधक नही।

राष्ट्रीय गौरव की भावना के बिना भावात्मक एकता की कल्पना नहीं की जा सकती। जिस राष्ट्र की अपनी भाषा न हो, जो राष्ट्र भाषा के पद पर एक विदेशी भाषा को बिठाये हो, उसके नागरिको मे राष्ट्रीय गौरव की भावना कैसे दृढ हो सकती है?

अग्रेजी के पक्ष में जो मुख्य तर्क दिया जाता है कि अग्रेजी एक विकसित और समृद्ध भाषा है किन्तु हिन्दी तथा अन्य सभी भारतीय भाषाएँ अविकसित और दरिद्र हैं—वह राष्ट्रीय गौरव की भावना पर कुठाराघात है। अग्रेजी के विकास और समृद्धि के गीत गाकर राष्ट्रीय गौरव को जगाने और भावात्मक एकता दृढ करनेवाले मेधावी लोग विषपान करके अमर होने का स्वप्न देख रहे हैं। यदि सुब्रह्मण्य भारती, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, वल्लत्तोल, प्रेमचन्द आदि साहित्यकार अग्रेजी की समृद्धि से इसी तरह आतकित होते तो भारतीय साहित्य का बेडा मँझधार मे कभी का डूब चुका होता।

हम न दूसरो की तुलना मे अपने को अकारण बडा बताकर डीग हाँकते हैं, न दीनभाव मे अकारण अपने को सबसे पिछडा हुआ मानने को तैयार हैं। पश्चिमी यूरोप ने विज्ञान मे अधिक उन्नति की है किन्तु साहित्य म हम यूरोप से बढकर नही तो घटकर भी नही हैं। विशेषकर पिछले सौ वर्षों मे भारतीय साहित्य ने जो उन्नति की है, वह पश्चिमी यूरोप के किसी भी देश के लिए स्पृहणीय हो सकती है।

वास्तव मे समस्या साहित्यिक समृद्धि की नही है, समस्या है राष्ट्रीय आत्मसम्मान और जनता की सेवा-भावना की। मिस्र देश हमसे अधिक विकसित नही है किन्तु वहाँ की राष्ट्रभाषा अरबी है। सोवियत सघ मे कज़ाक, उज़बक, ताजिक आदि भी अपनी भाषाओ का शिक्षा, राजनीतिक कार्यों आदि

के लिए प्रयुक्त करते हैं। चीन तक ने चीनी को राष्ट्रभाषा बना रखा है। संसार में सबसे प्राचीन संस्कृति का धनी भारत स्वाधीन होने पर भी अंग्रेज़ी को राष्ट्रभाषा बनाये रहे, इससे अधिक लज्जास्पद बात और क्या हो सकती है?

यह ध्यान देने की बात है कि जो लोग अंग्रेज़ी को विकसित और समृद्ध कहकर उसे राष्ट्रभाषा बनाये रखना चाहते हैं, वे न केवल हिन्दी को, वरन् सभी भारतीय भाषाओं को न्यूनाधिक दरिद्र और अविकसित मानते हैं। हिन्दी के लिए हमारा संघर्ष, अंग्रेज़ी के विरुद्ध, सभी भारतीय भाषाओं के अधिकारों के लिए संघर्ष है। अंग्रेज़ी भारत में साम्राज्यवादी ढंग से प्रतिष्ठित है। वह प्रत्येक प्रदेश में वहाँ की भाषा के अधिकार छीनती है, उसे उच्च शिक्षा का माध्यम बनने से रोकती है; राजकाज में, उच्च न्यायालयों में वहाँ की भारतीय भाषा को अपदस्थ करती है। अंग्रेज़ी की यह साम्राज्यवादी स्थिति सारे देश में देखी जा सकती है; कागज पर कुछ भी लिखा हो, व्यवहार की बात दूसरी ही है।

इसके विपरीत हिन्दी के समर्थकों का कहना है कि प्रत्येक प्रदेश में वहाँ की भाषा को उचित अधिकार मिले, वहाँ वे समस्त राजकाज में, शिक्षा-केन्द्रों, न्यायालयों आदि में वह प्रयुक्त हो, केवल विभिन्न प्रदेशों में आपसी व्यवहार के लिए, केन्द्रीय राज्यसत्ता और उसकी संस्थाओं के लिए हिन्दी का व्यवहार हो। यह स्थिति साम्राज्यवादी नहीं है, वरन् जनतान्त्रिक और राष्ट्रीय है। प्रत्येक प्रदेश की भाषा को अंग्रेज़ी के स्थान पर राजनीतिक सांस्कृतिक कार्यवाही का माध्यम बनाना जनतन्त्र की भावना के अनुकूल है। इन विभिन्न प्रदेशों के बीच तथा केन्द्र में हिन्दी का व्यवहार करना राष्ट्रीयता की भावना के अनुकूल है। भाषागत साम्राज्यवाद अंग्रेज़ी का है, न कि हिन्दी का। विभिन्न भारतीय भाषाओं के अधिकारों को इस समय पददलित कर रही है अंग्रेज़ी, न कि हिन्दी। अंग्रेज़ी की वास्तविक साम्राज्यवादी स्थिति को भुलाकर जो लोग कल्पित हिन्दी-साम्राज्यवाद से जनता को आतंकित करते हैं, वे राष्ट्रीय एकता दृढ़ करने के बदले राष्ट्रीय विघटन को जबर्दस्त प्रोत्साहन देते हैं।

अंग्रेज़ी से सभी भारतीय भाषाओं के हित टकराते हैं, हिन्दी से किसी भी भारतीय भाषा के हित नहीं टकराते, अंग्रेज़ी के जानने-समझनेवाले मुट्ठी-भर हैं, हिन्दी बोलने समझनेवाले करोड़ों हैं; अंग्रेज़ी कायम रखने में जनता पर हुकूमत करनेवालों का निहित स्वार्थ है; हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने से विशाल जनता की सेवा करने का अवसर मिलता है; अंग्रेज़ी राष्ट्रीय गौरव की भावना पर कुठाराघात करती है, हिन्दी राष्ट्रीय आत्मसम्मान को जाग्रत और पुष्ट करती है। इसलिए हमें दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि अंग्रेज़ी अनिश्चित काल के लिए एकमात्र या सह-राष्ट्रभाषा नहीं रहेगी, निश्चित और सीमित अवधि में ही उसे अपना स्थान छोड़ना होगा।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के विरुद्ध जितने तर्क दिये जाते हैं, उनमे ज़रा भी मौलिकता नही है, वे पराधीन भारत मे भी दिये जाते थे, अन्तर केवल इतना है कि तब ऐसे तर्क देनेवालो को अराष्ट्रीय कहा जाता था। अंग्रेज़ों के चले जाने पर मुसलमानो और अछूतो को सवर्ण हिन्दू खा जाएंगे, दक्षिणवालो पर उत्तरवाले अपना आतंक फैलाएँगे, हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने से भारत की सांस्कृतिक उन्नति रुक जाएगी—ये सब तर्क ऊँची सरकारी नौकरियों के अंग्रेज-भक्त उम्मीदवार पहले भी दिया करते थे। अब इस तरह के तर्क अंग्रेज़ी-भक्त शासक या शासकपद के उम्मीदवार दिया करते हैं। इन सब तर्कों का सारतत्व यह है कि साहब का बेटा भी साहब होगा, कॉन्वेंट मे पढ़ेगा और अंग्रेज़ो की तरह अंग्रेज़ी बोलेगा, वर्नाक्युलर बोलनेवालो पर हुकूमत करेगा।

अंग्रेज़ी-प्रेमी शासकों को भय है कि अंग्रेज़ी के राजभाषा न रहने पर राज्य-सत्ता उनके हाथ मे न रहेगी। यह वर्ग इस समय काफी प्रभावशाली है किन्तु देश की विशाल जनता के सामने उसकी शक्ति नगण्य है। जो लोग भी अपनी मातृभाषा से प्रेम करते हैं, उनकी मातृभाषा चाहे हिन्दी हो, चाहे कोई अहिन्दी-भाषा, उनका कर्तव्य है कि विभिन्न प्रदेशो मे अंग्रेज़ी की जगह वहाँ की प्रादेशिक भाषाओं को प्रतिष्ठित करें और केन्द्रीय भाषा के रूप मे अंग्रेज़ी की जगह हिन्दी का व्यवहार करें।

हिन्दी पिछड़ी हुई भाषा है इसलिए उसे विकसित होने का अवसर देना चाहिए, यह आलसियो का तर्क है। हिन्दी मे कितने आवश्यक शब्द हैं तथा कितने और होने चाहिए—इस समस्या की कोई वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल अभी तक नही हुई। यदि भारत की किसी भी भाषा को समृद्ध माना जाय तो हम उससे पारिभाषिक शब्द लेने को तैयार हैं क्योंकि जो स्रोत हमारे पारिभाषिक शब्दो का है, वही उसके शब्दो का होगा—अर्थात् संस्कृत (उर्दू को छोड़कर)।

हिन्दी पिछड़ी हुई भाषा है, यह तर्क वे लोग देते हैं, जो भारत की प्रत्येक भाषा को पिछड़ा हुआ मानते हैं। राष्ट्र के लिए इससे अधिक अपमानजनक दूसरा दृष्टिकोण हो नही सकता। आज से पैंतीस वर्ष पहले अंग्रेज भाषाविद् ग्रियर्सन ने हिन्दी के बारे मे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लिंग्विस्टिक सर्वे' की भूमिका मे लिखा था, "इट हैज़ ऐन एनारमस नेटिव वकैंबुलरी एण्ड ए कम्प्लीट अपैरेटस फॉर द एक्सप्रेशन ऑफ ऐब्स्ट्रैक्ट टर्म्स,' (देशी शब्दो का उसका विशाल शब्द-भण्डार है और सूक्ष्म धारणाएँ प्रकट करने के लिए पूर्ण पारिभाषिक शब्दावली है।) ग्रियर्सन ने उन लोगो की आलोचना की थी, जो हिन्दी शब्द छोड़कर संस्कृत के कठिन और दुरूह शब्दो की ओर भागते थे और इसी प्रसंग मे लिखा था—"बट इन्स्पाइट ऑफ हिन्दी पज़ेसिंग सच ए वकैंबुलरी एण्ड ए पावर ऑफ एक्सप्रेशन नोट इन्फीरियर टु इंग्लिश, इट हैज़ बिकम द फैशन…" (यद्यपि हिन्दी के पास ऐसा शब्द-भण्डार है और व्यंजना-शक्ति मे वह अंग्रेज़ी से घटकर नही है, फिर भी यह फैशन हो गया है…)। जो लोग

अंग्रेजियत में अंग्रेजों के कान काटते हैं, वे यह कभी न मानेंगे कि व्यंजना-शक्ति में हिन्दी अंग्रेज़ी से घटकर नहीं है।

यूरोप और अमरीका में भारतीय संस्कृति के अग्रदूत महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गुजराती साहित्य परिषद् के छठे अधिवेशन में भाषण देते हुए कहा था, "आपकी सेवा में खड़ा होकर विदेशीय भाषा कहूँ यह हम चाहते नहीं। पर जिस प्रान्त में मेरा घर है वहाँ सभा में कहने लायक हिन्दी का व्यवहार है नहीं। महात्मा गांधी महाराज की भी आज्ञा है हिन्दी में कहने के लिए। यदि हम समर्थ होता तब इससे बड़ा आनन्द और कुछ होता नहीं। असमर्थ होने पर भी आपकी सेवा में दो बात हिन्दी में बोलूँगा।" ('प्रभा', कानपुर, मार्च, १९२५)

जो लोग उठते-बैठते गांधीजी के नाम की माला जपते हैं और जिन्होंने अखिल भारतीय पैमाने पर रवीन्द्र-जयन्ती-समारोह संगठित किया था, वे कृपया विचार करें कि वे अपने व्यवहार में गांधी-रवीन्द्रनाथ के मार्ग से कितनी दूर आ पड़े हैं। महाकवि ने अपनी असमर्थता प्रकट की, किसी भाषा को असमर्थ नहीं कहा, गांधीजी ने गुजरातियों के बीच उनसे अंग्रेज़ी में नहीं, हिन्दी में बोलने को कहा।

राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने का यही एक मार्ग सन् '२५ में था, वही मार्ग अब सन् '६२ में भी है। और दूसरे रास्ते सब गलत हैं। (१९६२)

२५

राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय प्रभुसत्ता

सन् '६५ मे हिन्दी केन्द्रीय राजकाज की भाषा न बनेगी। कब बनेगी, यह अंग्रेजी-प्रेमी भारतवासियो की इच्छा पर निर्भर है। इस पर भी कुछ सज्जन असन्तुष्ट है। असन्तुष्ट इस बात पर है कि अंग्रेजी सदा-सर्वदा के लिए भारत की एकमात्र राष्ट्रभाषा घोषित नही की गई। हो सकता है दो-चार शताब्दियो बाद लोग हिन्दी को राष्ट्रभाषा बना दें। इस सम्भावना को रहने ही क्यो दिया जाय ?

ऐसा सोचनेवाले सज्जन अंग्रेजी के माध्यम से शासनतन्त्र पर अपना इजारा हमेशा के लिए पक्का कर लेना चाहते है। वे और उनके भाई भतीजे तो इस युग मे शासन की बागडोर सँभाले ही हुए हैं, वे चाहते हैं कि युगो-युगो तक उन्ही की तरह उनके वशज भी—यानी मुट्ठी-भर विदेशी भाषा के उपासक—शासन की बागडोर इसी तरह मजबूती स थाम रहे। कुछ दिन हुए ऐसे लोगो को लक्ष्य करके मद्रास मे प्रधान मन्त्री न प्रश्न किया था—क्या उनमे राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना का एकदम लोप हो गया है ?

इस प्रश्न से नतीजा यह निकलता है कि जो लोग थोडे समय के लिए अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा मानते है, उनमे उतने ही समय के लिए आत्मसम्मान का लोप होता है, जो लोग सदा के लिए अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाय रखना चाहते हैं, उनमे सदा के लिए आत्मसम्मान का लोप हो जाता है। सदा के लिए आत्मसम्मान खोने से अच्छा है उसे थोडे समय के लिए खोया जाय। भले ही इस थोडे समय की अवधि का क्रमश विस्तार होता जाय—सन् '४६ से '६५ तक, '६५ स बीसवी सदी के अन्त तक, बीसवी सदी के बाद इक्कीसवी सदी के अन्त तक, और इसी तरह अनिश्चित काल के लिए आगे भी। मुख्य बात यह है कि अनिश्चित काल को निश्चित न किया जाय, वरना राष्ट्रीय आत्मसम्मान का सापेक्ष अभाव शाश्वत और निरपेक्ष हो जाएगा।

एक बहुत दिलचस्प सवाल यह पैदा होता है कि राष्ट्रीय आत्मसम्मान का यह अभाव भाषा के क्षेत्र तक सीमित है या वह देश के राजनीतिक, आर्थिक

आदि अन्य क्षेत्रों में भी है। क्या आपने संसार के इतिहास में किसी ऐसे देश का नाम सुना है जो आर्थिक और राजनीतिक रूप से पूर्ण स्वाधीन रहा हो किन्तु जो भाषा के क्षेत्र में परमुखापेक्षी हो? क्या वर्तमान काल में कोई ऐसा देश है जो स्वाधीन होते हुए भी अपनी भाषा छोड़कर विदेशी भाषा का व्यवहार करता हो? इन स्वाधीन देशों में इस बात को लेकर पंचायत नहीं जुड़ती कि विश्व की सबसे समृद्ध भाषा कौन-सी है, देश की भाषा को हटाकर उसके बदले विश्व भाषा का व्यवहार कब तक किया जाय। आखिर जर्मन, फ्रांसीसी, अंग्रेजी, इतालवी, स्पेनी आदि भाषाएँ समान रूप से तो समृद्ध हो नहीं सकतीं। किन्तु जहाँ ये भाषाएँ बोली जाती हैं, वहाँ यह प्रश्न कोई नहीं करता कि सबसे समृद्ध विश्व-भाषा को राजकाज की भाषा क्यों न बनाया जाय। यह प्रश्न केवल उन देशों में सामने आता है जो पश्चिमी राष्ट्रों के उपनिवेश हैं, या रह चुके हैं। कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दी से चिपके रहना और अंग्रेजी का विरोध करना कूप मण्डूकता है। मालूम होता है कि अपनी भाषा से प्रेम करनेवाले तो कुओं में पड़े हैं, केवल भारत के अंग्रेजी-प्रेमी मण्डूक कुएँ से बाहर निकलकर अपनी मनोज्ञ अंग्रेजी-ध्वनि से दसों दिशाएँ गुंजरित कर रहे हैं।

आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए तो पैसा कौड़ी दरकार होता है, स्वर्ण की आवश्यकता होती है। किन्तु शब्द ब्रह्म तो अमूल्य है। बात करने में क्या खर्च होता है? फिर भारत में संस्कृत की कृपा से किसी भी भाषा के शब्द-भण्डार को यथेच्छ भरने में विलम्ब नहीं होता। भाषा के क्षेत्र में परमुखापेक्षी होना परले सिरे की गुलामी है। जो भाषा के क्षेत्र में स्वाधीन नहीं हो सकता, वह अन्य क्षेत्रों में क्या स्वाधीन होगा? भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्य भारती, निराला, प्रेमचन्द आदि साहित्यकारों ने देश के पराधीन रहते हुए भी भाषा के क्षेत्र में अपनी प्रभुसत्ता की रक्षा की। भाषा के क्षेत्र में भारतीय साहित्यकारों ने अंग्रेजी का प्रभुत्व कभी स्वीकार नहीं किया। स्वाधीनता सूर्य की किरणों ने सबसे पहले भाषा के क्षेत्र को प्रकाशित किया। आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों के नेता साहित्यकारों के अनुगामी रहे हैं, उनके पथ निर्देशक नहीं।

आये दिन जो राजनीतिज्ञ हिन्दी प्रेमियों को संकीर्ण और संकुचित विचार-वाला कहते हैं, जो हिन्दी से विमुख और अंग्रेजी के मुखापेक्षी वसुधैव कुटुम्बकम् का उपदेश देते नहीं थकते, उनसे पूछा जा सकता है—देश में अन्न का क्या हाल है? भुखमरी से बचने के लिए आपको अन्य राष्ट्रों का दरवाजा तो खटखटाना नहीं पड़ता? अपनी पंचवर्षीय योजनाओं की पूर्ति के लिए आपको विदेशी बहीखातों में कर्जदार बनकर नाम लिखाना तो नहीं पड़ता? देश-रक्षा के लिए आप विदेशी अस्त्र-शस्त्रों के मोहताज तो नहीं हैं? आपके आयात-निर्यात व्यापार में विदेशी पूंजी का ताना बाना बुना हुआ तो नहीं है? आप विदेशी दबाव के कारण कश्मीर-जैसे किसी प्रदेश की भूमि का विनिमय

करने की ओर तो नहीं बढ़े ?

पुराने जमाने में लोग कहते थे—अंग्रेजी हमारी गुलामी की निशानी है। ऊपर के प्रश्न पढ़कर बताइए, यह बात सही है या नहीं ? क्या आप समझते हैं कि दासता की मनोवृत्ति केवल भाषा के क्षेत्र में प्रतिफलित होती है, अंग्रेजी को हटाने का प्रश्न केवल एक भाषागत समस्या है ? गुलाम तो गुलाम। उसकी गुलामी न केवल उसके बोलने से प्रकट होगी वरन् उसके हर तरह के आर्थिक और राजनीतिक व्यवहार से प्रकट होगी।

राष्ट्रभाषा की समस्या कोई विशुद्ध भाषा विज्ञान की समस्या नहीं है। वह मूलतः देश की प्रभुसत्ता की समस्या है। यह तो सम्भव है कि केन्द्रीय राजकाज के लिए एक से अधिक भाषाओं का व्यवहार किया जाय, किन्तु देश की प्रभुसत्ता के लिए यह असह्य है कि सभी भारतीय भाषाओं के अधिकारों को पैरों तले रौंदकर अंग्रेजी उन सबके ऊपर प्रतिष्ठित हो। जो लोग यह कहते हैं कि हिन्दी के माध्यम से बड़े-बड़े पूंजीपति छोटी छोटी अहिन्दीभाषी जातियों को दबाते हैं, वे यह कभी नहीं कहते कि अंग्रेजी के माध्यम से साम्राज्यवाद भारत की सभी जातियों को दबाता है, यहाँ की सभी भाषाओं के स्वत्वों का अपहरण करता है।

हिन्दी को केन्द्रीय भाषा बनाने में कुछ बड़े पूंजीपतियों का स्वार्थ हो सकता है, यद्यपि देखा यही जाता है कि अंग्रेजी के दैनिक पत्रों की शृंखलाएँ इन्हीं बड़े पूंजपतियों के हाथ में है। महत्वपूर्ण बात यह है कि हिन्दी को केन्द्रीय भाषा बनाने में छोटे पूंजीपतियों तथा श्रमिक जनता का हित सबसे ज्यादा है। हिन्दी के बिना सामान्य जनता शासनतन्त्र, केन्द्रीय राजकाज में भाग नहीं ले सकती। वह राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यवाही से अन्त्यजों के समान दूर रखी जाती है। इस तरह हमारे जनतन्त्र का आधार संकुचित रहता है, हमारी राष्ट्रीयता मुट्ठी-भर अंग्रेजी पढ़े लोगों के हाथ का खिलौना बनी रहती है।

जो लोग अंग्रेजी को हटाना चाहते हैं, हिन्दी को केन्द्रीय भाषा बनाने के लिए जल्दी करते हैं, उन्हें 'हिन्दी एथूजिएस्ट' आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। मानो अपनी भाषा का समर्थन करना गुनाह हो, 'अंग्रेजी एथूजिएस्ट' होना कोई बहुत बड़ा पुण्य हो। केन्द्रीय भाषा के पद से अंग्रेजी को हटाने में किसी एक भारतीय भाषा का स्वार्थ नहीं है। अंग्रेजी की वर्तमान स्थिति से सभी भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा को धक्का लगता है, उनकी अधिकार-मर्यादा नष्ट होती है। इसलिए अंग्रेजी के विरुद्ध संघर्ष आज सभी भारतीय भाषाओं की अधिकार रक्षा का संघर्ष है। इन भाषाओं के बीच परस्पर आदान प्रदान के लिए हम हिन्दी का व्यवहार चाहते हैं, उनके अधिकारों की रक्षा करते हुए, न कि उनके अधिकारों को रौंदकर। अधिकारों को रौंदने का काम अंग्रेजी कर रही है, न कि हिन्दी।

प्रत्येक जाति का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह अपनी सांस्कृतिक, राजनीतिक, हर तरह की सामाजिक कार्यवाही अपनी भाषा के माध्यम से सम्पन्न करे। हर तरह के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में अपनी भाषा का प्रयोग उसकी प्रभुसत्ता की उन्मुक्त घोषणा है। जातीय भाषा का व्यवहार राष्ट्र के स्वाधीन होने की पहचान है। भाषा के समृद्ध या दरिद्र होने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। संसार के किसी देश ने किसी समय यह नियम स्वीकार नहीं किया कि विश्व की सबसे समृद्ध भाषा को वह राष्ट्रभाषा बनायेगा। ऐसा नियम होता तो सारे संसार में संस्कृत, ग्रीक या लैटिन का ही प्रभुत्व होता।

हिन्दी समृद्ध है या दरिद्र है, यह तय करने के लिए कोई वैज्ञानिक कसौटी नहीं अपनायी गई। उदाहरण के लिए, हिन्दी में राजनीतिक शब्दावली कम है या पर्याप्त है, यह जानने के लिए कोई शब्द-गणना नहीं की गई। एक प्रवाद फैला दीजिए, दस राजनीतिज्ञ उस प्रवाद को दोहरा दें, अंग्रेज़ी अखबारों में वह प्रवाद छप जाय, बस उसे प्रमाणित सत्य मान लिया जाएगा। देश में प्रचार के साधनों का इतना केन्द्रीकरण है कि नक्कारखाने में हिन्दी सम्बन्धी सत्य की पुकार तूती की आवाज़ से अधिक कारगर साबित नहीं होती।

शासनतन्त्र चलानेवाले बुद्धिजीवी अंग्रेज़ी में अथवा किसी देशी भाषा में अंग्रेज़ी शब्दों की मिलावट करके चिन्तन का काम पूरा करते हैं। उनकी अभिव्यंजना का माध्यम अंग्रेज़ी या यह खिचड़ी भाषा होती है। आप यह न समझें कि पारिभाषिक शब्दों के अभाव के कारण वे ऐसा करते हैं। उनके बच्चे बोलना सीखते हैं, पापा, डैडी, मम्मी, अंकल, आण्टी जैसे पारिभाषिक शब्दों के ज्ञान के साथ। 'ज़रा फादर को रिसीव करने जा रहा हूँ," "उसका रिमार्क ऐसा सिली था कि माई ब्लड बिगैन टु बॉयल", "आजकल आप पोलिटिकल ऐक्टिविटी से इतने इण्डिफरेण्ट क्यों रहते हैं","एजूकेशन का स्टैंडर्ड इतना गिर गया है कि आर्डिनरी एप्लीकेशन लिखने में एम० ए० पास लोग मिस्टेक करते हैं'—इस तरह के वाक्य उत्तर भारत के अनेक शहरों में आप सुन सकते हैं। इन वाक्यों में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग पारिभाषिक शब्दों की कमी के कारण नहीं है। मानसिक शिथिलता, अंग्रेज़ी शब्दों का मोह, अपनी भाषा के प्रति अवज्ञा-सूचक दृष्टिकोण—इन कारणों से उस तरह के भोंडे वाक्यों की रचना होती है। इन्हीं कारणों से अंग्रेज़ी प्रेमी बुद्धिजीवियों को यह तय करने में देर नहीं लगती कि अंग्रेज़ी समृद्ध है, हिन्दी दरिद्र है।

एक समिति में लोग आलोचना सम्बन्धी शब्द-सूची एकत्र कर रहे थे। समिति के अधिकांश सदस्य न हिन्दी के आलोचक थे, न हिन्दी आलोचना से परिचित थे। फिर भी वे इस काम में लगे हुए थे क्योंकि वे समिति के सदस्य बना दिये गए थे। शब्द संग्रह करने का तरीका क्या था? आप शायद सोचें कि हिन्दी की आलोचना पुस्तकों से अथवा संस्कृत के सिद्धान्त ग्रन्थों से ऐसी शब्द-सूची संकलित की जा रही थी। समिति के सामने काम दूसरा था। काम हिन्दी-

शब्दो की सूची बनाना न था, काम था अग्रेज़ी शब्दो के हिन्दी पर्याय निश्चित करना। इस तरह की सूची बनाने की जरूरत क्यो हुई ? इसलिए कि अग्रेज़ी का आलोचना-शास्त्र अधिक समृद्ध है, उसके शब्द-भण्डार के अनुरूप हिन्दी पर्याय स्थिर करके ही राष्ट्रभाषा को समृद्ध किया जा सकता है। आप समझ सकते हैं, समिति मे इस पद्धति का विरोध करनेवाले को किसी का समर्थन प्राप्त न हुआ होगा।

प्राकृतिक परिवेश, सामाजिक परिस्थितियाँ, दैनिक जीवन की आवश्यकताएँ विभिन्न देशो मे बहुत-कुछ समान हैं। इसलिए उनके शब्द-भण्डार मे अर्थ-सम्बन्धी बहुत बडी समानता है। किसी भी भाषा के हजारो शब्दो के लिए दूसरी भाषा मे उन्ही के समानार्थी शब्द मिल जाते हैं। यातायात के साधनो मे प्रगति होने से, व्यापार, उद्योग धन्धो और विज्ञान मे उन्नति होने मे (और उन्नति करने के लिए) अनेक देश एक-दूसरे के अधिक निकट आये हैं। इसलिए ऐसे शब्दो की सख्या बहुत बडी है जो रूप मे भिन्न होते हुए भी अर्थ मे समान हैं। हिन्दी मे भी उद्योग, व्यापार, राजनीति आदि से सम्बन्धित हजारो शब्द प्रचलित हैं जो उसी कोटि के अग्रेजी या जर्मन शब्दो के समानार्थी हैं।

इसके साथ यह भी सही है कि प्रत्येक देश के प्राकृतिक परिवेश, सामाजिक परिस्थितियो, दैनिक जीवन की आवश्यकताओ की अपनी विशेषताएँ हैं। इसलिए प्रत्येक भाषा मे हजारो शब्द ऐसे मिलेंगे जिनके ठीक समानार्थी शब्द दूसरी भाषाओ मे दुर्लभ होगे। किन्तु भाषा प्राकृतिक या सामाजिक परिवेश का दर्पण मात्र नही है। भाषा प्रत्येक जाति की विशिष्ट चिन्तन प्रक्रिया, उसके रसबोध, भाव-सम्बन्धी प्रतिक्रिया का दर्पण भी होती है, इस दृष्टि से विचार करने पर पता चलेगा कि कोई भी भाषा किसी से घटकर नही है, प्राणि-जगत् की प्रत्येक जीव यानि के समान ससार की प्रत्येक भाषा की अपनी विशेषता है।

इस देश के लोगो ने अनेक शताब्दियो तक मनुष्य के मन पर, उसकी चेतना पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। दर्शन और मनोविज्ञान के क्षेत्रो मे अनेक धारणाओ का जैसा सूक्ष्म भेद सस्कृत शब्द प्रकट करते है, वैसा ससार की कोई भाषा प्रकट नही करती, कम-से कम ग्रीक, लैटिन और इनसे प्रभावित यूरोप की भाषाएँ तो अवश्य नही करती। सस्कृत की वह शब्द-सम्पदा भारत की समस्त भाषाओ की सामान्य सम्पत्ति है। उन लोगो के सास्कृतिक पतन का अनुमान कीजिए जो 'मेडिटेशन' के लिए अपनी शब्द-सूची मे 'ध्यान' शब्द बिठाकर यह समझ लेते हैं और दूसरो को समझाते भी हैं कि 'ध्यान' अब 'स्टैण्डर्ड' शब्द हो गया, 'मेडिटेशन' का पर्याय बनकर! इसके बाद वे कहते हैं कि जो पुस्तकें लिखी जाएँ या अनुवादित की जाएँ, उनमे 'ध्यान' शब्द उसी अर्थ मे प्रयुक्त होना चाहिए जिसमे अग्रेज़ी का 'मेडिटेशन' शब्द प्रयुक्त होता है। और 'समाधि' के लिए अग्रेज़ी का कोई पर्याय न हुआ तो वह बेचारा स्टैण्डर्ड-च्युत होकर शब्द-सग्रह के बाहर पडा रह गया।

भारतीय शब्द 'राष्ट्र' का ठीक समानार्थी अंग्रेजी शब्द 'नेशन' नहीं है। सोवियत संघ में एक से अधिक 'नेशन' हैं किन्तु वह 'राष्ट्र' एक है, अनेक नहीं। 'राष्ट्र' से केवल मनुष्यों का बोध नहीं होता जैसा कि 'नेशन' से होता है। 'नेशन' किसी देश की भूमि को नहीं कह सकते, किन्तु 'राष्ट्र' से भूमि का बोध भी होता है। जे० डी० बेट की 'ए डिक्शनरी ऑफ द हिन्दी लैंग्वेज' में राष्ट्र का भूमि वाला अर्थ दिया है—'ऐन इनहैबिटेड कण्ट्री, ए रैल्म, किंगडम, एम्पायर, रीजन।" अन्त में मनुष्यों से भी सम्बन्धित एक शब्द जोड़ दिया गया है, 'पब्लिक'। इससे उन कोशकारों की कठिनाइयों का अनुमान किया जा सकता है जिन्हें हिन्दी शब्दों के अंग्रेजी पर्याय ढूँढ़ने पड़ते हैं। बेचारे 'राष्ट्र' के लिए पब्लिक' लिखकर सन्तोष कर लेते हैं। प्रसिद्ध कोशकार मोनियर विलियम्स को अपने महान् संस्कृत अंग्रेजी कोश की भूमिका में कैफियत देनी पड़ी थी कि उन्होंने एक एक संस्कृत शब्द के अनेक अंग्रेजी पर्याय क्यों दिये हैं। इसका एक कारण और भी था जिसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया। वह यह कि किसी एक संस्कृत शब्द का ठीक समानार्थी शब्द अंग्रेजी में मिलता न था; इसलिए उसके अर्थ के निकट पहुँचनेवाले अनेक शब्द देने पड़ते थे, जिससे अंग्रेजी जानने-वाला विद्यार्थी उन सभी की सहायता से अर्थ बोध कर सके। यथा 'समाधि' के लिए 'इण्टेन्स ऍप्लीकेशन ऑर फिक्सिंग द माइण्ड ऑन, इण्टेण्टनेस, अटेन्शन, कन्सण्ट्रेशन ऑफ द थॉट्स, प्रोफाउण्ड ऑर ऍब्स्ट्रैक्ट मेडिटेशन, इण्टेन्स कन्टेम्प्लेशन ऑफ ऍनी पर्टीकुलर ऑब्जेक्ट (सो ऍज टु आइडेण्टीफाई द कण्टेम्प्लेटर विद द ऑब्जेक्ट मेडिटेटेड अपॉन)'। 'समाधि' का समानार्थी शब्द अंग्रेजी में है नहीं। यह भी स्पष्ट है कि 'अटेन्शन', 'कन्टेम्प्लेशन,' 'मेडिटेशन' आदि शब्द समाधि के निश्चित अर्थ के निकट पहुँचते हैं किन्तु उसे प्रकट नहीं कर पाते। वास्तव में 'समाधि' की अपेक्षा वे 'ध्यान' के अधिक निकट हैं।

मोनियर विलियम्स ने भारतीय वाङ्मय के बारे में लिखा था, "कुछ विषयों में, विशेषकर प्रकृति और पारिवारिक प्रेम के कवित्वमय वर्णनों में वह यूनान और रोम की सर्वश्रेष्ठ कृतियों के मुकाबले हेठा नहीं सिद्ध होता और ज्ञान की गरिमा और नैतिक विचारों की सूझ बूझ में वह अद्वितीय है।" वैज्ञानिक विषयों का उल्लेख करते हुए उन्होंने आगे उसी भूमिका में लिखा था, "इससे भी बढ़कर यह कि हिन्दुओं ने खगोल विज्ञान, गणित, बीजगणित, वनस्पति-विज्ञान और औषध में काफी प्रगति की थी, व्याकरण में उनकी श्रेष्ठता का उल्लेख करना अनावश्यक है; और यह सब उस समय जब यूरोप की प्राचीनतम जातियों में भी इनमें से कुछ विज्ञान विकसित न हुए थे।" मोनियर विलियम्स ने संस्कृत के शब्द-भण्डार की बहुविषयक समृद्धि को लक्ष्य करके लिखा है कि उसका कोश बनानेवाले को लगभग सर्वज्ञ होना चाहिए। उनके अनुसार इंग्लैंड में यूनिवर्सिटी शिक्षा प्राप्त तरुण संस्कृत की "वैज्ञानिक शब्दावली की सही सही व्याख्या नहीं कर सकते।" मोनियर विलियम्स ने यह

ग्रौर जोड दिया है कि यदा-कदा यह वैज्ञानिक शब्दावली सस्कृत मे यूनानियो से उधार ली गई है। किन्तु यहाँ इस पर विवाद नही करना कि भारत मे यूनान से पहले ग्रनेक विज्ञान विकसित हुए, फिर भी वहाँ के शब्द यहाँ वालो ने क्यो उधार लिए। मुख्य बात यह है कि यूरोप की नवीन ग्रौर प्राचीन भाषाग्रों के महापडित कोशकार मोनियर विलियम्स को यह स्वीकार करना पडा था कि इग्लैंड की प्रसिद्ध यूनिवर्सिटियो के तरुण ग्रेजुएट—भारत मे जिनके रोबदाब की सीमा नही है—सस्कृत की वैज्ञानिक शब्दावली ('द साइटीफिक एक्सप्रेशन') की बारीकियो को समझने मे ग्रसमर्थ थे। ग्राज मालूम होता है, मोनियर विलियम्स प्रभृति विद्वानो द्वारा ग्रभिनन्दित हमारा वह महान् रिक्थ कही खो गया है। सरकारी कोशकार हिन्दी मे यूरोप की ग्रन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली से पारिभाषिक शब्द उधार लेने की बात करते हैं यद्यपि वे जो विदेशी शब्द लेते हैं, वे निरपवाद रूप से ग्रग्रेजी के ही होते हैं (ग्रर्थात् ऐसे शब्द होते हैं जो ग्रीक लैटिन के ग्राधार पर गढकर ग्रग्रेजी मे चलाये गए हैं)। ये सम्मान्य सरकारी कोशकार वह ग्रन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली प्रकाशित कर दें तो यूरोप के भावात्मक एकीकरण मे बडी सहायता मिले।

एक समय था जब स्वामी विवेकानन्द जैसे भारतीय सस्कृति के प्रतिनिधि गरजकर मदान्ध यूरोप से कहते थे . स्वार्थ-लिप्सा ने तुम्हे पतन के गर्त मे ढकेल दिया है, ग्राग्रो, इस गर्त से बाहर निकलो, ज्ञान की दीक्षा भारत से लो।

विवेकानन्द ग्रौर रवीन्द्रनाथ का वह भारत ग्राज परमुखापेक्षी है, न केवल ग्रार्थिक सहायता के लिए वह पश्चिमी राष्ट्रो का द्वार खटखटाता है वरन् शब्दावली के लिए भी वह उनका मुँह जोहता है, वह ग्रग्रेजी के बिना ग्रपनी भाषा-समस्या हल नही कर सकता। (१९६२)

हिन्दीभाषी प्रदेश में हिन्दी-प्रचार की आवश्यकता

हम हिन्दी-भाषियों में अधिकांश जनों की धारणा यही है कि हिन्दी यदि अभी तक राष्ट्रभाषा नहीं हो पाई तो इसका मुख्य कारण अहिन्दी-भाषियों का अंग्रेज़ी-प्रेम अथवा हिन्दी विरोध है। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय पर जो लेख निकलते हैं, उनसे यह प्रकट नहीं होता कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सर्वाधिक उत्तरदायित्व हमारा है और हम उसे निबाह नहीं रहे हैं।

हमारे देश में एक पूरा वर्ग है, जो राष्ट्रभाषा के पद पर अंग्रेज़ी को प्रतिष्ठित रखना चाहता है। यह वर्ग किसी प्रदेश-विशेष में सीमित नहीं है वरन् सारे देश में फैला हुआ है, अमर-बेल की तरह यह विशाल हिन्दीभाषी प्रदेश में भी फैला है। आये दिन अपने प्रदेश के शिक्षित जनों के व्यवहार में हम अंग्रेज़ी का यह महत्व देख सकते हैं। हिन्दीभाषी प्रदेश में इस वर्ग के लोग उतने मुखर नहीं हैं जितने उनके सहयोगी अन्य प्रदेशों में हैं। फिर भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सभी प्रदेशों के अंग्रेज़ी प्रेमी एक-दूसरे की सहायता करते हैं।

पिछले दिनों उत्तर प्रदेश के अनेक नगरों में भावात्मक एकता पर राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों के नेताओं ने भाषण किये, अनेक शिक्षा-संस्थाओं में परिसंवाद आयोजित किये गए। आगरा और मेरठ की दो ऐसी गोष्ठियों में मैंने देखा कि अधिकांश भाषण अंग्रेज़ी में हुए। ये नेतागण अवश्य ही मन में सोचते होंगे कि अंग्रेज़ी ही उनके उच्च विचारों का वाहन हो सकती है, अंग्रेज़ी द्वारा ही वे देश में राष्ट्रीय एकता दृढ़ कर सकते हैं। अभी पिछले महीने चीनी आक्रमण के विरोध में विद्यार्थियों की सभाओं में अध्यापकों के प्रोत्साहन-प्रद भाषण भी अंग्रेज़ी में हुए। यदि हमारे प्रदेश के शिक्षा-विशारद भी नवयुवकों को देश रक्षा का महत्व समझाने के लिए अंग्रेज़ी का प्रयोग करते हैं, तब अन्य प्रदेशों से हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग हम किस मुँह से कर सकते हैं? सभी शिक्षित जनों का व्यवहार ऐसा नहीं होता, काफी लोग ऐसे हैं, जो ऐसे अवसरों पर सचेत ढंग से हिन्दी का ही व्यवहार करते हैं। फिर भी यह मानना होगा कि हिन्दी क्षेत्र के शिक्षित जनों में अंग्रेज़ी का चलन आवश्यकता से

अधिक है।

हिन्दी क्षेत्र के विश्वविद्यालयों में शिक्षा का सामान्य माध्यम अंग्रेज़ी है। कुछ विषयों में जहाँ-तहाँ हिन्दी द्वारा शिक्षण भी होता है किन्तु कुल मिलाकर शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी का स्थान गौण है, अंग्रेज़ी का स्थान प्रमुख है। इसी प्रकार शासन-संस्थाओं की कार्यवाही के लिए अंग्रेज़ी का व्यवहार प्रचुर मात्रा में होता है। जब तक उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश की शासन-संस्थाओं में अमली रूप से हिन्दी राजभाषा नहीं बन जाती, तब तक समूचे देश में उसका राष्ट्रभाषा बनना स्वप्नवत् ही रहेगा।

हिन्दी-भाषी प्रदेश के शिक्षित जन बंगाल या तमिलनाडु के लोगों पर अक्सर भाषागत संकीर्णता या प्रान्तीयता का दोष लगाते हैं। वास्तविकता यह है कि बंगाल या तमिलनाडु के शिक्षित जन अपनी भाषा से जितना प्रेम करते हैं अपने सामाजिक जीवन में उसका जितना प्रयोग करते हैं, उतना हम नहीं करते। अन्य प्रदेशों के शिक्षित-जन यदि अपने यहाँ के साहित्य से अपरिचित हों तो उन्हें शर्म आएगी। हमारे प्रदेश के शिक्षित जन हिन्दी-साहित्य से अपरिचित होने में गर्व का अनुभव करते हैं। अपने अज्ञान पर गर्व करते हुए वे पिछले तीस वर्षों से लगातार एक ही प्रश्न दोहराते चले आए हैं— हिन्दी में है ही क्या ?

हिन्दी-भाषी प्रदेश की जनता से वोट लेना और उसकी भाषा और साहित्य को गालियाँ देना कुछ नेताओं का दैनिक व्यवसाय है। हमारे प्रदेश के शिक्षित जनों में जातीय भावना की कमी है। वे हिन्दी के प्रति उदासीन हैं, इसीलिए वे कुछ राजनीतिज्ञों की अपमानजनक बातों का समुचित उत्तर नहीं दे पाते। यहाँ का राजनीतिज्ञ राजनीति के अलावा अंग्रेज़ी-भक्ति में जनता का नेतृत्व करता है। अंग्रेज़ी में जितनी पुस्तकें केवल उत्तर प्रदेश के राजनीतिज्ञों ने लिखी हैं, उतनी शेष भारत के सारे राजनीतिज्ञों ने नहीं लिखीं। अन्य प्रदेशों के नेताओं ने एक पुस्तक अंग्रेज़ी में लिखी तो दो अपनी भाषा में भी लिखीं। यहाँ का राजनीतिज्ञ यदि देवनागरी में हस्ताक्षर कर दे तो समझता है कि उसने हिन्दी को कृतार्थ कर दिया।

यह किसी नेता-विशेष का प्रश्न नहीं है, प्रश्न है एक समूचे अंग्रेज़ी-प्रेमी वर्ग का, जो प्रदेश का शासक है या शासक बनना चाहता है। राजनीतिज्ञ इसी वर्ग का प्रतिनिधि है। एक नेता हट जाएगा तो दूसरा आ जाएगा क्योंकि उसे जन्म देनेवाला वर्ग मौजूद है। इसीलिए हिन्दी-भाषी प्रदेश में हिन्दी-प्रचार की आवश्यकता है, हिन्दी-प्रचार द्वारा शिक्षित जनों का दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है, उनके सामाजिक व्यवहार में, सांस्कृतिक जीवन में, शिक्षा-संस्थाओं के अन्तर्गत उनकी कार्यवाही में अंग्रेज़ी की जगह हिन्दी को प्रतिष्ठित कराने की आवश्यकता है।

मिथ्या जातीय अहंकार हानिकर होता है। अपनी भाषा और साहित्य को

ही श्रेष्ठ समझना और दूसरो की भाषा और साहित्य को सदा हीन समझना मूर्खता है। किन्तु जातीय भावना से हीन होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का मन्त्र जपना भी कोई बहुत बड़ी बुद्धिमत्ता का चिह्न नही है। हमारा राष्ट्र अनेक भाषाएँ बोलनेवाली जातियो से मिलकर बना है। राष्ट्रीय एकता के लिए इन जातियो की एकता आवश्यक है। सभी जातियाँ मिलकर राष्ट्र को दृढ करें, इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक जाति अपने भीतर दृढ हो, अपने-आपमे एकताबद्ध हो। कोई भी जाति अपने भीतर शिथिल होकर राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने में उचित योग नहीं दे सकती।

हिन्दी भाषी जाति विभिन्न राज्यो में बँटी हुई है। हिन्दी-भाषी प्रदेश की सीमाएँ अनिश्चित हैं। यही नही, भाषागत विवाद जितने यहाँ हैं, उतने किसी अन्य प्रदेश मे नही हैं। दूसरी जगह विवाद होगा तो बँगला-असमिया या गुजराती-मराठी जैसी दो भिन्न भाषाओं को लेकर। यहाँ के विवाद एक ही भाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं।

मिथिला के कुछ राजनीतिज्ञ हिन्दी को अपनी जातीय भाषा नही मानते। पिछले चुनाव में उन्होंने अपने राजनीतिक प्रचार के पर्चे मैथिली और उर्दू मे छपवाये। हिन्दी का बहिष्कार किया। भोजपुरी क्षेत्र मे जन्म लेनेवाले कुछ हिन्दी के आचार्य भाषा-विज्ञान पर ग्रन्थ लिखकर यह सिद्ध करते हैं कि भोजपुरी हिन्दी से स्वतन्त्र भाषा है। जिन्हें हम हिन्दी की बोलियाँ कहते हैं, उनके क्षेत्रो मे हिन्दी प्रचार आवश्यक है, जिससे वहाँ के शिक्षित-जनों का वह भाग, जो अपनी बोली को स्वतन्त्र भाषा मानता है, जातीय भाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार करे। जब तक साधारण जनता के सामने यह स्पष्ट नही हो जाता कि हिन्दी प्रदेश की सीमाएँ कौन-सी हैं, उसमे कौन-सी बोलियो का चलन है, उन्हें अब स्वतन्त्र भाषा न मानना चाहिए, तब तक समूचे देश म तथा अपने ही प्रदेश मे हिन्दी को उसका उचित स्थान दिलाने के लिए यह विशाल जनता सक्रिय नहीं हो सकती। हिन्दी प्रचार का एक लक्ष्य होना चाहिए जातीय प्रदेश का गठन, उसमे सर्वत्र जातीय भाषा के रूप म हिन्दी का चलन।

जातीय भाषा और राष्ट्रभाषा म अन्तर है। महाराष्ट्र, बगाल या तमिलनाडु के लोगो की जातीय भाषा मराठी, बँगला या तमिल है, हिन्दी नही। हिन्दी इन लोगो की राष्ट्रभाषा है, जो पारस्परिक आदान प्रदान का माध्यम बनती है। हिन्दी भाषियो के लिए हिन्दी जातीय भाषा है जैसे महाराष्ट्र के लोगों के लिए मराठी जातीय भाषा है। जातीय भाषा होने के साथ-साथ हम हिन्दी-भाषियो के लिए हिन्दी राष्ट्रभाषा भी है। मिथिला के कुछ शिक्षित-जन हिन्दी को राष्ट्रभाषा तो मानते हैं किन्तु अपनी जातीय भाषा नही मानते। मराठी के समान वे मैथिली को हिन्दी से स्वतन्त्र भाषा मानते हैं।

अनेक अहिन्दी भाषी अंग्रेजी-प्रेमी विद्वान् इसी तर्क का आश्रय लेते हैं और कहते हैं कि हिन्दी अपने ही क्षेत्र म दूसरों पर लादी गई भाषा है। इस प्रकार

करते हैं कि ब्रज, अवधी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी आदि सब स्वतन्त्र भाषाएँ हैं जिन पर कृत्रिम साहित्यिक हिन्दी जबरदस्ती लादी गई है। ये लोग भूल जाते हैं कि इंग्लैन्ड, रूस, फ्रास, जर्मनी आदि देशो मे अंग्रेज़ी, रूसी, फ्रांसीसी, जर्मन आदि भाषाओ की वैसे ही बोलियाँ हैं जैसे हिन्दी की। इन सब भ्रान्तियों के निवारण के लिए हिन्दी-भाषी प्रदेश म हिन्दी-प्रचार आवश्यक है।

हिन्दी-उर्दू समस्या को अधिकांश हिन्दी-प्रेमी भूल-से गए थे। रेडियो द्वारा हिन्दी के सरलीकरण ने उन्हें नींद से जगा दिया। भारतेन्दु से लेकर प्रेमचन्द तक हिन्दी के तमाम लेखक अपनी भाषा को कठिन बनाते रहे, जिससे जनता उनका साहित्य समझ न पाये, अब उस हिन्दी को सरल बनाने का बीडा उठाया है आकाशवाणी ने। यह सरलीकरण का प्रश्न उस समय उठाया गया जिस समय अंग्रेज़ी को अनिश्चित काल के लिए राजभाषा घोषित किया गया। हिन्दी-उर्दू के झगडे मे फिर से जान डालकर राष्ट्रभाषा के रूप म अंग्रेज़ी को नवजीवन दिया गया।

हिन्दी के कुछ विद्वान् मानते हैं कि मुसलमाना की भाषा उर्दू है, जो हिन्दी से स्वतन्त्र है। बगाल के मुसलमानो की बँगला से स्वतन्त्र कोई भाषा क्यो नही है, इस प्रश्न का उत्तर वे नही देते। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि हमारे देश की श्रमिक जनता मे कही भी धर्म के आधार पर भाषागत विभाजन नही दिखाई देता। कानपुर, लखनऊ, पटना आदि के हिन्दू-मुसलमान मजदूर आपस मे एक ही सामान्य भाषा का व्यवहार करते हैं। जो लोग हिन्दुओ और मुसलमानो की दो भाषाएँ मानते हैं, जो हिन्दी और उर्दू को मूलत दो भाषाएँ मानते हैं, उन्ह यह समझाना चाहिए कि भाषा की आधारभूमि कोटि कोटि श्रमिक जनता है, न कि मुट्ठी-भर पढे-लिखे लोग।

उर्दू प्रेमियो म इस बात का प्रचार करना आवश्यक है कि उनकी अलग कौम नही है, वे विशाल हिन्दी भाषी जाति का अग हैं, प्रत्येक जाति की एक ही भाषा होती है दो नही, हिन्दी-उर्दू मूलत एक ही भाषा हैं, इसलिए उनका साहित्यिक रूप दो न होकर एक ही होगा, हिन्दी-उर्दू के अलगाव से हमारी जातीय संस्कृति पूरी शक्ति से विकसित नही हो पाती। उर्दू-प्रेमी कबीर, जायसी, रसखान, रहीम आदि की साहित्यिक परम्परा से अपना सम्बन्ध जोडें, भारत की अन्य भाषाओ के विकास के अनुकूल उर्दू को मोडें, इससे तुरन्त नही किन्तु कुछ समय बाद हमारी सामान्य साहित्यिक परम्परा विकसित होगी। उर्दू-प्रेमियो के साथ इस तरह का प्रचार उन हिन्दी-प्रेमियो मे भी करना आवश्यक है, जो हिन्दुओ और मुसलमानो को दो भिन्न जातियाँ मानते हैं।

हिन्दी भाषी जनता की शक्ति अपार है किन्तु वह असगठित और बिखरी हुई है। हिन्दी-भाषियो के जातीय हित मे इस शक्ति को सगठित करना आवश्यक है। समूचे राष्ट्र को एकताबद्ध और दृढ करने के लिए हिन्दी भाषी जाति की एकता आवश्यक है। इस एकता के मार्ग मे पहली बाधा है अंग्रेज़ी प्रेम।

दूसरी बाधा है आंचलिक बोलियों को स्वतन्त्र भाषा मानने की भ्रान्ति। तीसरी बाधा है हिन्दी-उर्दू प्रेमियों का दो खेमों में बँटकर जातीय संस्कृति को कमजोर करना। इन तीनों बाधाओं के फलस्वरूप अपनी जातीय शक्ति के उपयोग द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के अपने उत्तरदायित्व को हम निबाह नहीं पाते।

यदि समस्त हिन्दी-भाषी प्रदेश में शिक्षा-संस्थाओं, न्यायालयों, राजकीय कार्यों में हर स्तर पर हिन्दी का व्यवहार होने लगे, यदि विधान-परिषदों के सदस्य प्रतिज्ञा करें कि वे अपना सार्वजनिक कार्य हिन्दी में ही करेंगे, यदि लोकसभा के सदस्य तय कर लें कि वे राजभाषा के रूप में हिन्दी का ही व्यवहार करेंगे तो क्या इसमें किसी को सन्देह हो सकता है कि समूचे राष्ट्र का वातावरण बदल जाएगा और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनते ज़रा भी देर न लगेगी ?

हम हिन्दी-भाषी किसी पर हिन्दी लादना नहीं चाहते। जो अंग्रेज़ी ही बोलना पसन्द करे उससे जबरदस्ती हिन्दी बुलवाना नहीं चाहते। किन्तु हमें भी अंग्रेज़ी बोलने के लिए कोई बाध्य नहीं कर सकता। लोकसभा और राज्य-सभा के वे सदस्य और मन्त्री, जो हिन्दी-भाषी प्रदेश से चुने गए हैं, जिस दिन तय कर लेंगे कि अंग्रेज़ी के बदले हिन्दी का ही प्रयोग करेंगे, उसी दिन हिन्दी व्यवहारतः राष्ट्रभाषा बन जाएगी। यदि ऐसा नहीं होता तो कमजोरी हमारी है। हमें *हिन्दी प्रचार द्वारा स्वयं अपने प्रदेश की जनता को जाग्रत करना है,* अपने प्रदेश के नेताओं में हिन्दी की उपेक्षा दूर करनी है, स्वयं अपने प्रति-निधियों को बाध्य करना है कि वे राजकाज में और सर्वत्र हिन्दी का व्यवहार करें। इस तरह के प्रचार और संगठन द्वारा ही अपनी जातीय शक्ति के अनुरूप हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का अपना गहन उत्तरदायित्व पूरा कर सकते हैं।

(१९६२)

२७

सरकारी कोशकार और राष्ट्रभाषा

तीस से अधिक वर्ष हुए, जनवरी, १६३२ की 'सुधा' में अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश-सम्बन्धी एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी। टिप्पणी के अनुसार श्री सुखसम्पतिराय भण्डारी ने 'विद्वान् और विशेषज्ञों की सहायता से' लगभग बीस हजार रुपये खर्च करके प्राय डेढ लाख शब्दों का यह कोश तैयार किया था जिसकी प्रशसा प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चासलर डॉ० गगानाथ झा, पजाब विश्वविद्यालय के वाइस चासलर डॉ० ए० सी० वूलनर, डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, डॉ० बेनीप्रसाद, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि विद्वानों ने की थी और सर पी० सी० राय ने इसे महान् प्रशसनीय साहित्यिक कार्य कहते हुए, बगाली, मराठी और गुजराती भाषा-भाषियों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी बतलाया था।

हिन्दी-भाषी विद्वान् इस बात की ओर बहुत पहले से सचेत रहे हैं कि हमारी भाषा आधुनिक विज्ञान तथा सस्कृति से सम्बन्धित विचारों को प्रकट करने में सक्षम हो। सरकारी सहायता के अभाव में, अक्सर प्रच्छन्न सरकारी विरोध का सामना करते हुए सुखसम्पतिराय भण्डारी जैसे विद्वानों ने घोर परिश्रम करके पारिभाषिक शब्दों की कमी को पूरा किया। नागरी-प्रचारिणी सभा जैसी सस्थाओं ने इस कार्य को आगे बढाया। डॉ० सत्यप्रकाश जैसे विद्वानों ने वैज्ञानिक विषयों पर लेख लिखकर और दूसरों से लिखाकर पारिभाषिक शब्दों के प्रचार में सहायता की। भारत के स्वाधीन होने पर जब अंग्रेज़ी को हटाने, भारतीय भाषाओं को उनका स्वत्व देने और परस्पर व्यवहार तथा केन्द्रीय राज-काज के लिए हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सवाल सामने आया तब हिन्दी से नितान्त अनभिज्ञ, देवनागरी में कठिनाई से हस्ताक्षर कर पानेवाले देश के अनेक सम्मान्य राजनीतिज्ञों ने घोषित किया कि हिन्दी को विकसित होने, आधुनिक विचारों की अभिव्यजना के योग्य बनने के लिए अभी और समय देना चाहिए। सविधान में इस बात को दर्ज कर दिया गया कि हिन्दी को विकसित किया जाय और सस्कृत तथा अन्य भाषाओं से आवश्यकतानुसार शब्द लेकर (या नये शब्द गढकर) उसे समृद्ध किया जाय।

भारत सरकार ने १९५० मे विज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द-संग्रह के लिए एक समिति स्थापित की। शिक्षा मन्त्रालय के तत्वावधान मे हिन्दी को विकासमान और समृद्ध करने का बृहत् कार्य बारह साल तक चलता रहा और १९६२ मे 'पारिभाषिक शब्द-संग्रह' नामक सरकारी कोश प्रकाशित हो गया।

भूमिका में सरकारी नीति स्पष्ट कर दी गई है। शिक्षा मन्त्रालय के तत्वावधान में दस वर्षों की अवधि मे जितने पारिभाषिक शब्द रचे गए, उन्हें कोशबद्ध किया गया। अंग्रेजी मे श्री आर० पी० नायक लिखित इस भूमिका मे 'इवोल्व' और 'इवोल्यूशन' शब्दो का अनेक बार प्रयोग किया गया है। इन शब्दों का आशय यही है कि हिन्दी मे पारिभाषिक शब्दो का अभाव था, इसलिए शिक्षा मन्त्रालय द्वारा सचालित हिन्दी निदेशालय मे नवीन शब्दावली रची गई। एक जगह यह स्पष्ट लिखा है कि १९६१ के मध्य तक विशेषज्ञ-समितियो की सख्या २६ हो गई थी और 'नव-निर्मित' शब्दो की सख्या लगभग तीन लाख तक पहुँच गई थी (द टर्म्स क्वायण्ड केम टु नियरली थ्री लैक्स)। ये शब्द 'क्वायन' किये गए थे, हिन्दी मे थे नहीं, उसे विकसित करने के लिए निदेशालय मे ये तीन लाख शब्द ढाले गए थे।

अधिकांश भारतीय राजनीतिज्ञो के लिए जीवन के अनेक स्वीकृत मूल्यो के समान हिन्दी की दरिद्रता भी स्वयसिद्ध सत्य है जिसे प्रमाणित करने के लिए किसी आयोग या समिति की जरूरत नही है। अंग्रेजी की समृद्धि उसी प्रकार दूसरा ध्रुव सत्य है जिसकी प्रामाणिकता असदिग्ध है। इन दो ध्रुवो की धुरी पर भारतीय जनतन्त्र की राजनीति अनवरत आवर्तन करती है।

यदि इस सरकारी कोश के सभी या अधिकांश शब्द नये सिरे से गढे गए हो, तो वे हिन्दी-भाषी बुद्धिजीवियो के लिए अपरिचित होगे, कोश के पन्ने पलटने पर ऐसा लगेगा कि हम शब्दो की नई दुनिया मे आ गए हैं, जिनके रूप और अर्थ से हमारा पहली बार साक्षात्कार हो रहा है। वैसे तो किसी अपारिभाषिक कोष मे भी साधारण पाठको को हजारो शब्द मिल जाएँगे जिनसे वे परिचित न होगे। इसलिए पारिभाषिक कोश मे अजनबी लगनेवाले शब्दो का होना आश्चर्यजनक नही है। आश्चर्यजनक बात यह है कि हर पृष्ठ पर अनेक ऐसे शब्द मिल जाते हैं जिनसे साधारण पाठक अच्छी तरह परिचित है और जिन्हे नायक साहब के अनुसार 'क्वायन' किया गया है।

एक निगाह इन शब्दो पर डालिए वायुमण्डल, उपलब्धि, आक्रमण, ध्यान, प्रायश्चित्त, मन्त्रिमण्डल, नैतिक, उपहास, त्वचा, बुद्धि, आशय, अभिप्राय, सौन्दर्यशास्त्र, रसायन, विनिमय, द्रव्य, पदार्थ, विषयवस्तु, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, सापेक्ष, नीतिशास्त्र, पुरातत्व, प्रतियोगिता, ममत्व, प्रत्याख्यान, प्रत्यक्ष, परोक्ष, उद्योग, सक्रमण, आकर्षण, विकर्षण इत्यादि। इस तरह के हजारों शब्द इस कोश मे हैं जो हिन्दी मे वर्षों से प्रचलित हैं और जिनके लिए कोई यह दावा भी नही कर सकता कि उन्हें नये सिरे से गढा गया है। इनके

लिए यह दावा भी नही किया जा सकता कि वे अन्य कोशो मे नही हैं। किन्तु हिन्दी को समृद्ध करने, उसे राष्ट्रभाषा पद के योग्य बनाने के लिए शिक्षा मन्त्रालय और विशेषज्ञ समितियो ने जो घोर परिश्रम किया, उसमे इस तरह के शब्दो का संग्रह भी शामिल है।

इनके अलावा इस कोश मे हिन्दी के ऐसे हजारो अतिप्रचलित शब्द हैं जिन्हें साधारण बुद्धि के लोग पारिभाषिक स्वीकार ही न करेंगे। प्रचलित शब्द भी पारिभाषिक हो, इस पर आपत्ति नही है। प्रश्न दूसरा है। क्या ये शब्द गढ़े गए हैं? क्या ये पहले से हिन्दी मे या हिन्दी कोशो मे थे नही? कपूर, अलाप, डेरा कमरा, खरीदारी, सदी शताब्दी, खतरा निश्चित, जादू टोना, जादूगर, छपाई जुडाई, उपाय, रोष, खाद, माफी, क्षमा पुनर्विवाह प्रभावित, विनाश अजवायन सौंफ, सुपारी, उधार, शोरा, मदिरा, अर्दली, चपरासी, किराया रोजगार, कार्यालय दफ्तर, मुठभेड, तैरना, आधुनिक वेश्यालय चकला, छिलका, मामले, छितराना मरम्मत करना, प्रयत्न करना, चिपकाना, पर्याप्त, काम रोकना, शपथ दिलाना स्तन, साँस, से, परे, ठीक है, धर्म, छूट देना, छुट्टी पाना, जरा हट के, गिर गया दौडते हुए, इस हालत मे, इत्यादि। इस तरह के शब्दो को देखकर यह प्रस्ताव करने की इच्छा होती है कि कोश के द्वितीय संस्करण मे खाना, पीना, उठना बैठना, चलना, सोना, धरती, आकाश, पानी हवा, धूल, आलू मटर, टमाटर बैंगन, गाजर, मकान, छत, फर्श, दरवाजा, खिडकी, पिता, पुत्र, बहन, भाई चाचा, ताऊ आदि-आदि शब्दो को भी पारिभाषिको मे गिन लेना चाहिए और भूमिका मे अगले दस वर्षों के समृद्धीकरण-प्रोग्राम की सफलता के रूप मे उन्हे पेश कर देना चाहिए। किन्तु सम्भव है, इनमे और इन जैसे अनेक शब्द इस कोश मे पहले से ही हो और मैंने उन पर ध्यान न दिया हो। जो भी हो, जब तक ये शब्द सरकारी कोश मे दर्ज नही हुए, तब तक हिन्दी दरिद्र थी! दर्ज होने के बाद भी हिन्दी समृद्ध होकर राष्ट्रभाषा नही बनी—वह प्रश्न अलग है।

यह कहा जा सकता है कि ऊपर जिस तरह के शब्दो का उल्लेख किया गया है, वे हिन्दी मे थे जरूर किन्तु अर्थ निश्चित नही था, पारिभाषिक शब्द संग्रह करनेवालो ने हिन्दी की यह सेवा की है कि अस्थिर अर्थवाले शब्दो को अंग्रेजी पर्यायों के साथ निश्चित ढग से नत्थी कर दिया है। भूमिका मे भारतीय कोशकारों के प्रयत्नों का उल्लेख करते हुए शब्दो के अरण्य की चर्चा की गई है जहाँ लेखको और साधारण जनो को रास्ता नहीं सूझता। किन्तु इस कोश के पन्ने पलटने पर यह समझने मे किसी को देर न लगेगी कि यहाँ हजार अंग्रेजी शब्द ऐसे हैं जिनके एक से अधिक हिन्दी-पर्याय दिये गए हैं। उदाहरण के लिए, न्याय क्षेत्र मे 'ऐप्लाई' शब्द के लिए—विनियोग करना, प्रयोग करना लागू करना, आवेदन करना, प्रार्थनापत्र देना, जीव विज्ञान के अन्तर्गत 'लैरिंक्स' के लिए—कण्ठ, स्वरयन्त्र, लैरिंक्स! 'डम्क' शब्द के आगे यह नहीं

लिखा कि वह किस क्षेत्र का पारिभाषिक शब्द है, किन्तु उसके तीन पर्याय दिये गए हैं—गोधूलि, धुरी (?), साँझ। अर्थशास्त्र के प्रचलित शब्द 'मर्चेन्ट' के लिए—सौदागर, सार्थवाह, व्यापारी, वणिक्। प्रचलित शब्द 'रिलीव' के लिए—छुट्टी देना, छुट्टी पाना (!), छुट्टी मिलना (नौकरी से), भारमुक्त करना, अवमुक्त करना। 'यूनिट' शब्द के आगे भी संकेत नहीं है कि वह किस क्षेत्र का पारिभाषिक है। उसके पर्याय—मात्रक, एकक, (इ) काई, दल, एकांग, एकांश, यूनिट, एकांक!

सरकारी कोश के संरक्षकगण स्वयं देख सकते हैं कि शब्दों की बहुलता कम नहीं हुई, उसमें कुछ इजाफा ही हुआ है। पाठक प्रश्न कर सकते हैं कि इस शब्द-संग्रह में गोधूलि, साँझ, सौदागर जैसे शब्द ही हैं तो उनके संग्रह के लिए इतना परिश्रम क्यों? नहीं, साँझ, गोधूलि और सौदागर तो सरकारी संस्पर्श से पारिभाषिक बन गए हैं। इनके अलावा ऐसे भी हजारों शब्द हैं जिन्हें देखते ही कोई कह देगा कि वे पारिभाषिक हैं। उदाहरण के लिए, संसक्ति, नम्यता, अविलेयता, गलनांक, वाष्पायन, ऊष्मा, संघनन, विकिरण, प्रच्छाया, उपच्छाया, परावर्तन, अवतल, उत्तल, अक्ष, अण्डाशय, अपचय, अम्ल, क्षार, अणु, परमाणु, चाप, समीकरण, समायवी, अवक्षेपण, द्रव, ज्वलनशील, भौतिकी, भौतिकी इत्यादि—ये सब शब्द आपको इस कोश में मिलेंगे। किन्तु आप यदि थोड़ा-सा परिश्रम करें तो आप देखेंगे कि ये शब्द विद्यार्थियों की उन पाठ्य-पुस्तकों में भी प्रयुक्त हुए हैं जो इस कोश निर्माण से पहले प्रकाशित हुई थीं! इन्हें 'इवौल्व' करने या 'क्वायन' करने का दावा इस कोश के सम्पादक लोग नहीं कर सकते।

इस सरकारी कोश में ऐसे भी हजारों शब्द हैं जिन्हें तीस वर्ष पहले ही श्री सुखसम्पत्तिराय भण्डारी और उनके सहयोगियों ने 'क्वायन' या 'इवौल्व' कर लिया था। इनमें अणु, परमाणु, धूमकेतु, निरपेक्ष, अमूर्त, सूत्र, मताधिकार, निर्वाचन-क्षेत्र, राष्ट्रीयकरण, समाजवाद, लोकतन्त्र जैसे शब्द हैं। ऐसे शब्द साधारण हिन्दी गद्य में बराबर प्रयुक्त होते रहे हैं। इनके अतिरिक्त विज्ञान-सम्बन्धी शब्द भी हैं, जिनका व्यवहार वैज्ञानिक पुस्तकों में होता है। 'डिफरेंशल इक्वेशन'–अवकल समीकरण; 'डिफ्रैक्शन'–विवर्तन; 'आइसोमेरिज्म'–समावयवता, 'लेटरल'–पार्श्विक, 'वेन'–शिरा, 'वर्टीब्रा'–कशेरुका; 'यूटेरस'–गर्भाशय; 'लैरिंक्स'–स्वर-यन्त्र, 'अपेण्डिक्स'–परिशिष्ट; 'कार्टिलेज'–उपास्थि; 'क्लैविकल'–अक्षक; 'कोर्टेक्स'–वल्क; 'डक्ट'–वाहिनी; 'कोन'–शंकु; 'कौर्पस कैलोसम'–महासंयोजक; 'रेडिएशन'–विकिरण; 'मैग्नेटिज्म'–चुम्बकत्व; 'लौगैरियम'–लघुगणक; 'कैलकुलस'–कलन; 'हिप्नोटिज्म'–सम्मोहन; 'इनहिबिशन'–अवरोध; 'साइको-एनैलिसिस'–मनोविश्लेषण; 'एनालोजी'–सादृश्य;–'ऐल्ट्रूइज्म–परार्थवाद; 'ऐनाबोलिज्म'–चय; 'ऑकल्टिज्म' –गुह्यविद्या; 'स्प्लीन'–प्लीहा, 'डेंसिटी'—घनत्व इत्यादि।

इस तरह के हजारों शब्द भण्डारी-कोश और उसके तीस साल बाद के

सरकारी

लिए यह दावा भी नहीं किया जा सकता कि वे अन्य कोशों में नहीं हैं। किन्तु हिन्दी को समृद्ध करने, उसे राष्ट्रभाषा-पद के योग्य बनाने के लिए शिक्षा मन्त्रालय और विशेषज्ञ समितियों ने जो घोर परिश्रम किया, उसमें इस तरह के शब्दों का संग्रह भी शामिल है।

इनके अलावा इस कोश में हिन्दी के ऐसे हजारों अतिप्रचलित शब्द हैं जिन्हें साधारण बुद्धि के लोग पारिभाषिक स्वीकार ही न करेंगे। प्रचलित शब्द भी पारिभाषिक हों, इस पर आपत्ति नहीं है। प्रश्न दूसरा है। क्या ये शब्द गढ़े गए हैं? क्या ये पहले से हिंदी में या हिन्दी कोशों में थे नहीं? कपूर, अलाप, डेरा, कमरा, खरीदारी, सदी शताब्दी, खतरा निश्चित, जादू टोना, जादूगर, छपाई, जुड़ाई, उपाय, रोष याद, माफी, क्षमा पुनर्विवाह प्रभावित, विनाश अजवायन, सौंफ, सुपारी, उधार, शोरा, मदिरा, अर्दली, चपरासी, किराया रोजगार, कार्यालय, दफ्तर, मुठभेड़, तैरना, आधुनिक वेश्यालय चकला, दिलवा, मामले, दिलवाना, मरम्मत करना, प्रयत्न करना, चिपकाना, पर्याप्त, काम रोकना, शपथ दिलाना, स्तन, साँस, से, परे, ठीक है, धर्म, छूट देना, छुट्टी पाना, जरा हट के, गिर गया, दौड़ते हुए, इस हालत में, इत्यादि। इस तरह के शब्दों को देखकर यह प्रस्ताव करने की इच्छा होती है कि कोश के द्वितीय संस्करण में खाना, पीना, उठना, बैठना, चलना, सोना, धरती, आकाश, पानी हवा, धूल, आलू, मटर, टमाटर, बैंगन, गाजर, मकान, छत, फर्श, दरवाजा, खिड़की, पिता, पुत्र, बहन, भाई, चाचा, ताऊ आदि-आदि शब्दों को भी पारिभाषिकों में गिन लेना चाहिए और भूमिका में अगले दस वर्षों के समृद्धीकरण-प्रोग्राम की सफलता के रूप में उन्हें पेश कर देना चाहिए। किन्तु सम्भव है, इनमें और इन जैसे अनेक शब्द इस कोश में पहले से ही हों और मैंने उन पर ध्यान न दिया हो। जो भी हो, जब तक ये शब्द सरकारी कोश में दर्ज नहीं हुए, तब तक हिन्दी दरिद्र थी। दर्ज होने के बाद भी हिन्दी समृद्ध होकर राष्ट्रभाषा नहीं बनी—वह प्रश्न अलग है।

यह कहा जा सकता है कि ऊपर जिस तरह के शब्दों का उल्लेख किया गया है, वे हिन्दी में थे जरूर किन्तु अर्थ निश्चित नहीं था, पारिभाषिक शब्द-संग्रह करनेवालों ने हिन्दी की यह सेवा की है कि अस्थिर अर्थवाले शब्दों को अंग्रेजी पर्यायों के साथ निश्चित ढंग से नत्थी कर दिया है। भूमिका में भारतीय कोशकारों के प्रयत्नों का उल्लेख करते हुए शब्दों के अरण्य की चर्चा की गई है, जहाँ लेखकों और साधारण जनों को रास्ता नहीं सूझता। किन्तु इस कोश के पन्ने पलटने पर यह समझने में किसी को देर न लगेगी कि यहाँ हजारों अंग्रेजी शब्द ऐसे हैं जिनके एक से अधिक हिन्दी पर्याय दिये गए हैं। उदाहरण के लिए, न्याय क्षेत्र में 'ऐप्लाई' शब्द के लिए—विनियोग करना, प्रयोग करना, लागू करना, आवेदन करना, प्रार्थनापत्र देना, जीव विज्ञान के अन्तर्गत 'लैरिंक्स' के लिए—कण्ठ, स्वरयन्त्र, लैरिंक्स। 'डस्क' शब्द के आगे यह नहीं

लिखा कि वह किस क्षेत्र का पारिभाषिक शब्द है, किन्तु उसके तीन पर्याय दिये गए हैं—गोधूलि, धुरी (?), साँझ। अर्थशास्त्र के प्रचलित शब्द 'मर्चेन्ट' के लिए—सौदागर, सार्थवाह, व्यापारी, वणिक्। प्रचलित शब्द 'रिलीव' के लिए—छुट्टी देना, छुट्टी पाना (!), छुट्टी मिलना (नौकरी व०), भारमुक्त करना, भवमुक्त करना। 'यूनिट' शब्द के आगे भी संकेत नहीं है कि वह किस क्षेत्र का पारिभाषिक है। उसके पर्याय—मात्रक, एकक, (इ) काई, दल, एकाग, एकांश, यूनिट, एकाक।

सरकारी कोश के संरक्षकगण स्वयं देख सकते हैं कि शब्दों की बहुलता कम नहीं हुई, उसमें कुछ इजाफा ही हुआ है। पाठक प्रश्न कर सकते हैं कि इस शब्द-संग्रह में गोधूलि, साँझ, सौदागर जैसे शब्द ही हैं तो उनके संग्रह के लिए इतना परिश्रम क्यों? नहीं, साँझ, गोधूलि और सौदागार तो सरकारी सस्पर्श से पारिभाषिक बन गए हैं। इनके अलावा ऐसे भी हजारों शब्द हैं जिन्हें देखते ही कोई कह देगा कि वे पारिभाषिक हैं। उदाहरण के लिए, ससक्ति, नम्यता, अविलेयता, गलनांक, वाष्पायन, ऊष्मा, सघनन, विकिरण, प्रच्छाया, उपच्छाया, परावर्तन, अवतल, उत्तल, अक्ष, अण्डाशय, अपचय, अम्ल, क्षार, अणु, परमाणु, चाप, समीकरण, समायवी, अवक्षेपण, द्रव, ज्वलनशील, भौतिकी, भौतिकी इत्यादि—ये सब शब्द आपको इस कोश में मिलेंगे। किन्तु आप यदि थोड़ा-सा परिश्रम करें तो आप देखेंगे कि ये शब्द विद्यार्थियों की उन पाठ्य-पुस्तकों में भी प्रयुक्त हुए हैं जो इस कोश निर्माण से पहले प्रकाशित हुई थी! इन्हें 'इवॉल्व' करने या 'क्वायन' करने का दावा इस कोश के सम्पादक लोग नहीं कर सकते।

इस सरकारी कोश में ऐसे भी हजारों शब्द हैं जिन्हें तीस वर्ष पहले ही श्री सुखसम्पतिराय भण्डारी और उनके सहयोगियों ने 'क्वायन' या 'इवॉल्व' कर लिया था। इनमें अणु, परमाणु, धूमकेतु, निरपेक्ष, अमूर्त, सूत्र, मताधिकार, निर्वाचन-क्षेत्र, राष्ट्रीयकरण, समाजवाद, लोकतन्त्र जैसे शब्द हैं। ऐसे शब्द साधारण हिन्दी गद्य में बराबर प्रयुक्त होते रहे हैं। इनके अतिरिक्त विज्ञान-सम्बन्धी शब्द भी हैं, जिनका व्यवहार वैज्ञानिक पुस्तकों में होता है। 'डिफरेंशल इक्वेशन'—अवकल समीकरण, 'डिफ़र्वशन'—विवर्तन; 'आइसोमेरिज्म'—समावयवता, 'लेटरल'—पार्श्विक; 'वेन'—शिरा, 'वर्टीब्रा'—कशेरुका; 'यूटेरस'—गर्भाशय; 'लैरिंक्स'—स्वर-यन्त्र, 'अपेण्डिक्स'—परिशिष्ट; 'कार्टिलेज'—उपास्थि; 'क्लैविकल'—अक्षक; 'कौर्टेक्स'—वल्क; 'डक्ट'—वाहिनी; 'कोन'—शंकु; 'कौर्पस कैलोसम'—महासंयोजक, 'रेडिएशन'—विकिरण; 'मैग्नेटिज्म'—चुम्बकत्व; 'लौगेरिथम'—लघुगणक; 'कैलकुलस'—कलन; 'हिप्नौटिज्म'—सम्मोहन; 'इनहिबिशन'—अवरोध; 'साइको एनैलिसिस'—मनोविश्लेषण; 'एनालोजी'—सादृश्य; 'ऐल्ट्रूइज्म'—परार्थवाद; 'ऐनाबोलिज्म'—चय; 'ऑकल्टिज्म'—गुह्यविद्या; 'स्प्लीन'—प्लीहा, 'डेंसिटी'—घनत्व इत्यादि।

इस तरह के हजारों शब्द भण्डारी-कोश और उसके तीस साल बाद के

सरकारी कोश मे ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। इनके सिवा ऐसे भी सैकड़ो शब्द हैं जिनमे सरकारी कोश ने नाममात्र का परिवर्तन किया है। 'डायलेटेशन' के लिए भण्डारी के 'विस्तारन' को यहाँ 'विस्तारण' कर दिया गया है, 'न' का 'ण'! अथवा 'सिस्टोल' के लिए भण्डारी-कृत 'आकुंचन' सरकारी कोश मे 'प्रकुंचन' हो गया! 'थोरेसिक' के लिए भण्डारी ने लिखा 'वक्ष-सम्बन्धी'; सरकारी कोश मे उसे 'वक्षीय' कर दिया गया! 'आइसोटोप' के लिए भण्डारी ने लिखा 'समस्थानीय', सरकारी कोश ने उसे किया 'समस्थानिक'!

इस सरकारी कोश के सम्पादकों-संरक्षकों से यह पूछना अनुचित न होगा कि आखिर वे शब्द कौन-से हैं जिन्हें दस साल मे आप लोगो ने 'इवौल्व' किया है, या 'क्वायन' किया है, जिनके अभाव में हिन्दी राष्ट्रभाषा न बन सकती थी, दरिद्र थी, आधुनिक जीवन से सम्बन्धित विचारों को प्रकट करने मे अक्षम थी? प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी को सरकार और उसके मुलाजिमो से यह प्रश्न करना चाहिए कि दस साल से लगातार हिन्दी के जिन अभावो की आप घोषणा कर रहे थे, वे कौन-से हैं, किन शब्दो की रचना करके आपने उन अभावो की पूर्ति की है? अपार धन व्यय करके आपने जिस कोश की रचना की है, स्पष्ट बताइए कि इसमे कितने शब्द ऐसे हैं जो हिन्दी म पहले से विद्यमान न थे?

मेरा अनुमान है कि कोश मे नये गढ़े हुए शब्दो को बहुत परिश्रम से ढूँढ निकाला जाय तो छपने पर वे पन्द्रह-बीस पृष्ठो से ज्यादा जगह न घेरेंगे। यह बात सही हो तो सरकार ने फी साल केवल डेढ़ या दो पृष्ठो की नवीन सामग्री प्रस्तुत की।

यदि किसी को विश्वास हो कि नवनिर्मित शब्दो की सख्या पन्द्रह-बीस पृष्ठो से अधिक परिमाण की होगी, तो उससे प्रार्थना है कि वह ऐसे शब्दो का सग्रह कर डाले, उसे प्रकाशित कर दे, यह हिन्दी की बहुत बडी सेवा होगी, एकदम वैज्ञानिक ढग से पता चल जाएगा कि हिन्दी की भाषागत समृद्धि म ठीक-ठीक कितने शब्दो का इजाफा किया गया है।

इस कोश निर्माण के लिए आई० सी० एस० आफिसर, शिक्षा मन्त्रालय के स्पेशल आफिसर ऑन ड्यूटी, मद्रास, मैसूर, बॅगलोर, पूना, कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली से निकट और दूर के, नगरो से बीसियो विशेषज्ञो का पचासो बार आवागमन, उनके टी० ए० बिल, दिल्ली मे ठहरने का भत्ता, एक स्थायी कार्यालय और उसके कर्मचारी—आप हिसाब लगाएँ, फी शब्द सौ टके से कम नही पडा। पहले तीन लाख शब्द गढे या इकट्ठे किये गए। उनमे बहुत-से शब्द दुहराये-तिहराये गए थे। मनोविज्ञान के शब्द दर्शन मे भी आ गए और भौतिकी के शब्द रसायन मे। इन फालतू शब्दो की छँटाई के बाद इस कोश मे एक लाख से कुछ ऊपर शब्द बच रहे हैं। कोश पर करोडो रुपये खर्च हुए। इतना धन व्यय करने के बाद भी पता नही चलता कि नवनिर्मित शब्द दरअसल कितने हैं। शिक्षा मन्त्रालय के उच्च अधिकारियों ने सम्भवत कोश को पन्ने पलट-

कर देता भी नहीं है। वरना श्री श्रार० पी० नायक तीन लाख 'नये शब्द गढ़ने' की बात न लिखते। कोश में प्रकाशित एक श्रन्य अंग्रेजी लेख में उन सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है जिनके अनुसार शब्द-संग्रह का कार्य सम्पादित किया गया है। इस लेख में बताया गया है कि सम्पादकों ने हिन्दी में पहले से प्रचलित शब्द-राशि से लाभ उठाया है। इस लेख में लाखों नये शब्द गढ़ने का दावा नहीं किया गया। इसमें प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय साहित्य से शब्द लेने की बात भी कही गई है। सरकारी भूमिका में नये शब्द गढ़कर हिन्दी की दरिद्रता दूर करने का जो दावा किया गया है, वह इस लेख की बातों से कट जाता है।

इस लेख में शब्दों के अर्थ निश्चित करने के बारे में कुछ बातें कही गई हैं, जो गलत हैं। जिन प्राचीन शब्दों को खोज निकालने का दावा किया गया है, उनमें 'कैलकुलस' का पर्याय 'कलन' भी है। यह शब्द भण्डारीजी के कोश में विद्यमान है। इसी तरह 'हीट' के लिए 'ऊष्मा' को निश्चित करने की जो बात कही गई है, वह सही नहीं है। भौतिकी-पुस्तकों में 'हीट' के लिए ऊष्मा का प्रयोग काफ़ी पहले से होने लगा था। कोश में कुछ प्रचलित शब्दों को छोड़कर नये शब्द गढ़े गए हैं। यह गढ़न्त अक्सर भोंडी हो गई है। 'नर्व' के पर्याय-रूप में 'स्नायु' हिन्दी का प्रचलित शब्द था। उसे हटाकर 'तन्त्रिका' शब्द स्थापित किया गया है। 'स्नायु-तन्त्र' सुनने में अच्छा लगता है। उसके बदले इस कोश के अनुसार 'तन्त्रिका-तन्त्र' का चलन होना चाहिए। 'डिप्लोमैसी' के लिए हिन्दी में 'कूटनीति' शब्द प्रचलित है। इस कोश में उसके लिए नया शब्द दिया है—'राजनय'। 'मानोथीस्टिज़्म' का पर्याय दिया गया है 'अनीश्वरवाद,' जो *ग़लत है। इसके विपरीत भण्डारीजी के कोश में सही शब्द दिया गया है—* 'अद्वैतवाद'। 'स्पेस' या 'आउटर स्पेस' का समानार्थी हमारा प्राचीन शब्द है 'अन्तरिक्ष'। उसे कोश में जगह नहीं मिली। 'नेशनैलिटी' का समानार्थी प्रचलित शब्द है—'जाति'। सरकारी कोश ने भोंडी गढ़न्त की है—'राष्ट्रिकता'।

एक विचित्र बात यह है कि एक ही शब्द से सम्बन्धित शब्द-समूह में पर्यायों की यथेष्ट भिन्नता दिखाई देगी। 'स्पेस टाइम' के लिए 'दिक् काल' किन्तु 'स्पेस टाइम कर्व' के लिए 'अवकाश समय वक्र'। ऐसे भी सैकड़ों शब्द हैं जो *कोश में नहीं आए—यथा 'एग्जॉल्टेशन,' 'पैन्थीइज़्म,' 'ईस्थेसिया,' 'कौस्मोनॉट,' 'जनरल स्ट्राइक' इत्यादि।*

ज्यादा अच्छा होता कि सरकार ज्ञान विज्ञान के समस्त क्षेत्रों में हिन्दी को समृद्ध करने का ठेका न लेती। वह शासन-व्यवस्था, न्याय, व्यापार आदि उन क्षेत्रों के शब्दों का ही संग्रह कराती जिससे उसे आए दिन साबिका पड़ता है। आखिर लोकसभा के सदस्य या मन्त्रीगण अपनी राजनीतिक हैसियत से भौतिकी, रसायन या जीवविज्ञान पर तो ग्रन्थ रचेंगे नहीं। हिन्दी को केन्द्रीय राजकाज की भाषा बनाने के लिए देखना यह चाहिए था कि उसमें *राजकाज के शब्द हैं*

या नहीं। यह सीधा-सादा छह महीने में खत्म होनेवाला काम न करके सरकार ने दो पचवर्षीय योजनाओं का समय लगा दिया, समस्त विषयों के इस शब्द-संग्रह में।

शब्द-संग्रह तैयार हो गया। धन, समय और शक्ति के अपव्यय के बावजूद यह लाख से ऊपर शब्दों का संग्रह प्रस्तुत है। भारत के डेढ़ फी सदी अंग्रेजीदाँ बुद्धिजीवी जो पहले अंग्रेजी में सोचते हैं, फिर अपने सोचने का फल किसी भारतीय भाषा में प्रकट करते हैं, इस कोश की सहायता से हिन्दी में अब अपने अमूल्य विचार प्रकट कर सकते हैं। क्या अब केन्द्रीय राजकाज अंग्रेजी के बदले हिन्दी में होने लगा है? नहीं, इसके विपरीत अनिश्चित काल के लिए अंग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा घोषित कर दी गई है।

दो निष्कर्ष स्पष्ट हैं—

(१) हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों के अभाव की बात राजनीतिज्ञों का झूठा प्रचार है। सरकारी शब्द संग्रह के ६६ फी सदी शब्द हिन्दी पुस्तकों और कोश में पहले से विद्यमान हैं।

(२) कोश निर्माण द्वारा हिन्दी को समृद्ध करने, उसे राजभाषा पद के योग्य बनाने की सारी प्रक्रिया एक राजनीतिक चाल है, जिसका उद्देश्य है हिन्दी भाषियों तथा समस्त राष्ट्रभाषा-प्रेमियों की आँखों में धूल झोंकना।

राष्ट्रीयता और जनतन्त्र का आधार संकुचित करके अंग्रेजी पढ़े लिखे मुट्ठी-भर लोग जो भारत के शासन-तन्त्र का संचालन करते हैं, वे अपना निहित स्वार्थ छोड़ने को तैयार नहीं हैं। उनकी धारणा है कि अंग्रेजी के बिदा होने पर उन्हें भी भारतीय रंगमंच से बिदा लेनी होगी। हिन्दी-भाषी तथा समस्त भारतीय जनता का हित इसी में है कि अंग्रेजीदाँ नौकरशाही का यह वर्ग जल्दी-से-जल्दी शासन-तन्त्र से दूर हो, तभी देश की समस्त भाषाएँ जनता की सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति का साधन बनेंगी और भारत अपनी प्रभुसत्ता को पूरी तरह चरितार्थ करेगा। (१९६३)

२८

वामपंथी कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम का मसौदा

(भाषा-सम्बन्धी नीति की आलोचना)

वामपंथियों के कार्यक्रम के मसौदे मे भारतीय भाषाओ की समानता के बारे मे बहुत-सी और बहुत अच्छी अच्छी बातें कही गई हैं। लेकिन कहीं यह नही बताया गया कि भारत की सभी भाषाओं पर अपना आधिपत्य जमाये हुए जो अंग्रेजी बैठी हुई है, उसके बारे मे वामपथी कम्युनिस्ट क्या करने जा रहे हैं। मसौदे में यह सराहनीय बात कही गई है कि विभिन्न राज्यों तथा वहाँ की जनता के बीच आर्थिक, राजनीतिक और सास्कृतिक सहयोग को बढावा देकर भविष्य मे कायम होनेवाली जनता की जनवादी सरकार भारत की एकता को दृढ़ करेगी। यह एकता दृढ करने का काम अंग्रेजी के द्वारा होगा या किसी भारतीय भाषा के द्वारा ?

जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है, मसौदे मे कहा गया है कि अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी का व्यवहार अनिवार्य न होगा लेकिन विभिन्न राज्यो की सरकारो के बीच सम्पर्क भाषा बनने के लिए हिन्दी को प्रोत्साहन दिया जायगा।

हिन्दी का व्यवहार अनिवार्य न होगा। बहुत अच्छी बात है क्योकि हिन्दी के व्यवहार को अनिवार्य बनाना जनतन्त्र-विरोधी कार्य होगा। लेकिन अंग्रेजी को हटाना अनिवार्य क्यों न कर दिया जाय ? मातृभाषाओ के व्यवहार पर सही जोर, लेकिन अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी के व्यवहार को लेकर आगा-पीछा—ऐसा क्यो ? जनता की जनवादी सरकार हिन्दी के व्यवहार को प्रोत्साहन देगी ! मानो विभिन्न प्रदेशो की जनता ने अभी तक परस्पर आदान-प्रदान की आवश्यकता का अनुभव ही न किया हो ! मानो वह अभी तक राह देख रही हो कि जनता की जनवादी सरकार बन जाय, तब वह आपसी सम्पर्क का काम शुरू करे ! और विभिन्न राज्यो की सरकारो के ही परस्पर सम्पर्क के लिए हिन्दी को प्रोत्साहन क्यों दिया जायगा ? क्या अन्तर्प्रादेशिक सम्पर्क की आवश्यकता केवल सरकारो को पडती है ? जनता की जनवादी सरकार कायम होने पर जनता को इस सम्पर्क की आवश्यकता पडेगी या नहीं ? भारत की

सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक एकता दृढ करने मे जनता का भी कुछ हिस्सा होगा या नही ?

जनता के बाएँ और साम्राज्यवाद के दाएँ—वामपथी मसौदे का सारतत्व यही है। जोरो से हिन्दी की अस्वीकृति और अंग्रेज़ी की स्वीकृति, आज के लिए भी और कल के लिए भी—यह है मसौदे की नीति। सत्रह साल से कांग्रेस जिस नीति पर चलती आई है, उससे इस वामपथी नीति मे कुछ ज्यादा फर्क नही दिखाई देता।

साम्राज्यवादी अंग्रेज़ी के प्रसार और शिक्षण पर करोडो रुपये खर्च कर रहे हैं। भारत के सबसे बडे 'राष्ट्रीय' अखबार अंग्रेज़ी मे निकलते हैं और उनके मालिक बडे पूँजीपति हैं। इनमे अहिन्दी और हिन्दी दोनो तरह के पूँजीपति है। मध्यवर्ग के पढे-लिखे लोग नौकरशाही मशीन चलाते हैं और उन्ही मे से भारत की राजनीतिक पार्टियो के नेता भी बनते हैं। इन पार्टियो का राजनीतिक काम अंग्रेजी मे होता है। इनमे से अनेक पार्टियाँ चाहती हैं कि अंग्रेज़ी जाय लेकिन वे अपना अन्तर्प्रादेशिक काम करती हैं अंग्रेजी मे। सरकार से यह कहना कि यह करो, वह करो, तब तक बिलकुल फिजूल है जब तक राजनीतिक पार्टियाँ अखिल भारतीय कामो के लिए अंग्रेज़ी का सहारा लेना नही छोडती। वामपथी कार्यक्रम के मसौदे में कहा गया है कि पालियामेट के सदस्य अपनी-अपनी भाषा म बोल सकेंगे और भाषणो के सभी भाषाओ मे अनुवादित होने की व्यवस्था होगी। वामपथी कम्युनिस्ट अपनी पार्टी काग्रेस मे इस प्रस्ताव पर अमल करके खुद अपन अन्दर अंग्रेज़ी का व्यवहार खत्म क्यो नही कर देते ? भारतीय जनता के किसी भी हिस्से को अंग्रेजी के कायम रहने से लाभ नही है। श्रमिक आन्दोलन मे विभिन्न जातियो के मजदूर परस्पर सम्पर्क के लिए हिन्दी का व्यवहार करते हैं।

आज भारतीय जीवन मे मुख्य अन्तर्विरोध हिन्दी और अहिन्दी भाषाओ मे नही, अंग्रेज़ी तथा समस्त भारतीय भाषाओ मे है। हिन्दी-अहिन्दी भाषाओ मे जो भी अन्तर्विरोध हो, उसे गौण मानकर पहले मुख्य अन्तर्विरोध को हल करने की कोशिश करनी चाहिए। बडे समाचारपत्रो की भाषा अंग्रेज़ी, विभिन्न राजनीतिक पार्टियो मे अंग्रेज़ी, विश्वविद्यालयो मे अंग्रेज़ी, विज्ञान-सम्बन्धी प्रकाशन के लिए अंग्रेज़ी, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तरो पर केन्द्रीय सरकार की व्यवहार-भाषा अंग्रेज़ी, राज्यो मे सरकारी भाषा अंग्रेज़ी। अब बताइए, अहिन्दी जातियो की प्रगति के लिए खतरा हिन्दी साम्राज्यवाद से है या अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद से ?

अहिन्दी जातियो के अधिकारो के लिए लडना और इस बात को भूल जाना कि अंग्रेज़ी सब पर हावी है, इस नीति का एक ही कारण है—अलगाव की भावना। आप प्रादेशिक स्तर पर जातियो के गठन की माँग करते हैं, उनकी भाषाओ के लिए समस्त अधिकारो की माँग करते हैं। लेकिन अखिल भारतीय

स्तर पर राष्ट्रीय एकता को सुदृढ करने के लिए आप किसी भारतीय भाषा के लिए अधिकार नही मांगते। आप सहारा लेते हैं अंग्रेजी का जिसका मतलब है डेढ फी सदी भारतवासियो की एकता को सुदृढ करना। इसका मतलब है, सामाजिक और सास्कृतिक विकास को अखिल भारतीय धारा से तटस्थ हो जाना। आप इस विकास को अंग्रेजी तक सीमित कर देते हैं। आप अपने प्रदेश की ही भाषा और संस्कृति के विकास की बात सोचते हैं। यही है अलगाव की भावना। अंग्रेजी का सूत्र बहुत कमजोर है और ज़रा से झटके से टूट सकता है। आपके लिए मजबूत सूत्र है प्रादेशिक भाषा जो आपको प्रदेश से बांधती है। लेकिन दूसरे प्रदेशो से जो आपको बांधे वह सूत्र कौन-सा है? तब क्या आश्चर्य कि द्रविड कळगम अलग तमिल राज्य बनाने की मांग करता रहा है, नागा जनो के लिए फिजो महाशय अलग राज्य चाहते हैं, शेख अब्दुल्ला कश्मीर के लिए आत्मनिर्णय का अधिकार चाहते हैं। राजाजी, फील्ड-मार्शल अय्यूब खां, चाऊ-एन-लाई और अंग्रेजी-भाषी जनतन्त्रो के ब्रिटिश अमरीकी नेता सभी आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करते हैं।

भारत की वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति मे अलगाव से केवल साम्राज्यवाद का हित होता है। इसीलिए राष्ट्रीय एकता को सुदृढ करना सभी देशप्रेमियो का सर्वोपरि कर्तव्य है।

आत्मनिर्णय की मांग सार्थक तब होती है जब साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करती हुई जनता अपनी स्वाधीनता के लिए आत्मनिर्णय की मांग करे। जारशाही रूस मे यह मांग सार्थक थी क्योकि रूसी पूंजीपति गैर-रूसी जातियो का उत्पीडन करते थे। भारत मे यह मांग निरर्थक है। जो लोग शेख अब्दुल्ला को प्रोत्साहन देते है या जमकर उसका विरोध नही करते, वे देश के प्रति विश्वासघात कर रहे हैं।

अंग्रेजी के कायम रहने से प्रादेशिक भाषाओ को ही नुकसान होता है। फिर किसी भी *प्रदेश की भाषा और संस्कृति का विकास अलगाव की हालत* मे नहीं हुआ। प्रत्येक भाषा मे उसके साहित्य की विषयवस्तु का आधार है देशभक्ति, न कि अलगाव-पंथी प्रादेशिकता। इसलिए अपने प्रदेश और उसकी भाषा पर ही ज़ोर देना और राष्ट्रीय एकता की बात भूल जाना हानिकर है।

वामपंथी कम्युनिस्ट राष्ट्र के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। मसौदे म कहा गया है कि छुटपुट संघर्ष बढते-बढते राष्ट्रीय (नेशनल) विद्रोह का रूप ले लेते, मसौदे मे राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन, राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे आदि का उल्लेख है। इस राष्ट्र की एकता अंग्रेजी से दृढ नहीं हो सकती।

वामपंथी मसौदे मे यह मांग की गई है कि भाषावार राज्यो के पुनर्गठन की प्रक्रिया पूरी की जाय। राज्य का गठन इस बात को ध्यान मे रखते हुए करना चाहिए कि जनता के सामाजिक और सास्कृतिक विकास मे सुविधा हो। हर भाषा को लेकर केवल राज्य के लिए राज्य बनाना बचकानापन है।

वामपंथी कम्युनिस्ट पार्टी के [illegible] का'

"यह सम्राटो द्वारा शासित द्वीप'''
यह भव्य प्रदेश, यह धरती, यह राज्य, यह इगलड,
यह महाराजाओ का गर्भस्थल, यह उनकी धरित्री,
उनके जन्म लेने से प्रसिद्ध, उनके वश के कारण शत्रु मे भय उत्पन्न करने वाला ।'

फिर कोई भारतीय कवि किसी गुप्त-सम्राट् की प्रशस्ति के गीत क्यो न गाये ? किन्तु महाभारत के कवि ने भारतवर्ष की प्रशस्ति लिखी है, राजाओ और सम्राटो की नही । राजाओ और सम्राटो के लिए लिखा है कि वे भूमि के लिए वैसे ही लडते हैं जैसे मास के लिए कुत्ते ।

देवमानुपकायानां काम भूमि परायणम् ।
अन्योन्यस्यावलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम् ॥
राजानो भरतश्रेष्ठ भोक्तुकामा वसुन्धराम् ।
न चापि तृप्ति कामाना विद्यतेऽद्यापि कस्यचित् ॥
तस्मात् परिग्रहे भूमेर्यतन्ते कुरुपाण्डवा ।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनैव च भारत ॥
पिता भ्राता च पुत्राश्च ख द्यौश्च नरपुगव ।
भूमिर्भवति भूताना सम्यगच्छिद्रदर्शना ॥

(देव-शरीरधारी प्राणियो के लिए और मानव-शरीरधारी जीवो के लिए यथेष्ट फल देनेवाली यह भूमि उनका परम आश्रय होती है । जैसे कुत्ते मास के टुकडे के लिए परस्पर लडते और एक दूसरे को नोचते हैं, उसी प्रकार राजा लोग इस वसुधा को भोगने की इच्छा रखकर आपस मे लडते और लूटमार करते हैं किन्तु आज तक किसी को अपनी कामनाओ से तृप्ति नही हुई । इस अतृप्ति के ही कारण कौरव और पाण्डव साम, दाम, भेद और दण्ड के द्वारा सम्पूर्ण वसुधा पर अधिकार करने के लिए यत्न करते हैं । यदि भूमि के यथार्थ स्वरूप का सम्पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाय तो वह परमात्मा से अभिन्न होने के कारण प्राणियो के लिए पिता, भ्राता, पुत्र, आकाशवर्ती पुण्यलोक तथा स्वर्ग भी बन जाती है ।)

यूरोप के प्राचीन साहित्य मे इस मानवतावाद का जवाब नही है । शेक्सपियर की राष्ट्रीय गौरव-भावना से यह धरती-प्रेम बहुत ऊँचा है । इसलिए भारतवर्ष की प्रशस्ति सम्राटो की वन्दना नही, भारत-भूमि और उसकी जनता की वन्दना है वह हमारी प्राचीन राष्ट्रीय भावना की द्योतक है । 'रामायण', 'मेघदूत' और 'कुमारसम्भव' मे इसी प्रकार राष्ट्रीय चेतना के दर्शन होते हैं ।

मार्क्सवाद के अनुसार जातियाँ (नेशन) पूँजीवादी युग की देन हैं । लेकिन पूँजीवाद है क्या ? पूँजीवाद उत्पादन की एक पद्धति है । तब क्या शेक्सपियर के समय मे उत्पादन की पद्धति बदल चुकी थी ? यदि हां, तो पगार पानेवाला सर्व-

हारा वर्ग कहाँ था ? १८४४ मे एंगेल्स ने अपने समय के इंग्लैंड के बारे मे—'इंग्लैंड के मजदूर-वर्ग की दशा' नामक पुस्तक मे—लिखा था, "इंग्लैंड के सर्वहारावर्ग का इतिहास पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरम्भ होता है।" अठारहवीं सदी से पहले इंग्लैंड मे सर्वहारा-वर्ग नहीं था। उत्पादन की पद्धति मे कोई बुनियादी परिवर्तन न हुआ था। जुलाहे खेती भी करते थे। धरती से उनका सम्बन्ध टूटा न था। वे घुमन्तू सौदागरो को अपना माल बेचते थे। लेकिन वे अभी बाजार मे अपनी श्रमशक्ति बेचने को बाध्य न थे। यदि पूँजीवाद केवल उत्पादन की पद्धति है, तो सोलहवीं सत्रहवीं सदी के अंग्रेज जाति के रूप मे सगठित न हो सकते थे। लेकिन मिल्टन ने १६४४ ई० मे क्रौमवेल की विजय के बाद लिखा था, "मुझे अपने मनोलोक मे दिखाई दे रहा है कि एक शक्तिशाली जाति (नेशन) नींद से उठे हुए सबल मानव के समान अपने केश झटक रही है।"

रूस मे पूँजीवादी उत्पादन उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे आरम्भ हुआ, किन्तु लेनिन के अनुसार रूसी जाति का निर्माण सत्रहवी सदी मे हुआ। लेनिन ने रूस के सामाजिक विकास का विश्लेषण करके दिखाया था कि व्यापारियों ने रूस मे एक देशव्यापी बाजार कायम किया था। यह समझना चाहिए कि पूँजीवाद केवल उत्पादन की पद्धति नहीं, वितरण की पद्धति भी है। मार्क्सवादी भारतीय इतिहास को तब तक सही तौर से न समझ सकेंगे जब तक वे सामाजिक विकास मे वितरण की भूमिका का महत्त्व स्वीकार न करेंगे।

एंगेल्स ने एण्टी ड्यूरिंग में लिखा था कि उत्पादन और विनिमय अर्थतन्त्र की दो धुरी हैं दोनो के नियम बहुत-कुछ स्वतन्त्र हैं और वे दोनो एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। एंगेल्स ने इस बात पर जोर दिया था कि प्रत्येक समाज-व्यवस्था का आधार उत्पादन और वितरण दोनो हैं। पूँजी के तीसरे खण्ड मे मार्क्स (अथवा एंगेल्स) ने बताया था कि औद्योगिक पूँजी का निर्माण तभी होता है जब उससे पहले सौदागरी पूँजी का निर्माण हो चुका हो। मार्क्स ने लिखा था कि सोलहवी सत्रहवी सदी में सौदागरी पूँजीवाद के विकास के साथ भारी क्रान्तियाँ हुई और सामन्ती उत्पादन से पूँजीवादी उत्पादन के बीच सक्रमण की यह सबसे महत्त्वपूर्ण कडी थी। मार्क्स ने लिखा था, व्यापार मे क्रान्ति होने से विश्व-बाजार कायम हुआ। आश्चर्य की बात होगी, विश्व-बाजार तो कायम हो जाय, जातीय बाजार (नेशनल मार्केट) कायम न हो।

सोलहवीं-सत्रहवीं सदियो मे भारत विश्व-बाजार का बहुत महत्त्वपूर्ण अंग था। हमारे यहाँ यूरोप का माल बिकने आता था, यहाँ का माल वहाँ बिकने जाता था। एडम स्मिथ ने लिखा था कि उन दिनों यूरोप का मुख्य व्यापार यह था कि पश्चिमी देश अपनी अनगढ चीजें देकर अधिक सभ्य देशों का बढ़िया माल लाते थे। आश्चर्य की बात होगी यदि असभ्य देशों मे तो राष्ट्रीय या जातीय चेतना फैल गई हो और सभ्य देशो मे उसका अभाव रहा हो।

मार्क्स ने लिखा था कि "प्राचीन काल की व्यापारी जातियाँ ऐपीक्यूरस के देवताओं की तरह ब्रह्माण्ड के मध्यलोक मे रहती थी। अथवा यों कहें जैसे पोलैंड के समाज मे यहूदी भीतर पैठ गए थे।" मार्क्स ने व्यापारी जातियो (ट्रेडिंग नेशन्स) का उल्लेख किया है। इसका अर्थ यह है कि व्यापारी पूंजीवाद का विकास सोलहवीं सत्रहवीं सदी से पहले प्राचीन काल मे भी हुआ था। जातियों का उद्भव आधुनिक पूँजीवाद के जन्म से बहुत पहले हो चुका था। 'अर्थशास्त्र की आलोचना' नामक ग्रन्थ मे मार्क्स ने प्राचीन काल की जातियो की चर्चा की थी। उन्होने लिखा था कि प्राचीन काल की व्यापारी जातियो में धन (मनी) की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है।

गुप्त-युग में भारत के जनपदो में परस्पर आर्थिक विनिमय बढा, उस समय के व्यापारी भारतवर्ष से बाहर निकलकर दक्षिण पूर्वी एशिया और यूरोप तक अपना व्यापार करते रहे। जनपदो मे परस्पर सास्कृतिक सम्पर्क बढा, सस्कृत द्वारा वे एक-दूसरे से विचारो का आदान प्रदान करते रहे। तब क्या आश्चर्य कि भारतवर्ष मे राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ और महाभारत मे उसे अभिव्यक्ति मिली?

प्राचीन यूनान का उदाहरण लीजिए। यह देश छोटे-छोटे राज्यो (जनपदो) मे बँटा हुआ था। एथेन्स के लोगो मे बडे-बडे व्यापारी थे। इन्होने यूनानी लोगो मे राष्ट्रीय चेतना उभारने मे बडा योगदान किया। यूनान के प्राचीन नाटको—विशेषकर ईरानियो स सम्बन्धित ईस्किलस के नाटक मे—यह चेतना उभरकर आई है। एथेन्स का नेता पेरिक्लीज़ अपने नगर को हेलास (यूनान) का शिक्षक कहता था। प्रसिद्ध इतिहासकार थ्यूसीडाइडीज़ ने पेलोपनीसस के युद्ध पर अपने ग्रन्थ मे बारम्बार राष्ट्रीय भावना का उल्लेख किया है। ग्रन्थ के दूसरे खण्ड के छठे अध्याय मे उसने लिखा है, "पेलोपनीसस और एथेन्स दोनो मे ऐसे नौजवान भरे हुए थे जो भावहीनता के कारण हथियार उठाने को बडे उतावले थे। बाकी हेलास अपने प्रमुख नगरो के सघर्ष को देखकर आश्चर्यचकित हो रहा था।" यहाँ पेलोपनीसस और एथेन्स को एक ही राष्ट्र हेलास का अग माना गया है। ये दोनो राज्य है, परस्पर स्वतन्त्र है, फिर भी जनता की चेतना मे—विनिमय की बढती के कारण और अन्य महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक और भाषागत तत्त्वो के कारण—वे अपने से बडी इकाई के भाग हैं। लैकेडिमोन (पेलोपनीसस) का राजदूत मैलेसिप्पस पेरिक्लीज़ से मिलने की अनुमति न पाकर कहता है, "यह दिन हेलास के महादुर्भाग्य के आरम्भ का दिन है।" ईसा से चार सौ साल पहले यूनान में यह राष्ट्रीय चेतना फैल सकती थी तो क्या ईसा से चार सौ साल बाद भारत मे राष्ट्रीय चेतना का प्रसार असम्भव माना जाएगा?

बहस करनेवाले कह सकते हैं कि प्राचीन यूनानियो मे राष्ट्रीय चेतना इसलिए फैली कि उन्हें ईरानियो से मुकाबला करना था। ऐसा ही सही। तब

प्राचीन भारत मे राष्ट्रीय चेतना शको और हूणो का मुक़ाबला करने के लिए पैदा हुई। कारण चाहे जो बताया जाय, प्राचीन यूनान और प्राचीन भारत मे राष्ट्रीय चेतना के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।

फिर भी रूढ़िवादी मार्क्सवादी कहेंगे, 'नेशन' उसे कहते हैं जिसकी भाषा एक हो। यूनान मे मिलती जुलती बोलियाँ बोली जाती थी। लेकिन यहाँ तो आर्य और द्रविड़ एकदम भिन्न भाषा-परिवार थे। फिर भारत राष्ट्र कैसे हुआ?

प्राचीन भारत मे अनेक भाषाएँ थी किन्तु शिक्षित-जन सस्कृत द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर आपस मे सम्पर्क बनाये हुए थे। आर्यावर्त से सबसे ज्यादा दूर बगाल और केरल थे, फिर भी इनकी भाषाओ मे सस्कृत के शब्द अपेक्षाकृत अधिक हैं। इससे सस्कृत के देशव्यापी प्रभाव का पता चलता है। प्रकाण्ड पडित शकराचार्य केरल ही के थे। बगाल के न्यायशास्त्री दूर-दूर तक विख्यात हुए। फिर भी प्रश्न बना रहता है कि क्या एक से अधिक भाषाएँ बोलनेवाला को राष्ट्र की सज्ञा दी जा सकती है?

स्तालिन ने नेशन की जो प्रसिद्ध व्याख्या की थी, उसमे एक से अधिक भाषा की गुजाइश नही है। ब्रिटिश जाति और फ्रांसीसी जातियो की एक-एक भाषा है अग्रेजी और फ्रासीसी। फिर भी मार्क्सवादी लेखक 'नेशनल फ्रीडम मूवमेंट' की बात करते हैं, सौभाग्य से वे उसे 'इन्टरनेशनल फ्रीडम मूवमेंट' नही कहते।

अग्रेजी का 'नेशन' शब्द बड़ा भ्रामक है। भारतीय भाषाओ म दो शब्द हैं—राष्ट्र और जाति। भारत राष्ट्र, हिन्दी भाषी जाति। ब्रिटेन राष्ट्र, ब्रिटिश जाति। ब्रिटेन राष्ट्र मे एक ही भाषा है। भारत मे अनेक भाषाएँ हैं। जाति की भाषा एक ही होती है। राष्ट्र मे एक जाति, एक भाषा तथा अनेक जातियाँ, अनेक भाषाएँ हो सकती हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'जातीय सगीत' म जाति शब्द का प्रयोग इसी अर्थ म किया था।

अग्रेजी का 'पेट्रियोटिज्म' शब्द राष्ट्रीयता के बहुत निकट है किन्तु उसके मूल लैटिन शब्द 'पात्रिया' का अग्रेजी मे चलन नही है। राष्ट्र को पात्रिया कह सकते हैं, नेशन नही। राष्ट्र के लिए 'नेशन' को पर्यायवाची मानें तो 'भारत बहु-जातीय राष्ट्र है'—इस वाक्य का अनुवाद होगा—'इडिया इज ए मल्टीनेशनल नेशन'।

बहुजातीय राष्ट्र मे राष्ट्रीयता का आधार क्या है? उदाहरण के लिए, सोवियत राष्ट्रीयता (सोवियत पेट्रियोटिज्म) का आधार क्या है? यह राष्ट्रीयता केवल भावजगत् की वस्तु नहीं है। मार्क्सवाद के अनुसार जाति की तरह बहु-जातीय राष्ट्रीयता का भी भौतिक आधार होना चाहिए। क्या इसका आधार समाजवाद है? सोवियत सघ के अनेक समाजवादी पड़ोसी हैं किन्तु उनकी राष्ट्रीयता या देशभक्ति सोवियत राष्ट्रीयता या सोवियत देशभक्ति से भिन्न है। राष्ट्र

की अनेक जातियाँ सामान्य आर्थिक सम्बन्धो, सामान्य देश मे निवास, सामान्य ऐतिहासिक परम्पराओ और सामान्य सांस्कृतिक सूत्रों के कारण परस्पर सम्बद्ध होती हैं। भारत देश मे निवास करनेवाली जातियो की भाषाएँ, प्रदेश, आर्थिक सम्बन्ध, साहित्य और सस्कृति अलग अलग हैं। फिर भी उन सबका देश एक है, उन सबका राष्ट्रीय इतिहास एक है, उनकी मिली-जुली परस्पर सम्बद्ध साहित्यिक परम्परा है, उनके आर्थिक सम्बन्ध पहले की अपेक्षा आज और भी दृढ़ हैं। इसलिए जो लोग भारत की तुलना यूरोप से करते हैं, जो देश को उपमहाद्वीप कहते हैं, वे एक ऐतिहासिक सत्य से इन्कार करते हैं। राष्ट्रीयता के विकास मे केवल आर्थिक सम्बन्धो की भूमिका महत्वपूर्ण नहीं होती। ऐसा होता तो चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और पोलैंड सोवियत राष्ट्र के अन्तर्गत होते। उनकी अपनी ऐतिहासिक और सास्कृतिक परम्पराएँ हैं जो उनकी राष्ट्रीयता निर्धारित करती हैं।

कहा जा सकता है कि इस तरह की बहुजातीय राष्ट्रीयता समाजवाद के अन्तर्गत ही सम्भव है, पूंजीवाद मे तो जातियाँ, पूंजिपतियो के प्रभाव के कारण, परस्पर लडा करती हैं। यह बात सही नही है। पूंजीवाद के अन्तर्गत 'जाति' का निर्माण होता है या नहीं ? यह जाति सर्वहारा वर्ग और पूंजीपतियो के बीच सघर्ष के कारण विभाजित रहती है या नही ? विभाजित रहती है किन्तु पूंजीपति और मजदूर एक ही उत्पादन-वितरण व्यवस्था मे काम करते हैं, इसलिए जाति सम्बद्ध भी रहती है। इसी तरह पूंजीवाद के अन्तर्गत एक ही राष्ट्र की अनेक जातियाँ आपस मे स्पर्धा करती हैं, साथ ही राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था मे एक-दूसरे से सम्बद्ध भी रहती हैं। इसके अलावा सभी लोग मानते हैं कि देश की विभिन्न जातियो ने अग्रेजो के विरुद्ध 'राष्ट्रीय' आन्दोलन चलाया था। इसका अर्थ यह है कि विशेष परिस्थितियो मे जातियो का आपसी तनाव कम हो जाता है और उनकी राष्ट्रीय एकता उभरकर सामने आ जाती है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि समाजवादी व्यवस्था मे जातीय और राष्ट्रीय अलगाव की भावनाएं कभी कभी बडा उग्र रूप धारण करती हैं। सोवियत सघ से यूगोस्लाविया, रूमानिया और चीन के सम्बन्ध इस सत्य को उजागर करते है।

भारत एक राष्ट्र है। हमारी राष्ट्रीयता केवल अग्रेजो का विरोध करने के लिए—नकारात्मक रूप से—किन्ही विशेष परिस्थितियो मे उत्पन्न नही हो गई। उसकी जड़ें हमारी ऐतिहासिक और आर्थिक परम्पराओ मे बहुत गहरी पैठी हुई हैं। आज की परिस्थिति मे लोग चाहे जिस प्रदेश मे रहते हों, उनकी आर्थिक, राजीनतिक और सास्कृतिक प्रगति राष्ट्रीय एकता के बिना असम्भव है। किसी एक प्रदेश की उन्नति सारे देश की उन्नति पर निर्भर है।

भारत राष्ट्र से प्रेम है तो अग्रेजी का मोह छोडना होगा। अग्रेजी का प्रभुत्व राष्ट्र के लिए अपमानजनक है। विदेशी भाषाओ के साथ अग्रेजी का अध्ययन भी किया जाएगा किन्तु वह भारतीय भाषाओ के हक मारकर यहाँ

नहीं रह सकती। सभी प्रदेशों की जनता को अंग्रेजी हटाने के लिए मिलकर प्रयत्न करना चाहिए। जो लोग हिन्दी साम्राज्यवाद का भय दिखाते हैं, वे अंग्रेजी का साम्राज्यवाद सुरक्षित रखते हैं।

१९६४

३०

'अन्तर्राष्ट्रीय' वैज्ञानिक शब्दावली

बुद्धिजीवियों मे, वे चाहे मार्क्सवादी हों चाहे गैर-मार्क्सवादी, ऐसे लोगो की कमी नहीं है जो समझते हैं कि विज्ञान मे कोई अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली प्रचलित है। उनका तर्क यह है कि वर्तमान युग मे विज्ञान अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है, इसलिए उसकी शब्दावली भी अन्तर्राष्ट्रीय हो गई है। हिन्दी मे यदि यह अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली अपना ली जाय, तो पारिभाषिक शब्दावली की समस्या हल हो जाय।

स्थिति यह है कि यूरोप की भाषाओं मे बहुत-से पारिभाषिक शब्द सामान्य हैं। लैटिन-ग्रीक के आधार पर बनाये हुए ये शब्द एक ही रूप मे या थोड़े से रूप-परिवर्तन के बाद विभिन्न यूरोपीय भाषाओं मे प्रयुक्त होते हैं। ऐसे शब्दो को अपनाने मे कोई हानि नही है। भारत सरकार की ओर से १९६२ मे जो पारिभाषिक शब्दकोश प्रकाशित हुआ है, उसमें लगभग हर पृष्ठ पर इस श्रेणी के कुछ शब्द दिए हुए हैं। कोबाल्ट, उरेनियम, उरेनस, उरेडियम, उरेआ, ऑक्सीजन, ऑक्सीनाइट्रेट, यूकलिप्टस, अलकोहल, एथीलीन आदि ऐसे ही शब्द हैं।

इस तरह की सामान्य शब्दावली सीमित है। सीमित संख्या मे ही उससे शब्द लिये जा सकते हैं। यूरोप की भाषाओं मे प्रयुक्त होनेवाले सभी वैज्ञानिक शब्द अन्तर्राष्ट्रीय नही हैं। मास्को से वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दो के कई कोश प्रकाशित हुए हैं। जो लोग वैज्ञानिक शब्दावली की अन्तर्राष्ट्रीयता पर बडी दृढता से विश्वास करते हैं, उन्हे ये कोश अवश्य देखने चाहिएँ।

उदाहरण के लिए, हवाई जहाजों की उडान से सम्बन्धित एक अंग्रेजी-रूसी कोश है। जीवन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जिसमें सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली की आवश्यकता अधिक हो। लेकिन अंग्रेज़ी के पारिभाषिक शब्द अक्सर प्रचलित शब्दों के आधार पर बनाये गए हैं और रूसी से भिन्न हैं। अंग्रेज़ी मे एक प्रचलित शब्द है 'कौक'। इसको आधार मानकर एयर कौक, एयर एस्केप कौक, बैलेंस कौक, कंट्रोल कौक, ड्रेन कौक, फ्यूएल कौक, थ्रोट-

लिग कौक, आदि पारिभाषिक शब्दावली बनाई गई है। रूसी कौक शब्द का प्रयोग नही करते। इसलिए वे दूसरी तरह के शब्दो का व्यवहार करते हैं। अंग्रेज़ी मे प्रचलित शब्द है, कंट्रोल। इसे आधार मानकर सर्कूलेशन कंट्रोल, डेम्प कंट्रोल, डिस्टेन्स कंट्रोल, इलेक्ट्रिक फ्लाइट कंट्रोल, ऐलिवेटर कंट्रोल, इमर्जेन्सी कंट्रोल, फ्लाइट कंट्रोल, ग्राउंड कंट्रोल, आदि शब्दावली बनाई गई है। इसी तरह लैंडिग के आधार पर क्रौसविड लैंडिग, डेड-एजिन लैंडिग, फोर्स्ड लैंडिग, रनवे लैंडिग आदि, एयरक्राफ्ट के आधार पर कम्बैट एयरक्राफ्ट, फाइटर एयरक्राफ्ट, सिविल एयरक्राफ्ट, जेट एयरक्राफ्ट आदि शब्दावली निर्मित हुई है। इनके रूसी पर्यायवाची बिलकुल भिन्न हैं जैसे कंट्रोल के लिए रूसी शब्द है उप्रावलेनिय, एयरक्राफ्ट के लिए सामल्योत इत्यादि।

मास्को से कुछ पारिभाषिक शब्दकोश ऐसे प्रकाशित हुए हैं जिनमें सात भाषाओं के पर्यायवाची शब्द एक साथ दिए हुए हैं। इस तरह के कोशो का प्रकाशन ही सिद्ध करता है कि यूरोप मे कोई सर्वमान्य अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक शब्दावली नही है। अंग्रेज़ी मे प्रयुक्त जो शब्द कुछ लोगो को बहुत अन्तर्राष्ट्रीय लग सकते हैं उनके लिए भी यूरोप की भाषाओ मे अलग शब्द हैं। जेट के लिए रूसी मे स्त्रूया शब्द है; कार्बन, कार्बन-डाईऑक्साइड, टैंडन, थोरैक्स, लेबियम, गैस्ट्रिक, ओवरी, ग्लैंड, एल्कली, और न्यूक्लियर के लिए रूसी मे क्रमश: उग्लेरोद, उग्लेकीस्लूइ गाज, सुखोझीलिये, ग्रूदा, गबा, झेउदोन्चुइ, याइन्चिक, झेलेज़ा, श्चेलोच और यादेर्नाया शब्द हैं। ऑक्सीजन के लिए रूसी और जर्मन के अपने शब्द किसिलरोद और जावर स्टोफ़ हैं। नाइट्रोजन के लिए इतालवी, फ्रासीसी और रूसी में अज़ोत शब्द का प्रयोग होता है। फोस्फोर के लिए ल्यूमिनोफोर सुस्सतान्सिया, लायस्टस्टौफ आदि शब्द हैं। डच और जर्मन भाषाएँ एक दूसरे से बहुत मिलती हैं। ग्रिड के लिए उनके भिन्न शब्द हैं—रोस्टर और गिटर। इग्नाइटर के लिए डच मे ओन्टस्टेकर, जर्मन मे ल्यूटस्टिफ्ट शब्द हैं।

इस विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय भाषाओं को अपने पारिभाषिक शब्दो का निर्माण और व्यवहार करने की पूर्ण स्वाधीनता है। वे सीमित संख्या में यूरोपीय भाषाओ से शब्द ले सकती हैं। सर्वमान्य वैज्ञानिक और तक्नीकी शब्दावली का अस्तित्व कहीं नही है। १९६४

३१

संस्कृति और भाषा

भाषा को आप चाहे संस्कृति का ही अंग मान चाहे उससे भिन्न, दोनो के घनिष्ठ सम्बन्ध को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वाक्य रचना की पद्धति हमारी चिन्तन पद्धति पर निर्भर होती है। आप अपनी भाषा में कर्म को क्रिया के पहले बिठाते हैं या बाद को, यह आपकी परम्परागत जातीय चिन्तन प्रक्रिया पर निर्भर है। आप अपनी भाषा में किस तरह के विदेशी शब्द कितने परिमाण मे ग्रहण करते हैं, यह आपके जातीय चरित्र पर निर्भर है। आप अपनी भाषा का सम्मान करते हैं, दैनिक जीवन मे उसका व्यवहार करते हैं अथवा उसे पैरो तले रौंदते हैं और किसी अन्य भाषा को सिर चढाते हैं, यह आपकी राष्ट्रीय सम्मान की भावना पर निर्भर है।

किसी भी देश मे उसकी भाषा या भाषाओ की स्थिति विशुद्ध भाषा-विज्ञान के नियमो स समझ मे नही आ सकती। वह स्थिति देश की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियो पर निर्भर है। आज ससार के बहुत बडे हिस्से मे अंग्रेजी का बोलबाला है। ब्रिटेन और सयुक्त राष्ट्र अमरीका दो देश ऐस हैं जो अन्य देशो को पूंजी का निर्यात करते है, जो प्रच्छन्न और प्रकट रूप से उपनिवेशवाद का पोषण करते है, जो अपने प्रभाव को साम-दाम-दण्ड-भेद की बहुरगी नीति स सुरक्षित करके और व्यापक बनाने मे लगे हुए है। राजनीति से लेकर शिक्षा और सस्कृति तक जिस देश म जैस बन पडता है, ये घुसने पैठने, अपनी जड जमाने की कोशिश करते हैं। इनकी एक भाषा-सम्बन्धी स्पष्ट नीति है, पहले के समान यहाँ की भाषाओ का दबाकर रखना, उन सबके ऊपर शीर्ष स्थान पर अंग्रेजी को जमाकर रखना। इससे लाभ यह होता है कि आपके मर्मस्थल पर प्रहार करके आपको कमजोर बनाकर वे आपको अपनी स्वार्थ नीति की ओर आसानी से खीच सकते हैं। मर्मस्थल है, जातीय भाषा के प्रेम का स्थल, जातीय सस्कृति के प्रेम का स्थल, राष्ट्रीय आत्म गौरव का स्थल। आदमी को इस स्थल पर मारिए, उसे भीतर से निर्वीर्य कर दीजिए फिर उस बलि-पशु को चाहे जिस खूँटे से बांध कर उसका वध कर दीजिए।

आप उस देश की दशा पर विचार कीजिए जो अन्न से लेकर अस्त्र-शस्त्र तक परमुखापेक्षी है, जो अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए उन्हीं लोगों का मुँह जोहता है जो अब तक उसे गुलाम बनाए हुए थे। इसी नीति के अनुरूप भाषाक्षेत्र मे भी हमारे देश के नेता परमुखापेक्षी हैं। जिस अंग्रेजी भाषा ने विदेशी राज्यकाल मे यहाँ की भाषाओं को पदमर्दित किया, यहाँ की संस्कृति और साहित्य के सहज विकास को कुण्ठित किया, अंग्रेजी के जिस आधिपत्य के विरुद्ध भारतीय मनीषियों ने सतत संघर्ष किया, उस अंग्रेजी को हटाकर भारतीय भाषाओं को उनका स्वत्व देने मे शासक और शिक्षामन्त्री हिचकिचा रहे हैं।

हमारी सांस्कृतिक पराधीनता भाषा के क्षेत्र में अनेक रूपों में प्रकट होती है। हमारे संविधान मे लिखा है कि हिन्दी भाषा को विकसित होने के लिए समय दिया जाय। हिन्दी को विकसित करने के लिए एक विशाल निदेशालय चालू है। हिन्दी मे क्या कमी है, कमी है या नहीं, है तो उसे कैसे पूरा किया जाय, हिन्दी और भारतीय भाषाओं को देखते 'विश्वभाषा' अंग्रेजी म भी कोई कमी है या नहीं, है तो उसे कैसे दूर किया जाय—इस सबका निदान करने के लिए कोई आयोग नहीं बनाया गया, भाषा की सिद्धि समृद्धि जाँचने का योग सत्रह साल म नहीं आया। करोड़ो रुपये इस स्वत सिद्ध सत्य पर खर्च हो गए हैं कि 'विश्वभाषा' अंग्रेजी विकसित और समृद्ध है और भावी राष्ट्रभाषा हिन्दी अविकसित और दरिद्र है।

समृद्धि का कार्य कोष निर्माण द्वारा सम्पादित होता है। कोष निर्माण के लिए अंग्रेजी शब्द पहले हैं, हिन्दी बाद को। हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकता के लिए कौन स शब्द आवश्यक है, यह विषय अगोचर ही रहता है। कोष निर्माताओं मे अनेक जन अंग्रेजी से जितना आतंकित रहते है, उतना ही हिन्दी की प्रकृति से अनभिज्ञ भी। वे ऐसे 'स्थितित' और 'गतित' ऊर्जा वाले शब्द गढ़ते हैं कि 'तन्त्रिकातन्त्र' झंकृत हो उठता है और उनकी 'राष्ट्रिकता' को देखकर साधारण पठित जन यही सोचते है कि इससे तो अंग्रेजी भली। हिन्दी को समृद्ध करने के नाम पर अस्वाभाविक, उच्चारण मे दुष्कर शब्दो का निर्माण भाषा के प्रति अवज्ञा का परिचायक है, अज्ञान का तो है ही।

सांस्कृतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार मे जहाँ हिन्दी बोलना चाहिए, वहाँ हम अंग्रेजी से काम लेते हैं। परिवार के भीतर बचपन से अपनी सन्तान को हम डैडी, मम्मी, अंकल कहना सिखाते हैं मानो यहाँ भी पारिभाषिक शब्दो की कमी हो। हमारे उच्च मध्यवर्ग के लोगों की बहुत बड़ी आकांक्षा यह रहती है कि बेटा कॉन्वेंट मे पढ़े, फर्राटे से अंग्रेजी बोले, मजिस्ट्रेट बनकर लोगों पर हुकूमत करे। किसका सेवाभाव, किसके गांधी और बुद्ध। खाने के दांत और, दिखाने के और।

जहाँ तक मुझे मालूम है, इस देश की राजनीतिक पार्टियाँ अथवा केन्द्रीय

राजनीतिक कार्य, अपने केन्द्रीय मुखपत्र अंग्रेजी में चलाती हैं। हम विश्वभाषा के नाम पर अंग्रेजी पढ़ने पर ज़ोर देते हैं। जहाँ फ्रांस का राज्य था या है, वहाँ विश्वभाषा का दर्जा फ्रांसीसी को मिला है। किस पिछड़े हुए देश ने यूरोप की किस भाषा को विश्वभाषा माना है, यह इस पर निर्भर है कि उस पर यूरोप के किस देश का आधिपत्य था या है।

हमारे अनेक युगान्तरकारी साहित्यकार अपनी वाक्य-रचना मे अंग्रेज़ी शब्दों की ऐसी भरमार करते हैं मानो हिन्दी मे सोचना उन्होंने बन्द कर दिया है। वे न हिन्दी मे सोचते हैं, न अंग्रेजी मे वरन् इन दोनो से मिली हुई एक नई इंग्लिस्तानी भाषा मे, जो उनके लिए बहुत स्वाभाविक है किन्तु जो देश की जनता के लिए, हमारे समग्र सामाजिक विकास के लिए घातक है। अनेक लेखक अंग्रेज़ी मुहावरो या अनुवाद करके अपनी जातीय भाषा को सजाते हैं। अंग्रेजी के शब्दो, उद्धरणो और अनुवादित मुहावरो से वे अपनी—भाव-विचार-अनुभव की—दरिद्रता छिपाते हैं। अपनी सांस्कृतिक परम्परा के लिए, भारतीय भाषाओ और उनके साहित्य के लिए उनके हृदय मे अनादर की भावना है। उनमे बड़ी उत्सुकता होती है कि नई अंग्रेज़ी पुस्तकों की चर्चा करके अपने सुसंस्कृत होने का परिचय दें। वे साधारणतः यूरोप की भाषाओ स अपरिचित होते हैं और यूरोप के साहित्य को अंग्रेज़ी निगाहो से ही देखते है।

हिन्दी के अनेक समर्थ साहित्यकार इस भाषा-सम्बन्धी पराधीनता से मुक्त हैं। कुल मिलाकर हिन्दी साहित्य अपने स्वस्थ जातीय मार्ग पर आगे बढ़ रहा है। किन्तु इसमे सन्देह नही कि छापे की सुविधा से लाभ उठाकर बहुत से लेखक ऐसी भाषा का प्रयोग करने लगे हैं जो हिन्दी के सहज विकास के लिए घातक है।

इनसे भिन्न श्रेणी का एक लेखक समुदाय और है जो अंग्रेज़ी के माध्यम से ही अपनी कलात्मक प्रतिभा का परिचय देता है। वे किसान-देश की संस्कृति का उद्धार कर रहे हैं, अंग्रेज़ी मे उपन्यास, कहानियाँ, कविताएँ लिखकर। माना कि अंग्रेज़ी विश्वभाषा है और उसमे लिखने से अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति जल्दी मिलती है किन्तु नार्वे, डेनमार्क, इटली, स्पेन, जैसे छोटे देशो के लेखक इस विश्वभाषा को नही अपनाते, उसे अपनाने का ठेका हमारे महान् देश के लेखकों ने लिया है।

हमे अपनी भाषा के जातीय रूप की रक्षा करनी चाहिए। उसमे अंधाधुन्ध अंग्रेज़ी शब्दो की भर्ती हमारे राष्ट्रीय सम्मान के विपरीत है। हिन्दी की शक्ति उसे अपनाने, प्यार करनेवाली जनता की शक्ति है। दुर्बोध, उच्चारण के लिए विकट शब्दावली से उसे भरसक बचाना चाहिए अर्थात् हमे भरसक अपनी शैली सुगम बनानी चाहिए और वैज्ञानिक शब्दावली मे भी भरसक हिन्दी की प्रकृति का ध्यान रखना चाहिए। हमारा साहित्य इस देश की जनता के लिए है। इसलिए इंग्लिस्तानी के बदले हिन्दी का ही प्रयोग करना चाहिए। अंग्रेज़ी

के माध्यम से प्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अस्थायी है। रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द ने अपनी भाषाओं के माध्यम से जो ख्याति पाई, वही स्थायी है। जातीय संस्कृति से भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह ध्यान में रखकर हमें अपने व्यव-हार में सतर्क रहना चाहिए। (१९६४)

३२

भाषा की समस्या—अति आवश्यक

देश की राजनीतिक परिस्थिति की एक विशेषता यह है कि कांग्रेस को मिलनेवाले वोट दिन-पर-दिन कम होते जा रहे हैं और उसी परिणाम में वामपक्षी पार्टियाँ और उनका संयुक्त मोर्चा समर्थ होकर जनता के सामने नहीं आ रहे। पिछले दिनों कम्युनिस्ट पार्टी में विघटन के कारण वामपक्ष और भी कमज़ोर हो गया है। हिन्दी-भाषी प्रदेश में विशेष रूप से दक्षिणपंथी दल शहज़ोर है। चूँकि भारत में हर समस्या अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुकूल ही हल नहीं होती, इसलिए हर जागरूक नागरिक को फासिस्ट तानाशाही की संभावना के प्रति सतर्क रहना चाहिए।

जर्मनी के अनुभव से हमें मालूम है और अपने देश का अनुभव भी यही बतलाता है कि फासिस्ट दल संस्कृति के प्रश्न लेकर जनता को गुमराह करते हैं। हिटलर मध्यवर्ग ही नहीं, मज़दूर वर्ग के भी एक भाग को गुमराह करने में सफल हुआ था। हमारे देश में साम्प्रदायिक दल संस्कृति के प्रश्न विशेष रूप से जनता के सामने रखते हैं। वे अपने को भारतीय संस्कृति का एकमात्र रक्षक मानते हैं। संस्कृति को ढाल बनाकर वे अपनी गलत राजनीति के अस्त्र जनता पर चलाते हैं।

कुछ प्रगतिशील लोग समझते हैं कि यदि वे भी संस्कृति की बात करेंगे तो उनमें और साम्प्रदायिक दलों में कोई अन्तर न रह जायगा। आजकल हिन्दी भाषा के सवाल को लेकर हिन्दीभाषी क्षेत्रों में बड़ी सरगर्मी है। कुछ प्रगतिशील नेता समझते हैं कि अंग्रेज़ी को व्यवहार में लाना, अंग्रेज़ी में अपने दस्तावेज तैयार करना, अंग्रेज़ी में अपने राजनीतिक सम्मेलनों की कार्यवाही सम्पन्न करना, व्यावहारिक राष्ट्रभाषा के रूप में अंग्रेज़ी को प्रतिष्ठित रखना बहुत बड़ा साम्राज्यवाद-विरोध है, राष्ट्रीयता और जनतंत्र के हित में है और साम्यवाद के अनुकूल है! इसके विपरीत अखिल भारतीय स्तर से अंग्रेज़ी को हटाने की माँग करना, हिन्दी को केन्द्रीय राजकाज की भाषा बनाने के लिए आन्दोलन करना साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन देना है!

कोई भी प्रगतिशील दल भाषा और संस्कृति के मामलों में कितना दखल देता है, यह उसके व्यवहार से जाना जाता है। मिसाल के लिए यह विचारणीय है कि मैथिलीशरण गुप्त के निधन पर किन राजनीतिक दलों ने कहां कहां शोक प्रस्ताव पास किये। व्यवहार के अलावा विभिन्न दलों के कार्यक्रम प्रस्ताव आदि दर्शनीय हैं यह जानने के लिए कि उन्होंने सांस्कृतिक समस्याओं पर कितना विचार किया है।

माना कि सांस्कृतिक समस्याएँ बहुत उलझी हुई हैं। यह भी माना कि राजनीतिक समस्याएँ सुलझाने में ही बहुत से नेताओं की सारी ताकत खर्च हो जाती है। किन्तु भाषा की समस्या करोड़ों आदमियों को प्रभावित करती है। यह व्यापक सामाजिक समस्या बन गई है। उस पर सही दृष्टिकोण अपनाना और सही नीति के अनुसार आन्दोलन करना प्रगतिशील जनों का कर्तव्य है।

सवाल यह नहीं है कि जब कांग्रेसी सरकार के बदले हमारे मन-मुताबिक दूसरी हुकूमत बनेगी तब हम अंग्रेजी को जल्दी हटायेंगे या धीरे-धीरे, देर में हटायेंगे। सवाल यह है कि अभी हम क्या करने जा रहे हैं। और अभी जो कुछ करते हैं, उस पर बहुत कुछ निर्भर है कि भविष्य में यहाँ जनता की सरकार बनेगी या फासिस्ट तानाशाहों की।

जब अंग्रेजी राज कायम था तब भाषा की समस्या सभी साम्राज्य-विरोधी दलों और उनके नेताओं के सामने उलझी हुई नहीं थी। एक बात पर सभी सहमत थे कि अंग्रेजी जाय, उसके बने रहने से देश की शक्ति और धन का नाश होता है। आजकल अनेक साम्राज्यविरोधी योद्धा इस बात पर एकमत दिखाई देते हैं कि कागज पर चाहे जो छपा रहे, व्यवहार में अंग्रेजी ही राष्ट्र-भाषा बनी रहे।

हिन्दी भाषी प्रदेश में कोई भी दल भाषा के सवाल को नजरन्दाज करके शक्तिशाली नहीं बन सकता। अंग्रेजी को हटाने और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की मांग जनता की न्यायपूर्ण साम्राज्यविरोधी राष्ट्रीय मांग है। प्रगतिशील नेताओं को उसका समर्थन ही न करना चाहिए, आगे बढ़कर उसके लिए आन्दोलन करना चाहिए। वे लोग ही विभिन्न भाषाओं के उचित अधिकारों की रक्षा करते हुए हिन्दी के लिए सही आन्दोलन कर सकते हैं। वे अपना उत्तरदायित्व न निबाहेंगे तो दक्षिणपंथी ताकतों को अवसर मिलेगा कि वे सही मांग के लिए गलत ढंग से आन्दोलन चलाएँ, जातीय और साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाएँ और जनवादी पार्टियों के दमन के लिए आवश्यक तैयारी करें। जो प्रगतिशील नेता अब भी बेखबर रहते हैं, वे वस्तुगत रूप से जनतंत्र का नाश करने और तानाशाही को लाने के लिए जिम्मेदार होंगे। (१९६५)

शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही रहेगी। क्या यह भारतीय भाषाओं पर अंग्रेज
लादना नहीं है ? अंग्रेजी को लादना तो राष्ट्रीय एकता के लिए हितकर बता
जाता है, अंग्रेजी की जगह हिन्दी के चलन की बात भी करना साम्राज्यवा
है ! तमिल की जगह तमिलनाडु में ही अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम बनी र
तो इससे राष्ट्र का विकास होता है, यदि केन्द्रीय राजकाज के लिए—तमिलना
में नहीं, केवल केन्द्रीय राजकाज के किसी अत्यन्त सीमित दायरे में—हिन्दी
चलन की बात की जाय तो साम्राज्यवाद हो जाता है।

देश का भला चाहनेवाले अनेक नेताओं और पत्रकारों ने लिखा है, वक्तव
दिये हैं कि दक्षिणवालों का भय जायज है और उसे दूर करने का प्रयत्न करन
चाहिए। यह भय क्या है ? भय यह है कि हिन्दी के राजभाषा होने से अखि
भारतीय सरकारी नौकरियाँ हिन्दीवाले हथिया लेंगे, दक्षिणवाले टापते र
जाएँगे। राष्ट्रीय एकता और तमिल-प्रेम का सम टूटता है नौकरियों के मस
पर। किसी समय भारत का उच्च वर्ग अंग्रेजों से माँग करता था कि सरकार
नौकरियाँ उसे भी दी जाएँ, अंग्रेजों के लिए सुरक्षित न रहें। इस उच्च-वर्ग क
भारत की स्वाधीनता की चिन्ता न थी, उसकी लड़ाई थी सरकारी नौकरिय
के लिए। तमिलनाडु और अन्य प्रदेशों के अंग्रेजी-प्रेमी नेताओं को रोटी रोज
का मसला हल करने की, देश के आर्थिक विकास की चिन्ता नहीं है। उन
सबसे बड़ी चिन्ता है सरकारी नौकरियों की। ठीक है। सरकारी नौकरिय
की चिन्ता कीजिए। लेकिन राष्ट्रीय एकता के लबादे से इस स्वार्थ को मत
ढँकिए। मातृभाषा-प्रेम की पवित्र भावना जगाकर नौकरियों के इस संघर्ष
में भोली-भाली जनता को पुलिस-फौज की गोलियों का शिकार न बनाइए।

अखिल भारतीय नौकरियों के लिए जो परीक्षाएँ होती हैं, उनमें अंग्रेजी और
हिन्दी की स्थिति क्या है ? स्थिति यह है कि अभी तक इन परीक्षाओं का एकमा
माध्यम है अंग्रेजी। इस माध्यम को हटाने की कोई भी योजना नहीं है, कागजी
तौर पर भी नहीं है। संकट केवल यह है कि केन्द्रीय सरकार ने विभिन्न प्रदेशों के
मुख्य मन्त्रियों की राय से एक प्रयोग करने का निश्चय किया है। वह प्रयोग
यह है कि यदि हिन्दी को भी अंग्रेजी के साथ—अंग्रेजी की जगह नहीं—कुछ
विषयों में (सभी विषयों में नहीं) परीक्षा का माध्यम बनाया जाय तो इससे
अंग्रेजी माध्यमवाले घाटे में तो नहीं रहेंगे। यह प्रयोग हुआ नहीं है। उसके
होने की बात है। उस प्रयोग से जब अहिन्दी-भाषी भी सन्तुष्ट हो जायेंगे कि
अंग्रेजी का व्यवहार करने पर उन्हें घाटा न होगा, तब उनके सहमत होने पर
कुछ विषयों में अंग्रेजी के साथ हिन्दी भी एक ऐच्छिक माध्यम हो सकती है।
अंग्रेजी के लिए इतना ही संकट उत्पन्न हुआ है !

प्रधानमन्त्री ने कहा है कि हिन्दी-प्रेमियों को अंग्रेजी हटाने में जल्दी न
करनी चाहिए। स्वराष्ट्र-मन्त्री ने कहा है, हमें इस मामले में जल्दी न करना
चाहिए। कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने सरकार को सलाह दी है कि हिन्दी को

राजभाषा बनाने मे जल्दी न करनी चाहिए। आखिर वह कौन-सी तेज़ रफ्तार थी और किस क्षेत्र मे थी, जिससे हिन्दी राजभाषा बनी जा रही थी? आज़ादी पाने के अठारह साल बाद जो सरकार अखिल भारतीय नौकरियो के लिए हिन्दी को केवल ऐच्छिक माध्यम बनाने के प्रयोग की बात करती है, उसस भी कुछ बुद्धिमानों को तेज़ रफ्तार की शिकायत होती है।

हिन्दी तो एक दिन राजभाषा होगी, लेकिन धीरे-धीरे—ऐसा कहनेवाले वास्तव में अंग्रेज़ी की हिमायत करते हैं। इसका प्रमाण यह है कि अपना अखिल भारतीय राजनीतिक कार्य ये नेता और उनकी पार्टियाँ अंग्रेज़ी म करती हैं। व्यवहार मे अंग्रेज़ी, हिन्दीभाषी जनता के वोट लेने के लिए भविष्य म हिन्दी को राजभाषा बनाने के वादे! यह दुरगी नीति ज्यादा दिन नही चलेगी।

कुछ दूसरे लोग हैं जो माँग करते हैं कि स्वर्गीय प्रधानमन्त्री ने अंग्रेज़ी के सम्बन्ध मे जो वादे किये थे, वे सविधान मे दर्ज हो जाने चाहिए। यद्यपि वर्तमान प्रधानमन्त्री ने उन आश्वासनों को दुहराया है, किन्तु बहुत-से दशभक्तो के लिए इतना काफी नहीं है। वे चाहते हैं कि सविधान म उन आश्वासनो को दर्ज कर दिया जाय।

अनेक स्थानो मे यह नया नारा सुनने को मिला है—'हिन्दी नेवर, इंग्लिश एवर।' हिन्दी कभी न आए, अंग्रेज़ी हमेशा बनी रह! दक्षिण म जो उच्चकोटि के प्रतिक्रियावादी नेता हैं, वे यही नारा दे रहे हैं कि भारत की एकमात्र राजभाषा अंग्रेज़ी हो। अपन आन्दोलन के ज़रिये व सबसे पहले तमिल की जड काट रहे हैं, क्योंकि उन्ही की कृपा से तमिलनाडु म तमिल उच्चशिक्षा का माध्यम नहीं बनी। इसके बाद वे विशाल हिन्दीभाषी प्रदश पर—तथा अन्य अहिन्दी राष्ट्रभाषा प्रेमी जनता पर—सदा के लिए अंग्रेज़ी का प्रभुत्व कायम रखन का षडयन्त्र कर रहे हैं। अंग्रेज़ी के इस वास्तविक साम्राज्यवाद को देश की जनता कभी सहन न करेगी।

यह ध्यान देन की बात है, हिन्दी विरोधी आन्दोलन ने भयानक उत्पात का रूप केवल तमिलनाडु मे लिया है। अंग्रेज़ी प्रेमी नेता अन्य प्रदशो म भी हैं, किन्तु उन्होंने कोई उग्र आन्दोलन नही चलाया। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि अंग्रेज़ी प्रेमी नेता जानते हैं कि वास्तव मे अंग्रेज़ी के लिए कोई खतरा नहीं है, हिन्दी को व्यावहारिक राजभाषा होने मे बहुत देर है। इसलिए गर्म या नर्म किसी तरह के आन्दोलन को वे अनावश्यक समझते हैं। दूसरा कारण *यह है कि तमिलनाडु को भारत से अलग करने के लिए जैसा आन्दोलन उस* प्रदश मे हुआ है, वैसा आन्दोलन अन्य किसी प्रदेश को अलग करने के लिए नही हुआ। विघटन के इस प्रचार को राजनीतिक दलो ने सगठित किया। भाषाशास्त्र और इतिहास की झूठी गवाही से उस विघटन की भावना को वर्षों तक फैलाया। केन्द्रीय या तमिलनाडु का शासन अथवा कोई भी राजनीतिक दल उसका समर्थ प्रतिवाद नही कर पाया। यही कारण है कि हिन्दी-विरोधी

आन्दोलन ऐसा विनाशक रूप केवल तमिलनाडु मे ले सका।

इसका अर्थ यह है कि हिन्दी विरोध एक नकाब है, जिसके नीचे विघटन का देव छिपा हुआ है। नौकरी न मिलेगी यह भय दिखलाकर स्वार्थी नेताओ ने छात्रो को उभारा है और स्वतन्त्र द्रविड राज्य कायम करने के लक्ष्य के लिए उनका उपयोग किया है। देश की स्थिति ऐसी है कि कश्मीर, नागालैण्ड या तमिलनाडु कोई भी प्रदेश अलग होता है, तो उसकी हिमायत के लिए साम्राज्य-वादी आगे आते हैं। वे अपने फौजी अड्डा का स्वप्न देखते हैं, भारत का जो हिस्सा मिले उसका उपयोग अपनी समर योजनाओ के लिए करना चाहते हैं। कुछ विदेशी पत्रो ने तमिलनाडु के हिन्दी-विरोधी आन्दोलन को लेकर तमिल की लिपि, तमिल भाषा की व्यजना शक्ति की बडी प्रशसा की है और हिन्दी को तमिल से नीचा ठहराया है। इस प्रचार का उद्देश्य भारत मे गृहयुद्ध की आग सुलगाना है।

भारत से अलग होकर तमिलनाडु या कोई भी प्रदेश न तो साम्राज्यवाद से मुक्त रह सकता है, न अपना आर्थिक और सास्कृतिक विकास कर सकता है। विग्रहकारी आन्दोलन से सर्वप्रथम उस प्रदेश का अहित होता है जहाँ ऐसा आन्दोलन चलाया जाता है। उसके बाद समूचे देश का अहित होता है। अग्रेजी की सुरक्षा का यह आन्दोलन देश के विघटन का आन्दोलन है। समस्या हिन्दी और तमिल की नही है, समस्या तमिलनाडु को भारत का अभिन्न अग बनाये रखने की है।

यह सम्भव है कि भारत सरकार अग्रेजी प्रेमियो के दबाव से अग्रेजी की सुरक्षा के लिए कुछ और नियम कायदे बना दे या सविधान मे तब्दीली कर दे। इससे अग्रेजी की वास्तविक स्थिति मे कोई अतर न पडेगा। अग्रेजी तो राज भाषा के रूप में सुरक्षित है ही। भारतीय भाषाओ को उनके उचित अधिकार दिलाने के लिए यह जरूरी है कि सबसे पहले हिन्दीभाषी प्रदेश मे अग्रेजी को राजभाषा और सांस्कृतिक भाषा के पद से पूर्णत हटा दिया जाय, विश्वविद्यालयो मे पूर्णत हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया जाय, यहां के न्यायालयो का सारा काम हिन्दी मे हो, सामाजिक-सास्कृतिक जीवन मे अग्रेजी का व्यवहार खत्म किया जाय। इसके बाद जिस दिन हिन्दीभाषी जनता सगठित होकर अपने लोक-सभा के प्रतिनिधियों को हिन्दी मे बोलने और सारा राजकाज हिन्दी मे करने के लिए बाध्य करेगी, उस दिन अग्रेजी का साम्राज्यवाद खत्म हो जाएगा, उस दिन तमिलनाडु में तमिल भी अपना पूर्ण स्वत्व प्राप्त करेगी और राष्ट्रीय एकता को दृढ करने मे हिन्दीभाषी जनता अपनी भूमिका पूरी करेगी। अग्रेजी को हटाने और राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने का भार अब हिन्दीभाषी प्रदेश पर है। (१९६५)

३४

भाषा की समस्या और राष्ट्रीय विघटन

जिस समय भारत की सविधान सभा ने यह निश्चय किया कि राष्ट्रभाषा हिन्दी हो और तुरन्त नही, पन्द्रह साल बाद सन् '६५ मे हो, उस समय इस फैसले के पक्ष मे वोट देनेवाले उत्तर के लोग भी थे, दक्षिण के भी, हिन्दी-भाषी इलाको के नेता भी थे और अहिन्दी-भाषी प्रदेशो के भी। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यह फैसला हिन्दीवालो ने दक्षिण या बगाल पर लादा था।

जैसे-जैसे सन् '६५ निकट आता गया वैसे-वैसे उस फैसले को टालने के लिए भी कोशिशें होने लगी। ससद ने एक कानून बना दिया जिसके अनुसार सन् '६५ के बाद भी अग्रेजी सह-राजभाषा बनी रह सकती है। इस फैसले से हिन्दी को धक्का लगा, यह माना जा सकता है। किन्तु उससे किसी अहिन्दी भाषा को हानि हुई यह दावा कोई नही करता।

इसके बाद भी स्वर्गीय प्रधानमन्त्री ने आश्वासन दिया कि अहिन्दी-भाषियो की मर्जी के बिना अग्रेजी को नहीं हटाया जाएगा। इस साल २६ जनवरी से दिल्ली सरकार ने अपना राजकाज हिन्दी मे नही शुरू किया, किसी अफसर को हिन्दी न जानने के कारण निकाला नही गया, अखिल भारतीय नौकरियो के लिए परीक्षाएँ हिन्दी मे नही होने लगी, न अग्रेजी को हटाकर उन परीक्षाओ के लिए हिन्दी को एकमात्र माध्यम बनाने का फैसला किया गया, उत्तर-दक्षिण के विद्यालयो में शिक्षा का माध्यम हिन्दी नही बनी, किसी भी केन्द्रीय मन्त्रालय ने अपने कागज़-पत्तर हिन्दी में तैयार करना नहीं शुरू किया, न इस तरह के कागज़-पत्तर केन्द्र से राज्यो को भेजे गए, तमिलनाडु या बगाल से अग्रेजी मे लिखकर भेजा हुआ कोई कागज दिल्ली से वापस नही किया गया, कांग्रेस के प्रधान श्री कामराज के तमिल मे ही बोलने पर कहीं हिन्दी-जनता ने प्रदर्शन नही किया, फिर भी तमिलनाडु में उत्पात खड़ा हो गया।

केन्द्रीय सरकार मे उत्तर-दक्षिण, हिन्दी-अहिन्दी सभी प्रदेशो के लोग हैं। इस सरकार का कोई भी काम सिर्फ हिन्दीभाषी जनता का काम नहीं माना

जाता। फिर भी अगर कोई ऐसा काम हुआ हो जिससे अंग्रेज़ी की गौरवमय स्थिति को धक्का लगा हो तो मैं जानना चाहता हूँ कि वह काम कौन-सा है। सन् '६५ में हिन्दी को—कागज़ पर, दिखावे के लिए—राष्ट्रभाषा बनाने का फ़ैसला सोलह साल पहले किया गया था। फ़ैसला करनेवाले उत्तर-दक्षिणवाले दोनों थे। फिर अचानक अहिन्दी भाषियों पर हिन्दी आज कैसे लाद दी गई ?

कुछ लोगों का कहना है कि भारत के सभी राज्यों की भाषाओं को बराबरी का दर्जा दे दिया जाय। मैं कहता हूँ शौक से दीजिए। लेकिन आप जिस पार्टी में भी हों, उसका राजनीतिक काम दस बारह भाषाओं में करके दिखाइए। जो पार्टियाँ अपना केन्द्रीय काम एक भाषा में करती हों, उन्हें कोई हक नहीं है कि वे केन्द्र में दस भाषाएँ चलाने की बात करें।

कुछ बुद्धिमान नेता यह राय देते हैं कि राज्यों में वहीं की भाषाएँ चलें लेकिन केन्द्र में अंग्रेज़ी चले क्योंकि हिन्दी को अभी और विकसित होना है। इसका मतलब यह हुआ कि उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश आदि के राजकाज के लिए तो हिन्दी विकसित है, केवल केन्द्रीय राजकाज के लिए वह अविकसित है। मैं जानना चाहता हूँ कि उत्तर प्रदेश और केन्द्र के राजकाज में वह कौन-सा गुणात्मक अन्तर है जिससे हिन्दी एक जगह विकसित मानी जाती है और दूसरी जगह अविकसित !

असलियत यह है कि अंग्रेज़ी को देश में कायम रखने के लिए हर दलील जायज़ है। अंग्रेज़ी के जरिये हमारा अफ़सर वर्ग साहब बनकर जनता पर हुकूमत करता है। और हर पार्टी के अन्दर अंग्रेज़ी के कारण एक ऊँचे पाये का नेता है जिसे अपने महान् विचार प्रकट करने में किसी भारतीय भाषा को माध्यम बनाते हुए बड़ी कठिनाई होती है। दूसरा नेता छोटे दर्जे का केवल भारतीय भाषाएँ जाननेवाला है। अंग्रेज़ी के जरिये अफ़सर और जनता, साहब और गुलाम, बड़ा आदमी और छोटा आदमी—दो वर्गों में सारे देश को बाँटने में सहूलियत होती है। जो लोग कहते हैं कि अंग्रेज़ी के रहने से राष्ट्रीय एकता कायम रहती है, उनका मतलब यही होता है कि उसके जरिये काले साहबों की एकता कायम रहती है। इस एकता के कारण आम जनता और हुकूमत के बीच कितना बड़ा फ़ासला कायम रहता है, इसकी चिन्ता उन्हें नहीं होती।

अब यह बिलकुल स्पष्ट है कि लड़ाई तमिल या बंगला के अधिकारों के लिए नहीं है। लड़ाई है अंग्रेज़ी के बेजा अधिकारों की रक्षा के लिए। तमिलनाडु के जिन विद्यालयों में तमिल को शिक्षा का माध्यम बनाया गया उन्हें बन्द कर देना पड़ा। आंध्र के शासकों का कहना है कि तेलुगु को राजभाषा बनाने में दस साल लगेंगे। इससे क्या साबित होता है ? क्या हिन्दी राष्ट्रभाषा बनकर तमिल और तेलुगु के अधिकार छीने ले रही है ? हकीकत यह है कि आंध्र और तमिलनाडु में राजभाषा अंग्रेज़ी है और उसे हटाने के बदले प्रदेश प्रेमी सज्जन हिन्दी-विरोधी आन्दोलन चला रहे हैं !

केन्द्र में अंग्रेजी और प्रदेश में अंग्रेजी—दोनों जगह के तार आपस में जुड़े हुए हैं। जो केन्द्र में अंग्रेजी हटाने का विरोधी है वह प्रदेश में भी उसे नहीं हटाना चाहता। बात बिलकुल स्वाभाविक है। तमिलनाडु में रहनेवाला जो गृहस्थ अपने बेटे को ऑल इंडिया सर्विस में अफसर बनाना चाहता है वह उसके लिए तमिल को शिक्षा का माध्यम क्यों बनाए? प्रदेश में हर स्तर पर वहाँ की भाषा चालू हो जाय तो होनहार नौजवानों को अंग्रेजी लिखने-बोलने में कठिनाई न होगी? अंग्रेजी कौन ज्यादा अच्छी बोलेगा—वह जिसकी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रही है या वह जो शिक्षा प्रादेशिक भाषा में पाता रहा है? इसीलिए गुजरात में आन्दोलन हो रहा है कि अंग्रेजी की शिक्षा को वही दर्जा दिया जाय जो और राज्यों म उसे प्राप्त है।

जब तक केन्द्र की राजभाषा अंग्रेजी है तब तक प्रदेशों में वहाँ की भाषाएँ पूरी तरह राजभाषा बन नहीं सकती। बेटा इंजीनियर बनेगा, लोकसभा का सदस्य बनेगा, कहीं का राज्यपाल बनेगा, कलक्टर या कमिश्नर बनेगा। यह सब बनने-बनाने का काम अंग्रेजी से होगा या तमिल और मराठी से? होनहार नौजवानों के माता-पिता क्या मूर्ख हैं जो प्रादेशिक भाषा में शिक्षा देकर उनका अखिल भारतीय भविष्य नष्ट करेंगे?

इसलिए वे नेकदिल नेता, जो भाषा-समस्या सुलझाने के लिए यह सुझाव पेश करते हैं कि राज्यों में तुरन्त वहाँ की भाषाओं को राजभाषा बनाया जाय और केन्द्र में अंग्रेजी को बहुत धीरे-धीरे हटाया जाय, बहुत भारी भ्रम में हैं। स्वाधीन भारत में शिक्षा का महान् उद्देश्य अब भी अखिल भारतीय नौकरियाँ प्राप्त करना है। बेटी का ब्याह आई० ए० एस० अफसर से हो, मध्यवर्गीय बाप की यह सबसे बड़ी तमन्ना होती है। प्रदेशों म शिक्षा का संगठन इन्हीं अखिल भारतीय नौकरियों को लक्ष्य बनाकर होना है। इसलिए जब तक केन्द्र में अंग्रेजी रहेगी जब तक अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेजी का मौजूदा रोबदाब रहेगा, तब तक प्रदेशों म भी अंग्रेजी हटाई न जाएगी। जो सचमुच अंग्रेजी हटाकर प्रादेशिक भाषाओं को राजभाषा बनाना चाहते हैं, वे केन्द्र में अंग्रेजी के समर्थक हो ही नहीं सकते।

सरकार की बात जाने दीजिए। मैं उस अखिल भारतीय पार्टी का नाम जानना चाहता हूँ जिसकी प्रादेशिक शाखाएँ अपना सारा काम भारतीय भाषाओं में करती हैं और जो केन्द्र में अंग्रेजी हटाकर धीरे-धीरे हिन्दी लाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

भाषावार राज्यों के पुनर्गठन का आन्दोलन चला। इस आन्दोलन में यह जोरदार आवाज नहीं सुनाई दी कि प्रदेशों में अंग्रेजी हटाई जाय, प्रादेशिक भाषा को राजभाषा बनाया जाय। इसका क्या कारण है? कारण यह है कि भाषावार राज्य बनाने में प्रादेशिक पूंजीपतियों का भी स्वार्थ था, वे अपने लिए अलग बाजार कायम करना चाहते थे, उन्हें प्रादेशिक भाषाओं से कोई मतलब

भाषा की समस्या और राष्ट्रीय विघटन।

मोहब्बत न थी। प्रगतिशील नेताओ ने उनका साथ दिया, ठीक किया। लेकिन प्रादेशिक भाषाओ को शिक्षा का माध्यम बनाया जाय, इसके लिए वे कोई सशक्त आन्दोलन नही कर सके। क्यो ? आज भी प्रस्ताव पास करने के अलावा प्रदेशो मे अंग्रेजी हटाने के लिए कोई आन्दोलन नही चलाया जा रहा, न कोई आन्दोलन चलाने का कार्यक्रम है। क्यों ? प्रदेशो मे अंग्रेजी हटाने के लिए भाषावार प्रान्त आन्दोलन जैसी कोई चीज सामने क्यो नही है ? इसलिए कि प्रादेशिक पूँजीपतियो का साथ देते हुए बहुत से प्रगतिशील नेता भी भटकाव के शिकार हो गए है। उन्होंने प्रादेशिक भाषाओ के लिए आन्दोलन नही किया, राज्यो की भौगोलिक सीमाओं के लिए मरे खपे। उन्होने प्रादेशिकता के आन्दोलन मे राष्ट्रीय एकता की आवाज बुलन्द नही की। उसी का नतीजा है कि आज वे प्रदेशो मे तो *अंग्रेजी हटाने की बात करते हैं लेकिन केन्द्र मे काफी दिन तक अंग्रेजी कायम* रखने की बात सोचते हैं। नतीजा यह होता है कि अंग्रेजी न केन्द्र से हटती है, न प्रदेशो से। हिन्दी के लिए जो सही माँगें हैं उन्हे पेश करने का काम उन्होंने *श्री मुरारजी भाई और जनसघ के नेताओ को सौंप दिया है। उनकी ढिलाई से* प्रतिक्रियावादी नेता फायदा उठा रहे हैं, यह देखने के बदले वे प्रसन्न होकर फतवा देते हैं—तुरन्त अंग्रेजी हटाने का नारा मुरारजी और सघियो का है। *आश्चर्य की बात है कि सयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन मे जनसघ के साथ काम* करते हुए अनेक प्रगतिशील नेताओ को जरा भी तकलीफ नही हुई। अब केन्द्र से अंग्रेजी हटाने के सवाल पर वे जनसघ का हौवा खडा करते हैं।

कुछ दिन पहले बगाल मे प्रगतिशील और अप्रगतिशील सभी दलो ने हिन्दी चालू न करने के लिए एकमत होकर प्रस्ताव पास किया। तमिलनाडु म द्रविड मुन्नेत्र कळगम से लेकर केन्द्र-मन्त्रियो तक अंग्रेजी की सुरक्षा के लिए एकमत हैं। *केरल मे 'राइवन कम्युनिस्ट' श्री नम्बूद्रीपाद मुस्लिम लीग से साँठ गाँठ करने* मे दत्तचित्त हैं। भाषा के प्रश्न पर जहर उगलनेवाले श्री फ्रैंक ऐन्टनी के साथ कुछ प्रगतिशील नेताओ ने एक ही बयान पर हस्ताक्षर किये हैं। प्रदेशो मे अंग्रेजी के पक्ष मे प्रगतिशील अप्रगतिशील एक हो सकते हैं। केवल केन्द्र में अंग्रेजी हटाने के सवाल पर मुरारजी भाई और जनसघ मे सावधान रहना चाहिए।

तमिलनाडु मे भाषा का आन्दोलन प्रतिक्रियावादियो के हाथ म था। उन्होने जनता के तमिल प्रेम से लाभ उठाकर पुस्तकालयो, स्टेशनो और डाकखानो मे आग लगाई। खूब समझ लीजिए यह गृहयुद्ध की आग है। उत्तर में मुरारजी भाई आदि अंग्रेजी हटाने का आन्दोलन अपने हाथ मे ले रहे हैं। प्रगतिशील *नेता टुकुर-टुकुर देख रहे हैं। अंग्रेजी हटाने का आन्दोलन अपने हाथ में न लेकर* वे उसे प्रतिक्रियावादियो को सौंप रहे हैं।

प्रगतिशील नेता बहुत नेक सलाह देते हैं कि हिन्दी भाषी जनता को अन्ध राष्ट्रवाद का शिकार न होना चाहिए। सही बात है। हिन्दी जनता का राष्ट्रवाद कैसे जाहिर होता है ? जो लोग समझते हैं कि सारे देश मे हिन्दी वैसे ही

चलेगी जैसे ब्रिटेन में अंग्रेज़ी चलती है, यानी जो भारतीय भाषाओं को मिटाना चाहते हैं और राष्ट्रीय एकता का मतलब यह लगाते हैं कि और सब भारतीय भाषाएँ मिट जाएँ, उनकी जगह हिन्दी ही रहे, वे अन्ध राष्ट्रवादी हैं। किन्तु हिन्दी प्रदेशों में किसी ने यह माँग नहीं की कि तमिलनाडु में तमिल को शिक्षा का माध्यम न बनाया जाय, यह माँग नहीं की कि वहाँ या बंगाल या महाराष्ट्र में हर स्तर पर हिन्दी चलाई जाय। इसके विपरीत हुआ यह है कि सभी दलों के नेता प्रादेशिक भाषाओं को उनके पूर्ण अधिकार देने के पक्ष में हैं। माँग है अंग्रेज़ी को हटाने की, न कि अहिन्दी भाषाओं को दबाने की। इसलिए केन्द्र से अंग्रेज़ी को हटाने के सवाल पर हिन्दी साम्राज्यवाद का भय दिखाना वास्तव में अंग्रेज़ी की सुरक्षा के लिए बहुत घटिया किस्म की वकालत करना है।

सरकार क्या करेगी और दूसरी पार्टियाँ क्या करेंगी, ये बड़ी-बड़ी बातें हैं जिन पर इस लेख में कुछ नहीं कहना। मेरी माँग भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं से है। आप अपना सारा प्रादेशिक काम भारतीय भाषाओं में कीजिए, एक महीने के अन्दर प्रदेशों में अंग्रेज़ी की जड़ काट दीजिए। केन्द्र में अपना काम चाहे हिन्दी में कीजिए चाहे हिन्दी को बिलकुल न रखिए बल्कि वह काम दस बारह-चौदह अहिन्दी भाषाओं में कीजिए, अगले छह महीनों में अपने केन्द्र से अंग्रेज़ी का पूर्ण बहिष्कार कीजिए। ऐसा आप कर लें तो मैं समझूँगा कि भारत की भाषा-समस्या हल करने में आपने बहुत बड़ी सक्रिय सहायता दी है। वरना देश जिस विघटन की ओर बढ़ रहा है, उसमें सबसे पहली चोट आप पर होगी और आप यह कहने की हालत में भी न होंगे कि चोट गलत पड़ी।

मध्यवर्ग का सहारा लेने के लिए फासिस्टवाद भाषा और संस्कृति का रक्षक बनकर सामने आता है। हिटलर जर्मन भाषा और जर्मन संस्कृति का बहुत बड़ा समर्थक बनकर रंगमंच पर आया था। तमिलनाडु में तमिल-रक्षा का भार द्रविड मुन्नेत्र कळगम पर, उत्तर में हिन्दी-रक्षा का भार जनसंघ पर और दोनों की रक्षा का भार महान् गणराज्य संयुक्त राष्ट्र अमरीका पर! भारत का भावी मानचित्र आपको कैसा दिखाई देता है?

पहले एक देश में दो देश बने, भारत और पाकिस्तान। अब भारत में दो नये राष्ट्रों का निर्माण होगा, एक हिन्दी राज्य, दूसरा अहिन्दी-राज्य। लेकिन विघटन यहीं समाप्त न होगा। असम में दंगे हिन्दी-भाषियों के खिलाफ न हुए थे। बम्बई में संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन के दौरान अन्ध राष्ट्रवादियों का क्रोध हिन्दी भाषियों पर न बरसा था। मारे गये थे बंगाली और गुजराती, दोनों अहिन्दी भाषी। तमिलनाडु और आन्ध्र के अनेक शिक्षित जनों में एक-दूसरे के प्रति वही भाव हैं, जो असमी-बंगालियों, गुजराती-मराठी-भाषियों में हैं। कश्मीर और नागा प्रदेश में अलगाव के आन्दोलन से सभी लोग परिचित हैं। द्रविड मुन्नेत्र कळगम मूलत: तमिलनाडु को अलग करने का आन्दोलन करता रहा है, हिन्दी विरोध को भड़काने और उससे लाभ उठाने की सूझ बाद की है। मुस्लिम

लीग के 'डायरेक्ट ऐक्शन' से त्रस्त होकर देशप्रेमी नेताओं ने देश का विभाजन स्वीकार किया। उससे साम्प्रदायिक समस्या सुलझ गई ? साम्राज्यवाद को अपने फौजी अड्डे बनाने का मौका नहीं मिला ? दीजिए तमिलनाडु को आत्म-निर्णय का अधिकार ! कीजिए कश्मीर और नागा प्रदेश को भारत से अलग ! कहिए कि भारत की अखंडता का नारा जनसंघ का नारा है ! आपके आत्म-निर्णय के अधिकार से साम्राज्यवाद को लाभ होता है या भारत की जनता को ?

भारत के मजदूर वर्ग का संगठन प्रदेशों में बँटेगा नहीं, वह अखिल भारतीय स्तर पर होगा। विकास की पंचवर्षीय योजनाएँ अखिल भारतीय स्तर पर बनेंगी और उसी पर सफल होंगी। केरल में अन्न की कमी या बेकारी अन्य राज्यों और केन्द्र के सहयोग से ही दूर होगी। राष्ट्रीय विघटन का अर्थ है सबकी हानि, साम्राज्यवाद का लाभ। राष्ट्रीय एकता का अर्थ है सबका लाभ, साम्राज्यवाद की हानि।

यह राष्ट्रीय एकता अब अंग्रेजी जाननेवाले डेढ़ फी सदी लोगों के सहारे कायम नहीं रह सकती। अगर केन्द्र में हिन्दी चलाना साम्राज्यवाद है तो अंग्रेजी कायम रखना और भी बड़ा अन्याय है। हिन्दी भाषी जनता इसे कभी सहन न करेगी। स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू के चाहे जितने आश्वासनों को कानून का रूप दे दीजिए, वे अंग्रेजी की रक्षा नहीं कर सकते।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का आन्दोलन यहाँ उन्नीसवीं सदी से हो रहा है। गांधीजी ने हिन्दी-प्रचार को राष्ट्रीय आन्दोलन का अभिन्न अंग बनाया। भारत को स्वाधीन हुए अठारह साल हो गए। अब और कितने धीरे ? कुछ रफ्तार निश्चित कर दीजिए। मालूम तो हो जाय कि अढ़ाई कोस नौ दिन में तै करने हैं या अठारह दिन में।

एक अजीब बात हिन्दी के पिछड़ेपन के बारे में है। लेनिन ने ज़ारशाही रूस की भाषाओं को पिछड़ा हुआ न पाया। उन्होंने गैर रूसी भाषाओं को राजकाज के लिए माध्यम बनने दिया। चीनी भाषा पिछड़ी हुई नहीं है, माओत्से तुंग और चीनी सरकार के काम आती है। सिर्फ हिन्दी ऐसी पिछड़ी हुई भाषा है और भारत के बुद्धिजीवी ऐसे महान् चिन्तक हैं कि अंग्रेजी के बिना न तो केन्द्रीय सरकार का काम चल सकता है, न किसी पार्टी का अपना राजनीतिक कार्य, विशेषकर उसका केन्द्रीय राजनीतिक कार्य ! यह पिछड़ेपन की दलील न केवल हिन्दी भाषी जाति का अपमान है वरन् अंग्रेजी की गुलामी का सजीव प्रमाणपत्र है।

राज्यों में प्रादेशिक भाषाएँ और केन्द्र में हिन्दी—ये दोनों लक्ष्य एक ही साथ सिद्ध होंगे। ये दोनों लक्ष्य आज सिद्ध हो सकते हैं यदि राजनीतिक पार्टियाँ अपने व्यवहार में इस नीति को अपना लें। कथनी और करनी में भेद होने से कोई समस्या हल नहीं हो सकती। जितना ही विलम्ब होगा, उतना ही विघटन

बढ़ेगा। इसलिए सही नीति के लिए हिम्मत से आन्दोलन करने का समय अभी है, कल न रहेगा।

हिन्दी के लिए धीरे चलो, यह गलत है। कहना चाहिए, और तेज चलो। केन्द्र और राज्यों से एक साथ अंग्रेजी हटाओ—यही नारा सही है।

केन्द्र में आप हिन्दी नहीं चाहते, न रखिए। लेकिन अंग्रेजी न चलेगी। उसकी जगह भारत की एक भाषा चलाइए, चाहे दस भाषाएँ। केन्द्रीय सरकार में जो भाषा-नीति आप चलाना चाहते हों, उसे अपनी पार्टी के व्यवहार में लाइए। इसी से हमें विश्वास होगा कि आप ईमानदारी से भाषा-समस्या हल करना चाहते हैं। वरना बातें बनानेवाले नेताओं की इस देश में कमी नहीं है।

(१९६५)

३५

भाषा की समस्या और मज़दूर वर्ग

समाज की और दूसरी समस्याओं की तरह भाषा की समस्या पर भी साम्राज्यवादियों, भारतीय पूँजीपतियों और मज़दूर वर्ग के विचार अलग-अलग हैं।

अंग्रेज़ों ने इस देश को जीता। लोगों की इच्छा के विरुद्ध शिक्षा और शासन में अंग्रेज़ी चलाई। भारतीय भाषाएँ पिछड़ी हुई हैं, वे न शासनतन्त्र के योग्य हैं, न उनमें आधुनिक शिक्षा दी जा सकती है—यह स्थापना ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के प्रतिनिधि लार्ड मैकाले ने शिक्षा सम्बन्धी अपने प्रसिद्ध लेख में की। अंग्रेज़ों ने विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाली जातियों को आपस में लड़ाया। इस लड़ाई से लाभ उठाकर उन्होंने सभी के ऊपर अंग्रेज़ी का प्रभुत्व कायम रखा। अंग्रेज़ी की यह गुलामी राजनीतिक पराधीनता का ही एक हिस्सा थी।

राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भ काल से अंग्रेज़ी हटाने की माँग स्वाधीनता आन्दोलन का अभिन्न अंग बन गई। गांधीजी ने सितम्बर, १९२१ के 'यंग इंडिया' में लिखा था कि उनके हाथ में तानाशाह की ताकत होती तो वह उसी दिन अंग्रेज़ी में शिक्षा देना बन्द करा देते और जो अध्यापक इस हुक्म को न मानता, उसे वह नौकरी से हटा देते।

अंग्रेज़ी से किसी एक भाषा का नहीं, सारे राष्ट्र का अहित होता है। इस बारे में गांधीजी ने ५ जुलाई, १९२८ के 'यंग इंडिया' में लिखा था कि अंग्रेज़ी ने राष्ट्र की शक्ति का नाश कर दिया है और अंग्रेज़ी बनी रही तो राष्ट्र की आत्मा का नाश हो जायगा।

भारत में प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के जन्मदाता महान् उपन्यासकार प्रेमचन्द ने भाषा की गुलामी के बारे में लिखा था, 'ज़बान की गुलामी ही असली गुलामी है।" (प्रेमचन्द, कुछ विचार, पृ० २२१)।

भारत विभाजित हुआ और स्वाधीन हुआ। आज़ादी मिले एक ही महीना हुआ था कि गांधीजी ने केन्द्र और प्रान्तों से एक साथ अंग्रेज़ी हटाने की माँग की। २१ सितम्बर, १९४७ के 'हरिजन' में उन्होंने लिखा कि "प्रान्तीय सरकारों

के लिए ऐसे कर्मचारी रखना बिलकुल आसान होना चाहिए जो प्रान्तीय भाषाओं और नागरी या उर्दू लिपि में लिखी जानेवाली अन्तर्प्रान्तीय भाषा हिन्दुस्तानी में सारा काम कर सकें।"

गांधीजी की नीति थी कि केन्द्र और राज्यों से तुरन्त और एक साथ अंग्रेज़ी हटाई जाय। इसलिए उन्होंने प्रान्तीय सरकारों को सलाह दी थी कि वे ऐसे कर्मचारी रखें जो प्रान्तीय भाषा के साथ हिन्दुस्तानी में भी काम कर सकें।

अंग्रेज़ी हटाने का काम पन्द्रह साल के लिए टाल दिया जाय, इस नीति के वह विरुद्ध थे। जब अंग्रेज़ी से नुकसान होता है, तब उसे क्यों सालभर भी चलने दिया जाय? उनकी राय थी, "इस आवश्यक तब्दीली में, जो एक-एक दिन बीतता है, उससे राष्ट्र की सांस्कृतिक हानि होती है।"

जो लोग कहते थे कि तुरन्त परिवर्तन असम्भव है उनके बारे में गांधीजी का मत यह था, "हमारे सेक्रेटेरियटों में भी, कुछ समय बीतने पर तब्दीली होगी, दिमागी काहिली के अलावा और कुछ नहीं है।"

गांधीजी की ललकार थी—दिमागी काहिली खत्म करो, प्रान्तों और दिल्ली से अंग्रेज़ी को निकालो, भारतीय भाषाओं का व्यवहार करो।

प्रान्तीय सरकारें केन्द्र से अंग्रेज़ी द्वारा सम्पर्क कायम न रखेंगी, इस बारे में उन्होंने लिखा था, "प्रान्तों का केन्द्र से काम पड़ेगा। यह काम वे अंग्रेज़ी में करने की हिम्मत न करेंगे। केन्द्र में यह जल्द समझने की बुद्धि होनी चाहिए कि वह सांस्कृतिक रूप में राष्ट्र पर मुट्ठी भर भारतवासियों का बोझ न डालेगा। ये लोग इतने आलसी हैं कि उस भाषा को सीखते नहीं जो आसानी से सारे भारत की आम भाषा बन सकती है और जिससे जनता के किसी हिस्से या पार्टी को नाखुशी न होगी।"

गांधीजी की भाषा-सम्बन्धी नीति का निचोड़ यह था, 'अंग्रेज़ी ने जो सांस्कृतिक डकैती की है, उसे खत्म किया जाय।"

केन्द्र और प्रान्तों से तुरन्त अंग्रेज़ी हटाने के बारे में गांधीजी की ज़ोरदार आवाज़ हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की सच्ची और सही आवाज़ थी। वह मज़दूर वर्ग के हित में थी।

लेकिन सांस्कृतिक डकैती जारी तभी रह सकती थी जब एक ओर जनता को तसल्ली दी जाय कि अंग्रेज़ी हटा दी जाएगी, दूसरी ओर कुछ ऐसे कारण ढूंढ़ निकाले जाएं जिससे अंग्रेज़ी कायम रहे। भारतीय पूंजीवाद एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक और राजनीतिक दबाव का विरोध करता था, दूसरी ओर अपने विकास के लिए उससे सहायता भी चाहता था। भारत में ब्रिटिश पूंजी की आमद और ज्यादा हुई, मुनाफा गया विलायत को, साथ ही देश में उद्योग धन्धों का निर्माण भी हुआ। पूंजीवाद की इस दुरंगी नीति के अनुरूप उसकी भाषा नीति थी। भारतीय पूंजीवाद की प्रमुख पार्टी—कांग्रेस

—ने यह नीति निकाली कि अंग्रेजी हटाने का बराबर दम भरते रहो लेकिन अमल में किसी-न-किसी बहाने अंग्रेजी कायम रखो।

पहला बहाना यह था कि हिन्दी पिछड़ी हुई भाषा है। वह अंग्रेजी की जगह ले, इसके लिए उसे विकसित होने का अवसर देना चाहिए। विकास के लिए पन्द्रह साल का अवसर दिया गया।

यह शुद्ध बहाना था। लोकसभा में सदस्यों को जीव-विज्ञान या भौतिकी पर बहस न करनी थी। लेकिन हिन्दी को समृद्ध करने के लिए बड़े-बड़े कोश रचे जाने लगे। किसी ने यह न देखा कि इन कोशों में कितने पुराने ऐसे शब्द दोहराए जा रहे हैं जो हिन्दी में सन् '४७ से पहले ही प्रचलित थे। किसी ने लोकसभा में यह माँग न की कि हिन्दी कितनी पिछड़ी हुई है,—इसकी जाँच के लिए कम-से-कम एक कमीशन तो बिठा दिया जाय।

अंग्रेजी कायम रखने के लिए दूसरा कारण यह खोज निकाला गया कि वह आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भाषा है। अंग्रेजी चली गई तो देश आर्थिक और वैज्ञानिक प्रगति में पिछड़ जाएगा।

अंग्रेजी कायम रखने के पीछे एक जानी-बूझी वर्ग-नीति थी। इसे जनता के गले उतारने का काम किया भारत के लोकप्रिय नेता स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू ने। अंग्रेजी को निकालने और साथ ही कायम रखने की नीति उन्होंने सितम्बर, १९४९ में संविधान सभा में इस तरह पेश की

"अंग्रेजी चाहे जितनी महत्वपूर्ण भाषा हो, हम यह बर्दाश्त नहीं कर सकते कि हमारे देश में कुछ तो अंग्रेजी पढ़े-लिखे शरीफ लोग हों और आम जनता अंग्रेजी से महरूम रहे। इसलिए हमारी अपनी भाषा होनी चाहिए। लेकिन आप इस बात को प्रस्ताव में चाहे लिखें, चाहे न लिखें, अंग्रेजी लाज़मी तौर से *भारत में बहुत महत्वपूर्ण भाषा बनकर रहेगी जिसे बहुत-से लोग सीखेंगे* और शायद उन्हें उसे जबरन सीखना होगा।"

पाठक १५ सितम्बर, १९४९ के अखबारों में नेहरूजी का यह भाषण पढ़ सकते हैं।

नेहरूजी ने अपने भाषण में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के भाषा-सम्बन्धी विचारों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। फिर अंग्रेजी हटाने की गांधी-नीति से ठीक उल्टी दिशा में चल दिए।

नेहरूजी भारी जनतन्त्रवादी थे। केरल की जनतांत्रिक साम्यवादी सरकार के खिलाफ जेहाद की शुरुआत भी उन्होंने ही की थी।

नेहरूवाद और मार्क्सवाद पर्यायवाची शब्द नहीं हैं।

भारतीय पूँजीवाद की पार्टी—कांग्रेस—न तो राज्यों से, और न केन्द्र से अंग्रेजी हटाने में समर्थ हुई। उल्टा उसकी नीति से अंग्रेजी और अंग्रेजियत की जड़ें पहले से भी ज्यादा मजबूत हो गईं।

भारत में भाषावार राज्य बनाने का आन्दोलन चला, हर प्रदेश में उसकी

शिक्षा और संस्कृति का विकास उनकी भाषा के माध्यम से हो, यह माँग सही थी। लेकिन आन्दोलन में जितना ज़ोर राज्यों की सीमाओं और क्षेत्रफल पर दिया गया, उतना प्रादेशिक भाषाओं पर नहीं। यह भी पूँजीवादी नीति का ही फल था। नतीजा यह हुआ कि भाषावार राज्य बन गए और इन राज्यों में अंग्रेज़ी कायम रही।

भाषावार राज्यों का आन्दोलन इस तरह चला कि लोगों के सामने प्रादेशिकता मुख्य और राष्ट्रीय एकता गौण हो गई। इस अलगाव की भावना से लाभ हुआ अंग्रेज़ी को। गुजराती और मराठी-भाषी आपस में लड़े, अंग्रेज़ी के समर्थन में दोनों के नेता—विशेष रूप से वामपक्षी नेता—एक साथ रहे। असम में भाषा के सवाल को लेकर भयानक दंगे हुए। लड़ाई हुई असमिया-बँगला में। दोनों के ऊपर कायम रही अंग्रेज़ी।

अंग्रेज़ी कायम रखने के लिए एक नया बहाना और मिला हिन्दीवाले अहिन्दीवालों को दबाना चाहते हैं। द्रविड़ कड़गम ने नारा दिया कि तमिलनाडु भारत से अलग हो। उसने प्रचार किया कि २६ जनवरी, १९६५ से हिन्दी राष्ट्रभाषा हो जाएगी और तमिल का नाश कर देगी। तमिलनाडु के प्रतिक्रियावादी नेताओं ने जनता के सहज तमिलप्रेम से लाभ उठाकर आफ़त बरपा कर दी। जनतन्त्र और राष्ट्रीय एकता की रक्षा के लिए अंग्रेज़ी को कायम रखना आवश्यक हो गया।

सन् '६५ में अंग्रेज़ी हट न जाय, इसलिए दिल्ली सरकार ने यह क़ानून बना दिया था कि अंग्रेज़ी का भी चलन रहेगा। व्यवहार में देखा यह गया कि अंग्रेज़ी का ही चलन रहेगा। इस तरह भारत की संविधान सभा के फ़ैसले को बड़े वैधानिक ढंग से भारत के जनतन्त्र-प्रेमियों ने पैरों तले रौंदा।

पूँजीपतियों से अलग, अपने आर्थिक और राजनीतिक हितों के अनुकूल, भाषासमस्या पर मज़दूर वर्ग का अपना दृष्टिकोण होना चाहिए। मज़दूर वर्ग समाज का सबसे क्रान्तिकारी वर्ग है। उसे साम्राज्यवादी विरासत और हमारी गुलामी की प्रतीक अंग्रेज़ी के खिलाफ़ सबसे आगे बढ़कर लड़ना चाहिए। अंग्रेज़ी को हटाने के मामले में वह पूँजीपतियों की टालमटोल नीति का अनुसरण नहीं कर सकता। वह इस दुरंगी नीति पर नहीं चल सकता कि मुँह से कहे, 'अंग्रेज़ी हटाओ', अमल में उसे कायम रखे। वह इस दलील को नहीं मान सकता कि भारत की भाषाएँ पिछड़ी हुई हैं, इसलिए अंग्रेज़ी कायम रहनी चाहिए। उसके सामने लेनिन की मिसाल है जिन्होंने रूसी साम्राज्यवाद का दबाव खत्म करने के लिए खुद अपनी मातृभाषा रूसी को राजभाषा पद से हटा दिया था। फिर विदेशी भाषा अंग्रेज़ी को हटाने में किसी को संकोच क्यों हो?

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी ने किसी जाति की भाषा को पिछड़ा हुआ न माना। उसने सोवियत प्रजातन्त्रों में ग़ैर रूसी भाषाओं को राजभाषा

बनाया। हिन्दी पिछड़ी हुई है, उसे अभी विकसित होना है या जनता के निकट पहुँचना है, यह मार्क्सवादियों का तर्क नहीं हो सकता।

मजदूर वर्ग अखिल भारतीय स्तर पर अपनी एकता अंग्रेजी के माध्यम से कायम नहीं कर सकता। यह एकता किसी भारतीय भाषा के द्वारा ही कायम हो सकती है। वह भारतीय भाषा मजदूर वर्ग के नेताओं के अनुसार हिन्दी है। मजदूर वर्ग की एकता खुद उसके लिए ही नहीं, सारे राष्ट्र के लिए जरूरी है। बंगाल-असम में झगड़े कराते हैं पूँजीपति। उनमें एकता स्थापित करता है मजदूर वर्ग। हिन्दी-अहिन्दी के संघर्ष को रोकने की ताकत मजदूर वर्ग में ही है।

मजदूर वर्ग के साथी हैं किसान। किसान-मजदूर-एकता ही वह क्रान्तिकारी शक्ति है जो देश को सामाजिक प्रगति की राह पर आगे बढ़ा सकती है। किसान अपना अखिल भारतीय संगठन अंग्रेजी के द्वारा मजबूत नहीं कर सकते। कम्युनिस्ट पार्टी खुद अपने अन्दर बहुत-से किसान-मजदूरों को जगह नहीं दे सकती, क्योंकि अंग्रेजी का प्रभुत्व रहने पर वे न तो पार्टी की ऊँची समितियों के सदस्य हो सकेंगे, न उनकी बहस में ठीक से भाग ले सकेंगे।

इसीलिए मजदूर वर्ग के हित में एक ही भाषा-नीति हो सकती है—राज्यों से और केन्द्र से, दोनों जगह से एक साथ अंग्रेजी हटाओ।

इस नीति पर मजदूर वर्ग सारे देश को तभी चला सकता है, जब उसकी अपनी पार्टी—कम्युनिस्ट पार्टी—के दफ्तरों से अंग्रेजी निकले। अंग्रेजी का जुआ खुद अपने कन्धों पर लादकर कम्युनिस्ट पार्टी देश को अंग्रेजी की गुलामी से आजाद नहीं करा सकती।

अब देखना चाहिए कि मजदूर वर्ग की पार्टी और उसके द्वारा संचालित जन-संगठनों में अंग्रेजी की हैसियत क्या है।

स्वर्गीय कामरेड अजय घोष ने सरकारी भाषा-आयोग की रिपोर्ट पर एक नोट लिखा था। उसमें उन्होंने अंग्रेजी की हैसियत के बारे में ये बातें लिखी थीं—

"आज अधिकांश अखिल भारतीय संगठनों का काम अंग्रेजी में होता है। इनमें किसानों और मजदूरों के संगठन भी शामिल हैं। इसका लाजमी नतीजा यह होता है कि मध्यवर्ग और उच्च मध्यवर्ग के सुशिक्षित लोग ही अखिल भारतीय स्तर पर इन संगठनों के बहस-मुबाहसे में भाग ले सकते हैं। अमल में यही लोग इन संगठनों की अखिल भारतीय कार्य-समितियों के सदस्य बन सकते हैं। जिस किसी को भी जन आन्दोलन का जरा भी तजुर्बा होगा, वह जानता होगा, इससे कितनी कठिनाई पैदा होती है।"

इससे स्पष्ट है कि अंग्रेजी के रहते न तो मजदूर संगठन शक्तिशाली हो सकते हैं, न किसान-मजदूर एकता दृढ़ की जा सकती है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में पार्टी के कर्तव्य बतलाते हुए अजय घोष ने लिखा था,

"देश के सभी भागों में जनता को किसी एक भारतीय भाषा का अल्पतम आवश्यक ज्ञान कराना होगा जिससे वह भाषा जल्दी-से-जल्दी केन्द्र (यूनियन) की भाषा बन सके और विभिन्न प्रदेशों की जनता के बीच भी परस्पर आदान-प्रदान का साधन बने। भारत की भाषाओं मे जो भाषा सबसे अधिक बोली और समझी जाती है, वह हिन्दी है और इसी के द्वारा यह काम हो सकता है।"

मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी का हित इस बात मे है कि केन्द्र और प्रदेशों से अंग्रेजी को निकाला जाय। जल्दी-से-जल्दी हिन्दी को भारत सरकार की भाषा तथा पार्टी द्वारा संचालित अखिल भारतीय जन संगठनों की भाषा बनाया जाय।

दो वर्ग, दो उद्देश्य, दो भाषा-नीतियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। उनका भेद आसानी से देखा जा सकता है।

इस समय कम्युनिस्ट पार्टी की नीति क्या है? राज्यों से अंग्रेजी हटाओ, केन्द्र मे आगे चलकर हिन्दी होगी लेकिन फिलहाल वहाँ अंग्रेजी चलने दो।

लालबहादुर शास्त्रीजी और गुलजारीलाल नन्दाजी क्या कहते हैं? वे भी यही कहते हैं। हिन्दी धीरे धीरे आएगी। आएगी जरूर लेकिन अभी तो अंग्रेजी चलने दो। राज्यों मे प्रादेशिक भाषाओं के व्यवहार के लिए उन्होंने संविधान बनने के समय से ही पूरी छूट दे रखी है। अब राज्य उस सुविधा का उपयोग न करें तो इसमें शास्त्रीजी और नन्दाजी का क्या दोष।

इस समय भाषा के सवाल पर कम्युनिस्ट पार्टी की अपनी कोई स्वतन्त्र नीति नहीं है। वह पूँजीवादी पार्टी—कांग्रेस—का पिछलगुआ बनकर चल रही है। योगीन्द्र शर्माजी जैसे कम्युनिस्ट नेता इस पिछलगुएपन की नीति को पार्टी की स्वतन्त्र नीति कहकर हमसे उस पर गर्व करने को कहते हैं। मुझे तो अंग्रेजी कायम रखने की इस मजदूर-विरोधी, राष्ट्र-विरोधी नीति पर शर्म आती है, उसमे गर्व करने की कोई बात नहीं दिखाई देती।

इसके विपरीत अपने एक लेख में मैंने यह नीति रखी है कि पार्टी को केन्द्र और राज्य दोनों से अंग्रेजी हटाने का आन्दोलन करना चाहिए।

योगीन्द्र शर्माजी का कहना है कि यह जोर-जबर्दस्ती वाला हिन्दी राष्ट्रवादी नारा है। वह कहते हैं कि भाषा की समस्या का जनतान्त्रिक समाधान होना चाहिए।

जनतान्त्रिक समाधान वही है जिसे सन् '४६ से भारत सरकार अमल मे लाती रही है। यानी भविष्य मे हिन्दी, वर्तमान में अंग्रेजी। योगीन्द्रजी भी कहते हैं, भविष्य मे हिन्दी ही केन्द्रीय राजभाषा होगी लेकिन अभी अंग्रेजी चलने दो। वह पं० जवाहरलाल नेहरू की तरह अंग्रेजी की निन्दा भी करते हैं। कहते हैं—अंग्रेजी के जरिये जो राष्ट्रीय एकता कायम की जाती है, वह अंग्रेजों के समय की औपनिवेशिक एकता से बढ़कर नहीं है। लेकिन उनका अमली

नारा है अंग्रेज़ी के ज़रिये अभी यह एकता कायम रहने दो।

जैसे सन् '४७ से पहले सर तेजबहादुर सप्रू कहते थे कि अंग्रेजी राज तो खत्म होना चाहिए लेकिन राजे महाराजे नही मानते, अछूत और मुसलमान नही मानते, ऐंग्लोइडियन नही मानते, इसलिए फिलहाल तो अंग्रेजी राज रहेगा ही—वैसे ही सन् '६५ मे यह 'फिलहाल' अंग्रेज़ी चलाने की नीति है।

यदि यह मान लें कि अहिन्दी भाषी जनता अंग्रेजी को नही छोडना चाहती, तो भी अंग्रेजी का कायम रहना जनतान्त्रिक नही कहा जा सकता। यदि अंग्रेजी को हटाना अहिन्दी-भाषियो के साथ अन्याय है, तो उसे कायम रखना हिन्दी-भाषियो के साथ अन्याय है। जनतन्त्र का मतलब यह नही है कि अहिन्दी भाषियो की राय ली जाय और हिन्दी-भाषियो को पूछा ही न जाय।

अहिन्दी भाषियो की राय भी किस जनतान्त्रिक उपाय से मालूम की गई? क्या बसें तोडना और स्टेशन जलाना लोकमत सग्रह का बहुत कारगर तरीका है?

द्रविड कळगम और स्वतन्त्र पार्टी के लोगो ने धुआँधार प्रचार किया कि देश के लिए सबसे बडा खतरा हिन्दी से है। हिन्दी साम्राज्यवाद का हौवा खडा करके कौशल से उन्होने अंग्रेज़ी के साम्राज्यवाद की रक्षा की। लेकिन भारतीय भाषाओं को दबानेवाली भाषा हिन्दी नही अंग्रेजी है।

इस सम्बन्ध मे अजय घोष ने अपने उसी नोट में लिखा था "आज जब लोग कहते हैं कि इस या उस भाषा से खतरा पैदा हो गया है, तब वे भूल जाते है कि देश मे जिस भाषा का सचमुच प्रभुत्व रहा है, वह अंग्रेजी है। यह प्रभुत्व न केवल राजनीतिक क्षेत्र मे रहा है, वरन् सास्कृतिक क्षेत्र मे भी रहा है। वे भूल जाते है कि सास्कृतिक क्षेत्र मे यह प्रभुत्व अब भी बना हुआ है। वे भूल जाते हैं कि भारत के सास्कृतिक विकास मे, हर भारतीय भाषा के विकास मे यह प्रभुत्व ही सबसे बडी बाधा है और इसलिए उसे दूर करना ही सबसे बडा कर्तव्य है।"

इससे ठीक उल्टी राय योगीन्द्र शर्माजी की है। उनकी दलील है कि अंग्रेजी की जगह हिन्दी आई तो भारतीय भाषाओ का दमन होगा। उन्होने जोशीले ढग से अपने लेख मे पूछा है—

"क्या कोई भी सच्चा देशभक्त, सच्चा जनतन्त्र प्रेमी इसको स्वीकार कर सकता है जिस तरह अभी तक—अंग्रेजी भारत की तमाम भाषाओ का दमन और दहन करती रही, उसी तरह उस काम को अब हिन्दी करे?"

उन्होंने यह नहीं बताया कि सविधान की किस धारा के अनुसार हिन्दी तमिलनाडु से तमिल को बाहर कर देगी।

उनकी राय है कि अंग्रेजी की तरह हिन्दी भी तमाम भाषाओ का दमन न करे, इसलिए अंग्रेजी को ही यह दमन करने दिया जाय!

हिन्दी से भारतीय भाषाओ को खतरा है, यह साबित करने के लिए उन्होने

'कम्युनिस्ट' मे प्रकाशित सन् '४६ वाले मेरे पुराने लेख को ढूँढ निकाला है। इस लेख को उन्होंने प्रतिवादी और अराजकतावादी कहा है और उसी से उन्होने हिन्दी का खतरा भी साबित कर दिया है !

सन् '४८ में कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस ने अपने राजनीतिक प्रस्ताव मे भारत के बडे पूँजीपतियो को उत्पीडक वर्ग कहा था। उस स्थापना से यही नतीजा निकलता था कि बडे पूँजीपतियो की सरकार केन्द्रीय राजभाषा के जरिये प्रदेशो का दबाना चाहती है। कम्युनिस्ट पार्टी ने यह मान्यता बदल दी है। क्या योगेन्द्र शर्माजी अभी भी समझते हैं कि सरकार बडे पूँजीपतियो की सरकार है और ये बडे पूँजीपति साम्राज्यवादी हैं ? यदि नही तो बतलाएँ कि हिन्दी के खतरे का ठोस सामाजिक आधार क्या है।

अग्रेजी हटाने का विरोध साम्राज्यवाद के खुले और छिपे समर्थक स्वतन्त्र पार्टी और द्रविड कळगम के नेता करते हैं। हिन्दी द्वारा अहिन्दी भाषाओ के दमन का हौवा वे खडा करते हैं। योगेन्द्र शर्माजी भी उनके प्रचार मे शामिल हो गए हैं।

अग्रेजी कायम रखने के लिए एक विचित्र ढग से विशाल राष्ट्रीय सयुक्त मोर्चा बन गया है। इस मोर्चे मे स्वतन्त्र दल के नेता हैं, द्रविड कळगम वाले हैं। कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी के अनेक नेता भी इसमे हैं। लेकिन यह मोर्चा बना है बालू की भीत पर। उसके पीछे भारत के किसानो और मजदूरो की ताकत नही है। वह ज्यादातर बाबू लोगों का सयुक्त मोर्चा है। इनमे कुछ तो अग्रेजी पढे हैं और बाकी बिना पढे ही उसका समर्थन करते हैं। खास बात यह है कि कम्युनिस्ट पार्टी की दोनों शाखाएँ इस सयुक्त मोर्चे मे शामिल हैं।

अहिन्दी-भाषी क्षेत्र के बाबुओ का डर है कि अग्रेजी चली गई तो अखिल भारतीय नौकरियाँ हिन्दीवाले हथिया लेंगे। अखिल भारतीय नौकरियो की समस्या पूरे मध्यवर्ग की समस्या नही है। कुछ थोडे-से तेज लोग—जो हर मानी मे तेज होते हैं—ये नौकरियाँ पाते हैं। बाकी उम्मीदवार नाउम्मीद होकर कही मास्टरी या क्लर्की करते हैं या बेकारी मे चप्पलें चटकाते हुए घूमते हैं। कम्युनिस्ट पार्टी अपनी भाषा नीति इन मुट्ठी-भर पढे-लिखे बाबुओ की राय से निर्धारित नही करती। उसके सामने होना चाहिए किसानो और मजदूरों का हित।

वास्तव मे मध्यवर्ग का हित भी अग्रेजी कायम रखने मे नहीं है। निन्यानबे फी सदी अग्रेजी-पढे बाबुओ को छोटी मोटी नौकरियो से ही सन्तोष करना पडता है। लाखो की तादाद मे वे हर साल अग्रेजी के कारण फेल होते है। अग्रेजी के कारण शिक्षा उनके लिए हर तरह से महँगी पडती है। अखिल भारतीय नौकरियो के लिए अग्रेजी आवश्यक है, इसलिए राज्यो मे भी अग्रेजी चलती है। फल भुगतना पडता है तमाम निम्न मध्यवर्ग को गरीब जनता को।

भाषा की समस्या और मजदूर वर्ग।

जब तक केन्द्र मे अंग्रेज़ी चलती है, तब तक राज्यो से अंग्रेज़ी की जड नहीं कट सकती। राज्यो में अंग्रेज़ी की पत्तियाँ नोचने से उसकी केन्द्रीय जड पर कोई असर न पडेगा। पिछले सोलह साल का अनुभव यही सिद्ध करता है। केन्द्र के कारण ही राज्यो मे अंग्रेज़ी का प्रभुत्व है। इससे तमिलनाडु मे अभी तक तमिल उच्च शिक्षा का माध्यम नही बन पाई।

जो लोग अखिल भारतीय नौकरियों के उम्मीदवार हैं, उनका भय आसानी से दूर किया जा सकता है। यह नियम बनाना चाहिए कि अखिल भारतीय नौकरियो के लिए एक अहिन्दी भाषा सीखना अनिवार्य होगा। अहिन्दी भाषा का समुचित ज्ञान अनिवार्य कर देने से हिन्दीवालो को कोई विशेष सुविधा न मिलेगी। पार्टी इस नियम के लिए और अंग्रेज़ी हटाने के लिए एक साथ आन्दोलन कर सकती है। लेकिन नौकरियो की समस्या हल न कर पाने के कारण केन्द्र मे अंग्रेज़ी कायम रखने की बात करना मार्क्सवाद को ठुकराकर मध्यवर्ग के बाबुओं का दृष्टिकोण अपनाना है।

अंग्रेज़ी कायम रखने मे भारत के किसी वर्ग का हित नही है—न मज़दूर वर्ग का, न किसानो का, न शहरो के मध्यवर्ग का। अंग्रेज़ी से न अहिन्दी प्रदेश का हित होता है, न हिन्दी प्रदेश का। उससे केवल साम्राज्यवादियो का हित होता है। ब्रिटिश और अमरीकी पूँजीपति हमारे अर्थतन्त्र पर हर तरह से प्रभाव डालते हैं। उनके आर्थिक, राजनीतिक और सास्कृतिक प्रभाव को दृढ करने का साधन है—अंग्रेज़ी का प्रभुत्व। वे करोडो रुपये त ह तरह से यहाँ अंग्रेज़ी के प्रचार और प्रसार पर खर्च करते हैं। अंग्रेज़ी को कायम रखना 'जनतन्त्र' के नाम पर साम्राज्यवाद की सेवा करना है।

अंग्रेज़ी हटाने का सवाल राष्ट्रीय एकता के प्रश्न के साथ जुडा हुआ है। भारत बहुजातीय राष्ट्र है। भारतीय भाषाएँ बोलनेवाली विभिन्न जातियाँ ब्रिटेन और फ्रास की तरह एक-दूसरे से अलग स्वतन्त्र जातियाँ नही हैं। ऐतिहासिक, सास्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक सूत्रो से बँधी हुई वे एक ही राष्ट्र का अविभाज्य अग हैं। जिस तरह हर प्रदेश मे उसकी अपनी भाषा को सभी अधिकार मिलने चाहिए, वैसे ही इन सबको जोडनेवाली राष्ट्रभाषा हिन्दी को भी केन्द्र मे पूर्ण अधिकार मिलने चाहिएँ।

जो लोग अंग्रेज़ी हटाने का विरोध करते हैं, वे राष्ट्रीय एकता का विरोध करते हैं। विभिन्न प्रदेशो की जनता एक-दूसरे के नजदीक हिन्दी के ज़रिये ही आ सकती है। अंग्रेज़ी के ज़रिये पढ-लिखा बाबूवर्ग दिन-पर दिन साधारण जनता से दूर होता जा रहा है।

पिछले पन्द्रह साल मे अंग्रेज़ियत बढी है और उसके साथ भारतीय भाषाओ की उपेक्षा आम तौर से, और हिन्दी की उपेक्षा खास तौर से, बढी है। यह उपेक्षा हिन्दी और अहिन्दी दोनो क्षेत्रो मे है। डैडी, मम्मी और अकलजी का चलन हिन्दी बाबुओ के घर मे पिछले वर्षों ज़्यादा हुआ है। अमरीकी-

साहित्य के नक्कालों की हिन्दी में अंग्रेजी के प्रपंच शब्दों की बाढ़ आ गई है।

हिन्दी की उपेक्षा कांग्रेस में ही नहीं है, कम्युनिस्ट पार्टी में भी है—हमें इस कटु सत्य का सामना करना चाहिए। आज से इक्तीस साल पहले प्रेमचन्द ने हमारे नेताओं के अंग्रेजी-प्रेम को अच्छी तरह परखा था और उसकी तीखी आलोचना की थी। बम्बई के राष्ट्रभाषा-सम्मेलन में उन्होंने कहा था—

"हमारी कौमी सभाओं में सारी कार्रवाई अंग्रेजी में होती है, अंग्रेजी में भाषण दिये जाते हैं, लेख लिखे जाते हैं, प्रस्ताव पेश किये जाते हैं, सारी लिखा-पढ़ी अंग्रेजी में होती है, उस संस्था में भी, जो अपने को जनता की संस्था कहती है। यहाँ तक कि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट भी, जो जनता के खासुलखास झंडे-बरदार हैं, सभी कार्रवाई अंग्रेजी में करते हैं।"

प्रेमचन्द की आलोचना का कोई असर कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं पर नहीं हुआ। वे जहाँ सन् '३४ में थे, वहीं सन् '६५ में हैं। इस स्थिति पर कौन गर्व कर सकता है?

प्रेमचन्द ने बहुत सही सवाल उठाया था कि पार्टियाँ अपनी कार्रवाई किस भाषा में करती हैं। यही सवाल अपने एक लेख में मैंने भी उठाया था।

मेरा अनुभव है कि राज्यों में कम्युनिस्ट पार्टी के बड़े नेता अपने मसौदे अंग्रेजी में तैयार करते हैं। अक्सर राज्यों के पत्रों में उनके अंग्रेजी लेखों के अनुवाद छपते हैं। योगीन्द्र शर्माजी का कहना है कि राज्यों में पार्टी का सारा काम प्रादेशिक भाषाओं में होता है। उसका स्वागत करता हूँ। पार्टी के नेताओं को बधाई देता हूँ कि कम-से-कम राज्यों में उन्होंने पहल की और दूसरी पार्टियों के सामने एक आदर्श रखा।

लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी अपने केन्द्रीय दफ्तर से अंग्रेजी क्यों नहीं निकाल पाती? इसका मूल कारण है, स्वयं पार्टी के नेताओं में हिन्दी के प्रति उपेक्षा का भाव।

यदि अखिल भारतीय स्तर पर मजदूर वर्ग की एकता हिन्दी के जरिये ही कायम हो सकती है, तो हिन्दी की यह उपेक्षा मजदूर वर्ग की ही उपेक्षा है।

कामरेड गोपालन लोकसभा से बाहर चले गए क्योंकि कोई मन्त्री हिन्दी में बोला था! उनका मजदूर-प्रेम हिन्दी से चिढ़ता है, अंग्रेजी को सिर चढ़ाता है। बंगाल में कम्युनिस्ट पार्टी की दोनों शाखाओं ने विधान सभा में कांग्रेस के साथ मिलकर हिन्दी के विरुद्ध प्रस्ताव पास किया, केन्द्र में अंग्रेजी उन्हें सप्रेम स्वीकार है!

पार्टी के नेता जो सिर्फ राज्यों से अंग्रेजी हटाने की बात करते हैं, इसका कारण हिन्दी के प्रति यही उपेक्षा-भाव है। मराठी, बंगला, तमिल के चलन की बात तो वे कर सकते हैं, हिन्दी के चलन की बात कैसे करें?

कहा जा सकता है कि हिन्दीभाषी क्षेत्र में कम्युनिस्ट आन्दोलन कमजोर है, इसलिए पार्टी-केन्द्र में हिन्दी का चलन नहीं है।

लेकिन भारत का वह अंग्रेज़ी भाषी क्षेत्र कौन सा है जहाँ कम्युनिस्ट आन्दोलन मजबूत होने से पार्टी केन्द्र मे अंग्रेज़ी चलती है ? वह अंग्रेज़ी-भाषी क्षेत्र ऊपर के कुछ नेताओ तक सीमित है। भारत की धरती से उखड़ा हुआ यह क्षेत्र त्रिशकु की तरह आसमान मे लटका हुआ है। इस हवाई क्षेत्र की भाषा—अंग्रेज़ी—पार्टी केन्द्र मे चल सकती है। भारत की एक तिहाई जनता की भाषा हिन्दी नहीं चल सकती !

कम्युनिस्ट पार्टी के वोटरो म जो पिछत्तर फी सदी अहिन्दी भाषी हैं, उनमे अंग्रेज़ी जाननेवाले एक फी सदी भी नही हैं। फिर भी पार्टी केन्द्र म चलेगी अंग्रेज़ी !

हमारे आन्दोलन के विकास और फैलाव की वह कौन-सी विशेषता है जिससे अंग्रेज़ी भाषी न होते हुए भी हमारे नेता बँदरिया के मुर्दे बच्चे की तरह अंग्रेज़ी को छाती से चिपकाये हुए हैं ? वह विशेष अवस्था है, हिन्दी की उपेक्षा।

इस स्थिति से लाभ उठाते हैं जनसघ के नेता। वे जनता की सही माँगो का समर्थन करके अपनी जन-विरोधी नीति के लिए लोकप्रियता हासिल करते हैं। उनका उद्देश्य होता है, पूँजीवाद को मजबूत करना, तटस्थता की नीति खत्म करके भारत को साम्राज्यवादी खेमे मे ढकेल देना।

केन्द्र मे अंग्रेज़ी कायम रखना समस्त भारतीय जनता के साथ अन्याय है, हिन्दी भाषी जनता के साथ विशेष अन्याय है। अंग्रेज़ी चालू रखने की नीति का समर्थन करके कम्युनिस्ट पार्टी हिन्दी-भाषी जनता मे अपना अलगाव बढाएगी, कम्युनिस्ट आन्दोलन को आवश्यकतानुसार शक्तिशाली नही बना सकती।

पिछले वर्षों का अनुभव बतलाता है कि जनता के असन्तोष से लाभ उठाकर प्रतिक्रियावादी दलो ने अपनी ताक़त जितना बढाई है, उतना कम्युनिस्ट पार्टी ने नही। तब कम्युनिस्ट पार्टी सयुक्त थी, अब विभक्त है। सोच लीजिए, क्या नतीजा होगा।

अंग्रेज़ी के विरुद्ध हिन्दी जनता के असन्तोष को दक्षिण और बगाल की ओर मोड़ना बहुत आसान है। जैसे कुछ लोग तमिल-प्रेम को हिन्दी विरोध का रूप देते है, वैसे ही हिन्दी प्रेम को तमिल विरोध का रूप देना मुश्किल नही है। गृहयुद्ध की इस परिस्थिति मे अंग्रेज़ी के बल पर राष्ट्रीय एकता की रक्षा नही की जा सकती।

समस्या का एक ही हल है केन्द्र मे हिन्दी हो, राज्यो मे प्रादेशिक भाषाएँ।

इस पर भी यदि कोई कहे कि अंग्रेज़ी हटाने से अहिन्दी भाषाओं का दमन होता है तो निवेदन है, लोकसभा मे सभी भाषाएँ चलाइए। हमे इस बात का मोह नहीं है कि भारत सरकार का काम हिन्दी मे हो। घृणा इस बात से है कि उसका काम अंग्रेज़ी मे होता है। केन्द्र मे चाहे एक भारतीय भाषा चलाइए, चाहे दस, विदेशी भाषा अंग्रेज़ी को निकालिए।

मैंने योगीन्द्र शर्माजी से पूछा था, 'पार्टी दफ्तर मे सभी भारतीय भाषाओ

का चलन करने मे क्या व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं ?"

उन्होंने उत्तर दिया है, "पार्टी के केन्द्रीय दफ्तर में अंग्रेजी की जगह सभी भारतीय भाषाओं को बराबर जगह देने में व्यावहारिक कठिनाइयाँ अवश्य हैं। व्यावहारिक कठिनाइयो मे मुख्य कठिनाई है बहुभाषी स्टाफ कायम करने की—तमाम भारतीय भाषाओं से अनुवाद करने की व्यवस्था की।"

पार्टी-केन्द्र में हिन्दी इसलिए नहीं चलती कि हिन्दीप्रदेश मे कम्युनिस्ट आन्दोलन कमजोर है। अनेक भारतीय भाषाएँ इसलिए नही चल सकती कि उपयुक्त स्टाफ नहीं है! इसलिए अंग्रेजी की गुलामी से पार्टी-केन्द्र मुक्त नही हो सकता!

योगीन्द्रजी ने मुझे आश्वासन दिया है कि लोगो को तमाम भाषाओ मे बोलने की आजादी है। केन्द्रीय दफ्तर मे तमाम भाषाओं मे चिट्ठियाँ, रिपोर्टें आदि आती हैं। भविष्य मे पार्टी केन्द्र की भाषा हिन्दी ही होगी लेकिन जहाँ तक वर्तमान का सम्बन्ध है, उन्ही के शब्दो मे—"तमाम भारतीय भाषाओ की इस आजादी और बराबरी के बावजूद 'फिलहाल' अंग्रेजी प्रधान और सम्पर्क-भाषा है।"

असली समस्या इसी 'फिलहाल' की है।

पार्टी के जो नेता अपने केन्द्र से अंग्रेजी निकालन मे असमर्थ हैं, वे भारत में अंग्रेजी का प्रभुत्व कभी खत्म नही कर सकते।

हिन्दी-भाषी जनता से भड़कानेवाले कहते हैं, यह उत्तर और दक्षिण की लड़ाई है। दक्षिणवाले हिन्दी नही चाहते तो उन्हे उत्तर भारत स निकाल दो।

इस गृहयुद्ध की नीति के खिलाफ 'धर्मयुग' के अपने लेखो मे मैंने हिन्दी-भाषी जनता के सामने यह कार्यक्रम रखा है लड़ाई तमिल हिन्दी की नहीं है, लड़ाई तमाम भारतीय भाषाओ और अंग्रेजी की है। इस संघर्ष मे हम हिन्दी-भाषियो को पहल करनी चाहिए। हम अपने हिन्दी भाषी राज्यो में हर जगह, हर स्तर पर हिन्दी को अमल मे राजभाषा बनाना चाहिए। हमे अपने नेताओं को बाध्य करना चाहिए कि वे लोकसभा मे हिन्दी मे बोलें। भारत की एक-तिहाई जनता के प्रतिनिधि केन्द्र और राज्यो मे अपना सारा काम हिन्दी मे करेंगे तो हिन्दी बहुत जल्दी राष्ट्रभाषा बन जाएगी।

इस कार्यक्रम के विपरीत हिन्दीभाषी जनता से कहना कि केन्द्र मे अंग्रेजी कायम रहने दो, उसे तमिल-विरोध की ओर बढने की राह देना है। कांग्रेस सरकार की भाषा-नीति से क्षुब्ध हिन्दी-भाषी जनता के सामने जब अंग्रेजी से लड़ने की नीति न रहेगी, तब वह अहिन्दी-भाषियों के खिलाफ जरूर भड़काई जाएगी।

मैं हिन्दी क्षेत्र के नेताओ से भी लोकसभा में हिन्दी बोलने को कहता हूँ तो योगीन्द्र शर्माजी को लगता है कि मैं अहिन्दी भाषियों पर हिन्दी लादने की बात कर रहा हूँ! अंग्रेजी को हटाने की ललकार उन्हे गृहयुद्ध की ललकार

मालूम होती है ।

लोकसभा मे अहिन्दी-भाषी नेता शौक से अपनी अपनी भाषाएँ बोले । हिन्दी-भाषी नेता हिन्दी मे बोलें । कम्युनिस्ट सदस्य लोकसभा मे अपने व्यवहार से इस नीति की मिसाल कायम करें ।

लेकिन हमारे पार्टी-नेता अंग्रेज़ी मे बोलना पसन्द करते हैं। लोकसभा में सभी भारतीय भाषाओ मे बोलने की सुविधा के लिए नही लडते । लडें कैसे जब उनके अपने केन्द्र मे अंग्रेज़ी चलती है ।

साम्राज्यवादी प्रचारक कहते थे कि भारतीय भाषाएँ पिछडी हुई हैं, इसलिए अंग्रेजी चलेगी । इस प्रचार का नया रूप यह है हिन्दी जनता से दूर चली गई है; पडिताऊ हो गई है, रघुवीरी है, इसलिए अंग्रेज़ी चलेगी ।

यदि मान भी लें कि डॉ० रघुवीर इतने बडे सूरमा थे कि भारतेन्दु से लेकर अमृतलाल नागर तक चली आती हिन्दी की प्रशस्त धारा को मोडकर उन्होने उसे पडिताऊ बना दिया तो क्या इससे अंग्रेज़ी का कायम रहना उचित हो जाएगा ?

मजे की बात यह है कि राज्यो मे हिन्दी चल सकती है । कठिनाई पैदा होती है, उसके दिल्लीवाले दफ्तरों मे घुसने पर ।

साम्राज्यवादी प्रचारक हिन्दी-उर्दू को लडाकर अंग्रेज़ी का पाया मजबूत करते थे । उस नीति का नया रूप यह है हिन्दी ने अपनी बहन और सहेली उर्दू का दमन किया है, उसे अपने ही घर से निकाल दिया है। इसलिए केन्द्र मे अंग्रेजी चलनी चाहिए ।

'जनशक्ति' और 'जनयुग' के उर्दू-सस्करण निकालिए । इच्छा हो तो दोनो मे एक ही भाषा 'हिन्दुस्तानी' चलाइए । पटना और लखनऊ के पार्टीदफ्तरो मे हिन्दी-उर्दू दोनो को बराबर जगह दीजिए। लेकिन उर्दू-दमन के विरोध के नाम पर अंग्रेज़ी चलाने की कोशिश मत कीजिए ।

केन्द्र और राज्यो से एक साथ अंग्रेज़ी हटाने की मांग करना उग्र हिन्दी राष्ट्रवाद के उन्माद में आत्मविभोर होना नही है । उग्र हिन्दी राष्ट्रवाद का नारा है एक भाषा, एक राष्ट्र । मेरी नीति इससे बिलकुल उल्टी है । उस नीति का मूल सूत्र यह है भारत बहुजातीय राष्ट्र है । बहुजातीय है, इसलिए राज्यों में वहीं की भाषाएँ राजभाषा होगी, राष्ट्र है, इसलिए सब जातियों को मिलानेवाली केन्द्रीय भाषा हिन्दी होगी । इन दोनो बातों मे किसी एक को भूल जाना राष्ट्रीय विघटन को बुलावा देना होगा । (१९६५)

३६

भारत की राजभाषा अंग्रेज़ी और राष्ट्रीय जनतांत्रिक मोर्चा

योगीन्द्र शर्माजी ने ठीक लिखा है कि सिद्धान्त और नीति की जो बातें मैंने उठाई हैं, उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती और वे बातें अपने-आप मे भी महत्त्वपूर्ण हैं। इस विषय पर मैं जो कुछ आगे लिख रहा हूँ, पाठक उसे नीति और सिद्धान्त का आवश्यक विवेचन समझकर पढ़ेंगे।

अंग्रेज़ी के प्रभुत्व से हानियाँ

योगीन्द्र शर्माजी मानते हैं कि अंग्रेज़ी का प्रभुत्व कायम रहने से हानि होती है। इस हानि से देश को कितने बड़े सकट का सामना करना पड सकता है, मजदूर वर्ग और कम्युनिस्ट पार्टी से इस हानि का सम्बन्ध क्या है, इस बारे मे उनका और मेरा विश्लेषण एक-सा नही है।

उनका कहना है, "अंग्रेज़ी के आधार पर भारत की एकता वैसी ही होगी जैसी अंग्रेज़ी शासन के मातहत थी।"

इतना कहना काफी नही है। अंग्रेज़ी के आधार पर आज भारतीय पूँजीवाद औपनिवेशिक एकता भी कायम नहीं रख सकता।

साम्राज्यवाद फौज, पुलिस और अंग्रेज़ी जाननेवाले नौकरशाह वर्ग के द्वारा जनता का शोषण करने के लिए उपनिवेश भारत की एकता कायम किये हुए था। अब नौकरशाह वर्ग का मालिक है भारतीय पूँजीवाद जिसमें बाजारों के लिए लड़नेवाले विभिन्न प्रदेशों के पूँजीपति हैं तथा इनमे कुछ इजारेदार हैं, शेष गैर-इजारेदार पूँजीपति हैं। इन अन्तर्विरोधों से पीड़ित पूँजीवाद औपनिवेशिक एकता की रक्षा नहीं कर पा रहा है। उसकी अखिल भारतीय पार्टी में भयानक गुटबन्दी है और उसका सामाजिक आधार दिन-पर-दिन सकुचित होता जा रहा है।

योगीन्द्र शर्माजी जानते हैं कि भारत का पूँजीपति वर्ग "विभिन्न भाषा-समूहों में बँटा हुआ है, विभिन्न जातियों मे विभक्त है। वह एक-दूसरे की कीमत पर अपने स्वार्थ को सिद्ध करना चाहता है।" इसीलिए वह अंग्रेज़ी के सहारे

देश की पुरानी औपनिवेशिक एकता को भी बचा नही पा रहा।

देश की एकता पूँजीपति वर्ग के हित मे है। योगीन्द्रजी का कहना है, "पूरे देश के बाजार और राजशक्ति की आवश्यकता उनको राष्ट्रीय एकता का हिमायती बनाती है।" भारतीय इतिहास के अनुभव को सभी लोग जानते हैं कि यहाँ के पूँजीपति वर्ग ने साम्राज्यवादी योजना स्वीकार की और 'पूरे देश के बाजार' को अपने वर्ग-हितो के विरुद्ध, बँट जाने दिया।

देश की एकता की रक्षा के लिए पूँजीपति वर्ग की एकता का भरोसा न करके श्रमिक जनता की एकता दृढ करनी चाहिए। यह एकता अग्रेज़ी के ज़रिये दृढ नही की जा सकती। अग्रेज़ी का प्रभुत्व इस एकता के मार्ग मे बहुत बडी बाधा है। अग्रेज़ी के कायम रहने से भारतीय जनतत्र का आधार सकुचित होता है और फासिस्टवाद का खतरा बढता है।

'भाषा और समाज' म मैंने लिखा था :

"एक छोटा सा वर्ग जो अग्रेजी अखबार पढता है, अग्रेजी के माध्यम से नौकरी पाता है अग्रेजी के माध्यम से पार्लामेंटरी डिमोक्रैसी और सोशलिस्ट पैटर्न के प्रयोग करता है वही 'नेहरू के बाद क्या होगा'—यह समस्या उठाकर परेशान भी हो लेता है" जनतन्त्र का यह सकुचित वर्ग-आधार खुद तो नष्ट होगा ही, खतरा यह है कि अपने विनाश के साथ वह देश की बागडोर किसी अय्यूब खाँ को न सौंप दे!" (पृ० ४१५)

इस देश मे हर चीज के लिए आन्दोलन होते है। भाषावार राज्यो के आन्दोलन मे कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओ ने पूरी ताकत लगा दी। केवल केन्द्र से अग्रेज़ी हटाने का आन्दोलन नही होता, केवल इस तरह का आन्दोलन पार्टी के नेताओ को पसन्द नही है। इसका कारण यह है कि सयुक्त महाराष्ट्र या विशाल आन्ध्र के निर्माण को वे जितना आवश्यक समझते थे, उतना अग्रेज़ी के प्रभुत्व को खत्म करना नही।

मैंने लिखा था, "अग्रेज़ी सीखना और बात है, उसे सीखकर लाभ उठाया जा सकता है लेकिन उसे सभी भारतीय भाषाओ के ऊपर केन्द्रीय और सास्कृतिक भाषा बनाने से ऐसे वर्ग का ही सृजन होगा जो जनता से दूर होगा, जो अग्रेज़ी ज्ञान के बल पर—न कि ईमानदारी, देशभक्ति, कार्यक्षमता के बल पर—शासनकार्य चलाएगा। इससे देश की अपार क्षति होगी और हो रही है।" (उप०, पृ० ४५३)

स्पष्ट है, अग्रेज़ी से होनेवाली हानि के बारे मे योगीन्द्रजी के और मेरे विचारो मे अन्तर है।

कांग्रेस और अंग्रेज़ी

देश मे जो भाषा-सम्बन्धी द्वेषभाव फैला है, उसके लिए सबसे पहले काग्रेसी नेता जिम्मेदार हैं। उन्होने भाषावार राज्यो का विरोध किया और अपने वक्तव्यो

मे प्रादेशिक भाषाओं को उचित महत्त्व नहीं दिया—यह स्थिति का एक पहलू है। दूसरा पहलू यह है कि सन् '४६ से अब तक तरह-तरह के बहाने करके वे अंग्रेजी का प्रभुत्व कायम किये हुए हैं। इस दूसरे पहलू पर योगीन्द्रजी का ध्यान कम जाता है।

मुख्य अन्तर्विरोध हिन्दी और अहिन्दी भाषाओं मे नहीं, अंग्रेजी तथा समस्त भारतीय भाषाओं मे है। कांग्रेसी नेताओं ने जहाँ भी केन्द्र में हिन्दी चलाने की बात की, योगीन्द्रजी उनकी सख्त आलोचना करते हैं। वे अठारह साल से अंग्रेजी चला रहे हैं, इसकी सख्त आलोचना वह नहीं करते।

उन्होंने लिखा है, "केन्द्रीय सरकार ने २६ जनवरी से हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' बनाने की जो पाखण्ड और दकसावे की घोषणा की, उससे गैर-हिन्दीभाषी लोगों में, विशेषकर तमिलनाडु में विरोध का तूफान पैदा हो गया।"

कांग्रेस के कर्णधार चाहते हैं कि अंग्रेजी न आज हटे, न कल। हिन्दी-भाषी जनता से ही कांग्रेस को सबसे ज्यादा वोट मिलते हैं। उसे खुश करने के लिए वे राष्ट्रभाषा की बातें करते हैं, हिन्दी को समृद्ध करने के लिए लाखों रुपये खर्च करते हैं। उनके इस पाखंड पर योगीन्द्रजी को विशेष क्रोध नहीं आता।

योगीन्द्र शर्माजी के विपरीत हर मंजिल पर मैंने कांग्रेसी नेताओं के इस पाखण्ड की बराबर आलोचना की है।

सन् '४६ में मैंने लिखा था :

"भारतीय जनता न मांग की थी कि शिक्षा, अदालत-कचहरी शासन इत्यादि मे अंग्रेजी की जगह उसकी अपनी भाषा चले। यह बिलकुल न्यायपूर्ण मांग थी। राष्ट्रीय नेताओं से आशा की जाती थी कि सन् '४७ में आजादी पाने के बाद इस मांग को वे पूरा करेंगे। लेकिन विभिन्न कारणों से वे उसे पूरा नहीं कर सके···दस साल तक उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण न होगा। वैसे ही पांच या दस साल तक आम जनता की उच्च शिक्षा, राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यवाही उसकी अपनी भाषा में न होगी" ('कम्युनिस्ट')।

पांच साल बाद राजभाषा के सवाल पर मैंने एक पुस्तिका लिखी जो पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित हुई। उसमे कांग्रेसी नेताओं की दुरंगी नीति के बारे मे मैंने लिखा था, 'कांग्रेसी नेताओं की कोई मंशा नहीं थी कि अंग्रेजी हटाने के लिए जमकर कोशिश करें। उन्होंने स्पष्ट ही अपने सामने यह संभावना रखी थी कि पन्द्रह साल के बाद भी अंग्रेजी जारी रहेगी, शायद उसके अगले पन्द्रह साल तक जारी रहेगी, हो सकता है इसके आगे भी जारी रहे।"

सन् '६५ मे बिलकुल यही स्थिति हमारे सामने है।

नेहरूजी के अंग्रेजी समर्थन की चर्चा करते हुए उसी पुस्तिका मे लिखा था, "संविधान सभा मे बहस की तमाम सरगर्मी के पीछे यह निर्मम निश्चय साफ दिखाई देता है कि समस्त भारतीय भाषाओं की हानि करते हुए अंग्रेजी को अनिवार्य राजभाषा के रूप मे चालू रखा जाय। श्री नेहरू ने बड़ी स्पष्टता से

कहा है कि 'आप इस बात को प्रस्ताव मे लिखें, चाहे न लिखें, अंग्रेज़ी लाजमी तौर से भारत मे बहुत महत्वपूर्ण भाषा बनकर रहेगी जिसे बहुत लोग सीखेंगे और शायद उन्हे उसे जबरन सीखना होगा।' लोग इन तमाम वर्षों मे अंग्रेजी जबरन सीखते आए हैं। अब उनके सामने एकमात्र यह संभावना पेश की गई है कि अंग्रेज़ी के बिना हमारी कला और विज्ञान का पतन हो जाएगा और देश का विघटन होगा, उसका नाश हो जाएगा।"

'भाषा और समाज' मे मैंने जहाँ भाषावार राज्य आन्दोलन के दमन की निन्दा की है, वहाँ अंग्रेज़ी को राष्ट्रभाषा बनाये रखने की कांग्रेसी नीति की आलोचना भी की है। लिखा था :

"अंग्रेज़ी भारत की राष्ट्रभाषा रहे तो सबसे अच्छा। दूसरे देशों के सामने शर्म के मारे उसे राष्ट्रभाषा न कह सकें और झख मारकर हिन्दी का व्यवहार करना पड़े तो अंग्रेज़ी और हिन्दी दोनों को राष्ट्रभाषा का दर्जा देना चाहिए। यदि हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा रखने की प्रतिज्ञा करनी पड़े तो भी जहाँ तक हो सके, सांस्कृतिक और राजनीतिक कार्यों के लिए अंग्रेज़ी का व्यवहार होना ही चाहिए·· भारत को आज़ाद करने की मुख्य प्रेरणा अंग्रेज़ी से ही मिली लेकिन आज़ादी पाने के लिए भी अंग्रेज़ी की उतनी आवश्यकता न थी जितनी अब समाजवादी भारत के निर्माण के लिए है।" (पृ० ४१३)

पिछले अठारह साल मे कांग्रेस की जो नीति रही है, उसी का अनुसरण करते हुए उसके नेताओं ने नया प्रस्ताव पास किया है। इस प्रस्ताव के अनुसार प्रादेशिक भाषाएँ पब्लिक सर्विस कमीशन की परीक्षाओं का ऐच्छिक माध्यम बनेंगी, अखिल भारतीय नौकरियों का अनिवार्य माध्यम रहेगी अंग्रेज़ी।

गांधीजी भाषाओं के आधार पर प्रान्तों के नवनिर्माण के पक्ष मे थे। नेहरूजी भाषावार राज्य बनाने के प्रबल विरोधी थे। गांधीजी केन्द्र से अंग्रेज़ी हटाने के पक्ष मे थे, नेहरूजी उसे वहाँ जमाये रखने के पक्ष मे थे। केन्द्र और राज्य—दोनों जगह गांधीजी और नेहरूजी की भाषा-नीति मे अन्तर था। नेहरूजी ने देश के लिए बहुत से अच्छे काम किए लेकिन उनकी अंग्रेज़ी कायम रखने की नीति गलत थी। देश मे अंग्रेज़ी कायम रखने के लिए जिम्मेदार है कांग्रेस।

भाषागत द्वेष और गृहयुद्ध की सम्भावना

ज़ारशाही रूस मे रूसी पूँजीवाद ने साम्राज्यवाद का रूप ले लिया था। रूसी पूँजीपति गैर-रूसी इलाकों का शोषण करते थे, वहाँ की भाषाओं का दमन करते थे। सन् '४८ मे कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस ने अपने राजनीतिक प्रस्ताव मे भारत को भी ज़ारशाही रूस की तरह जातियों का कारागार मान लिया था। इसीलिए उत्पीडक पूँजीवादी गुट के विरुद्ध केरल, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों के लिए आत्मनिर्णय की माँग की गई थी।

प्रस्ताव में कहा गया था, 'कांग्रेसी नेतृत्व ने अपनी समझौतावादी नीति

के कारण आत्मनिर्णय के अधिकार का विरोध करने की वजह से देश का घातक विभाजन करा दिया है। आज इण्डियन यूनियन में वह फिर वही अपराध कर रहा है, उत्पीडक पूँजीपति वर्ग के हित मे वह महाराष्ट्र, केरल, तमिलनाडु आदि जातीय प्रदेशो के आत्मनिर्णय का अधिकार अस्वीकार करता है।"

भारतीय परिस्थितियो मे आत्मनिर्णय की यह बात गलत थी और आज भी है। आत्मनिर्णय की माँग की जाती है साम्राज्यवाद के खिलाफ, उन प्रदेशो के लिए जहाँ विदेशी पूँजीपतियो ने अपने उपनिवेश कायम किये हो।

भारत मे अहिन्दी भाषाओ के दमन की आशका कुछ लोगो के मन मे है, लेकिन दमन का कोई ठोस सामाजिक आधार नहीं है। यदि हिन्दीभाषी क्षेत्र का पूँजीवाद साम्राज्यवाद का रूप ले रहा हो, यदि किसी एक प्रदेश के पूँजीपतियो ने अन्य प्रदेशो को अपना उपनिवेश बनाना आरम्भ कर दिया हो तो मानना होगा कि अहिन्दी भाषाओ के दमन का वास्तविक खतरा है। ऐसी स्थिति नही है, इसलिए शक शुबहे की बात की जा सकती है, भाषाओं के दमन की बात करना जनता मे हिन्दी के प्रति द्वेष फैलाना है।

योगीन्द्रजी ने शक-शुबहे और वास्तविक खतरे को मिलाकर एक कर दिया है। उन्होने जारशाही रूस और भारत के पूँजीवाद का फर्क नही देखा। वह अहिन्दी भाषाओ के दमन की बात इस तरह करते हैं मानो दिल्ली सरकार केवल हिन्दी क्षेत्र के पूँजीपतियो की सरकार हो। उन्होने पूछा है, "१९४६ मे दक्षिण भारत की जनता हिन्दी को एक दबानेवाली भाषा के रूप म देखती थी या नही ?" इसका उत्तर है कि कुछ लोग दक्षिण में हिन्दी को दबानेवाली भाषा के रूप मे देखते थे। यह उनकी आशका थी। उस आशका के कारण थे। लेकिन हिन्दी दबानेवाली भाषा न तब थी, न आज है। दबानेवाली भाषा वास्तव म अग्रेज़ी थी, आज भी है।

योगीन्द्रजी ने पूछा है कि पार्टी ने अपनी ग़लत नीति सुधार ली, तब सन् '६१ म मैंने वही गलत बात क्यो दुहराई।

उन्हे भ्रम है कि सन् '६१ मे मैंने सन् '४६ की बातें दुहराई है। सन् '४६ मे मैंने केन्द्रीय राजभाषा का विरोध किया था, सन् '६१ मे उसका समर्थन किया था। सन् '४६ मे जातीय उत्पीडन का वास्तविक खतरा है, मैं यह मानता था। सन् '६१ म शक-शुबहे की बात थी, भाषाओ के वास्तविक दमन की बात नही थी। इन शक शुबहो का सम्बन्ध मुख्यत नौकरीपेशा मध्यवर्ग के लोगों से है। इनके बारे मे 'भाषा और समाज' मे मैंने लिखा था

'देश के विभिन्न वर्गों का जैसा सास्कृतिक दृष्टिकोण है, उसी के अनुकूल वे भाषा समस्या का समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। इनमे सबसे पहले वह वर्ग है जो साम्राज्यवादी व्यवस्था मे शिक्षा के कारण ऊँची नौकरियाँ पा सका था और अब स्वाधीन भारत मे वह उसी शिक्षा के आधार पर अपने लिए उन नौकरियो को बरकरार रखना चाहता है। इनमे विभिन्न प्रदेशो के उच्च मध्य-

वर्गीय शिक्षित लोग हैं जो समझते हैं कि अंग्रेज़ी के न रहने से हिन्दीवाले बाजी मार ले *जाएँगे। इनकी तो मातृभाषा* हिन्दी है, दूसरों को उसी को सीखना पड़ेगा। इस तरह के तर्क साम्राज्यवादी अवशेषों को ज़ाहिर करते हैं।"

(पृ० ४४३)

इस भय को दूर करने का उपाय मैंने यह बताया था 'ऊँची नौकरियों के लिए हिन्दी-भाषियों को तभी लेना चाहिए जब उन्हें एक अहिन्दी भाषा का अच्छा ज्ञान हो।"

(पृ० ४५७)

'जनशक्ति' में यही प्रस्ताव मैंने दोहराया था, "अहिन्द भाषा का समुचित ज्ञान अनिवार्य कर देने से *हिन्दीवालों को कोई विशेष सुविधा न मिलेगी।"*

जो लोग सचमुच अंग्रेज़ी का प्रभुत्व खत्म करना चाहते हैं, वे इस प्रस्ताव पर गम्भीरता से विचार करेंगे। जो हठ धर्मी से केन्द्र में अंग्रेज़ी च ाते रहने के पक्ष में हैं, वे उसके बारे में चुप रहेंगे।

तमिलनाडु में जो आन्दोलन चला उसमें शक-शुबहों से लाभ उठाया गया, तिल का ताड़ बनाकर जनता को गुमराह किया गया। आन्दोलन के सूत्रधार वे थे जो द्रविड भारत या तमिलनाडु का अलगाव चाहते हैं, जो कश्मीर से लेकर *नागालैंड* तक अलगाव के हर आन्दोलन का साथ देते हैं।

भारत में गृहयुद्ध का खतरा पैदा होता है उन लोगों से जो देश में नये विभाजन के लिए प्रयत्नशील हैं। भाषाओं के दमन की बात वे अपना असली उद्देश्य छिपाने के लिए करते हैं। उनकी इस नीति का पर्दाफाश करके जनता को उनके प्रभाव से निकालना चाहिए, न कि उनके सुर में सुर मिलाकर कहना चाहिए कि हिन्दी भाषा अहिन्दी भाषाओं का दमन कर रही है।

अपने धर्म से प्रेम करना बुरा नहीं है। मुस्लिम लीग ने कहा—इस्लाम खतरे में है। मुसलमानों को हिन्दू खा जाएँगे। लीग ने 'डायरेक्ट ऐक्शन' का रास्ता अपनाया। आत्मनिर्णय के नाम पर देश का विभाजन हुआ।

अपनी भाषा से प्रेम करना बुरा नहीं है। द्रविड मुन्नेत्र कळगम ने कहा—तमिल खतरे में है; तमिल-भाषियों को हिन्दीवाले गुलाम बना लेंगे। कळगम ने *'डायरेक्ट ऐक्शन' का रास्ता अपनाया।* हिन्दी तमिल का दमन न करे इसलिए केन्द्र में अनिश्चित काल के लिए अंग्रेज़ी कायम रहेगी।

केन्द्र और राज्य—पहले और बाद का सवाल

योगीन्द्रजी ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि पहले राज्यों स अंग्रेज़ी हटाना जरूरी है। राज्यों के विश्वविद्यालयों, सरकारी दफ्तरों आदि म पूरी तरह प्रादेशिक भाषाओं का चलन हो जाने के बाद ही केन्द्र स अंग्रेज़ी हटाने की बात की जा सकेगी। उन्होंने गांधीजी का यह कथन उद्धृत किया है, "सबसे पहले उन समृद्ध प्रादेशिक भाषाओं को पुनर्जीवित करना है जो भारत को सुलभ हैं।"

इसका अर्थ उन्होंने यह लगाया है कि जब तक राज्यों से अंग्रेज़ी निकल

से जायें, तब तक केन्द्र मे अंग्रेजी चलती रहे ! इसके विपरीत गांधीजी ने प्रस्ताव किया था कि प्रान्तों मे ऐसे कर्मचारी रखे जाएँ जो प्रान्तीय भाषा के साथ केन्द्रीय भाषा भी जानते हो। इसीलिए उन्होने लिखा था कि "प्रान्तो को केन्द्र से काम पडेगा। यह काम वे अंग्रेजी में करने की हिम्मत न करेंगे।"

'भाषा और समाज' मे गांधीजी के बारे मे मैंने लिखा था, "वह भारतीय भाषाओं के समर्थक थे। वह न इन भाषाओं पर हिन्दी लादना चाहते थे, न हिन्दी लादने का हौवा खडा करके अंग्रेजी बनाये रखने के पक्ष में थे।" (पृ० ४१३) गांधीजी की भाषा-नीति की यही व्याख्या मैं अब भी करता हूँ।

योगीन्द्रजी ने 'भाषा और समाज' से वे अंश उद्धृत किये हैं जहाँ भाषावार राज्यों के विरोध की निन्दा की गई है, जहाँ इस विरोध के कारण कुछ अहिन्दी-भाषी लोगों मे हिन्दी के प्रति भय उत्पन्न होने की बात कही गई है, जहाँ राज्यो से अंग्रेजी हटाकर इस भय को दूर करने की बात की गई है। उन्होंने वे अंश छोड़ दिये हैं जहाँ मैंने लिखा था कि इस भय को बहाना बनाकर केन्द्र में अंग्रेजी कायम रखना गलत है।

मैंने स्पष्ट लिखा था, "भाषावार राज्यो के निर्माण का विरोध करके कांग्रेसी नेतृत्व ने काफी हद तक यह भय उत्पन्न किया है। इसका यह अर्थ नही कि अहिन्दी-भाषी अंग्रेजी की शरण लें।" (पृ० ४६६-६७)

मातृभाषाओं की दुहाई देकर अंग्रेजी की शरण लेनेवालों के बारे मे मैंने लिखा था, "अहिन्दी क्षेत्रों के लोग अंग्रेजी से चिपके रहना चाहते हैं, वे मातृभाषाओं की सेवा नही करते। उन्हे हर बात मे अंग्रेजी अपनी मातृभाषाओं से श्रेष्ठ लगती है। इसलिए उसे वे केन्द्र मे ही नही अपने यहाँ भी सबसे ऊँचे आसन पर बिठाये रखना चाहते हैं···मातृभाषाओं की दुहाई देकर अंग्रेजी का प्रभुत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।" (पृ० ४५५)

गांधीजी के लेख को प्रकाशित हुए अठारह साल हो गये। योगीन्द्रजी के लिए अभी 'समृद्ध' प्रादेशिक भाषाओं को 'पुनर्जीवित' करने का सवाल बना हुआ है! तमिल, तेलुगु, मराठी आदि भाषाओं के आधार पर तमिलनाडु, आन्ध्र, महाराष्ट्र आदि राज्य कभी के बन गये। योगीन्द्रजी समझते हैं कि भाषावार राज्यो के विरोध से जो भय उत्पन्न हुआ था, उसे दूर करना अभी बाकी है! तमिलनाडु मे तमिल माध्यमवाले विद्यालय खोले गये। छात्रो के अभाव मे उन्हें बन्द कर देना पडा। इसलिए कि दिल्ली सरकार हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहती थी!

ध्यान देने की बात है कि तमिलनाडु मे भाषावार राज्य बनाने के लिए कोई आन्दोलन नही हुआ। आन्दोलन हुआ आन्ध्र और केरल मे जहाँ तमिलनाडु की तरह तोड-फोड की कोई कार्यवाही नहीं हुई। भाषावार राज्य-आन्दोलन का दमन किया गया महाराष्ट्र और गुजरात मे जहाँ हिन्दी-विरोधी

ग्रान्दोलन का प्रभाव है। अहिन्दी-भाषी प्रदेशो मे महाराष्ट्र और गुजरात ऐसे राज्य हैं जहाँ हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए ज़ोरदार ग्रावाज़ उठी है।

भाषावार राज्यो के ग्रान्दोलन मे कम्युनिस्ट पार्टी ने सक्रिय भाग लिया था। तमिलनाडु के हिन्दी-विरोधी ग्रान्दोलन को प्रेरणा देनेवाले दो मुख्य दल थे—स्वतन्त्र पार्टी ग्रौर द्रविड कळगम। भाषावार राज्यो के ग्रान्दोलन के दमन से अहिन्दी भाषियो मे हिन्दी के प्रति भय उत्पन्न हुग्रा है, इस सूत्र का ग्राज की परिस्थितिसे कोई भी सम्बन्ध नही है।

ग्राज यह बिलकुल स्पष्ट है कि राज्यो की सरकारो के सामने प्रादेशिक भाषाग्रो के व्यवहार को रोकनेवाली कोई भी वैधानिक कठिनाई नही है। केन्द्रीय नौकरियो मे ग्रग्रेज़ी चलती है। इनके प्रभाव से राज्यों के शिक्षाक्रम मे ग्रग्रेज़ी की पढाई ग्रनिवार्य हो जाती है।

'हिन्दुस्तान टाइम्स' के विशेष सवाददाता ने उस पत्र के ७ जुलाई के ग्रक मे लिखा है कि राजस्थान सरकार ने ग्रनेक विभागो मे हिन्दी के व्यवहार का निर्देश किया है किन्तु योजना सक्रेटेरियट जैसे विभागो को छोड दिया गया है। "जब तक योजना ग्रायोग (प्लानिंग कमीशन) ही हिन्दी के व्यवहार का फैसला नही करता, तब तक राज्य को मजबूर होकर ग्रग्रेज़ी का व्यवहार जारी रखना पडेगा। इस पृष्ठभूमि मे यह महसूस किया जा रहा है कि यदि ग्रग्रेज़ी की पढाई पर जोर कम दिया जाएगा तो राजस्थान ग्रौर उसके नौजवानो के हितो की हानि होगी।"

जब राजस्थान का यह हाल है तब ग्रहिन्दीभाषी राज्यों की स्थिति की कल्पना की जा सकती है। कौन राज्य नही चाहता कि उसके नौजवान ज्यादा-से-ज्यादा सख्या मे केन्द्रीय सेवाग्रो मे लिये जाएँ? इन केन्द्रीय सेवाग्रो के लिए ग्रग्रेज़ी का ज्ञान ग्रनिवार्य है। इसलिए केन्द्रीय सेवाओ का मेवा लूटने के लिए राज्य एक-दूसरे स होड करते हैं कि कौन ग्रग्रेज़ी ज्यादा पढाता है।

इसीलिए ग्राज की परिस्थिति मे केन्द्र से ग्रग्रेज़ी हटाये बिना राज्यो मे ग्रग्रेज़ी का प्रभुत्व खत्म नही किया जा सकता।

यद्यपि योगीन्द्र शर्माजी ने ग्रपने लेख मे राज्यो मे पहले ग्रग्रेज़ी हटाने पर बहुत जोर दिया है किन्तु केन्द्र मे उतने परिवर्तन की बात उन्होने मान ली है जितना काग्रेस को स्वीकार है। काग्रेस का कहना है कि केन्द्रीय सेवाग्रो की परीक्षाग्रो मे प्रादेशिक भाषाग्रो को ऐच्छिक माध्यम बनाया जाय। योगीन्द्रजी इसे स्वीकार करते हैं। जब तक राज्यो से ग्रग्रेज़ी हट न जाय तब तक केन्द्र मे कोई परिवर्तन न हो—यह सिद्धान्त उन्होंने खुद काट दिया। मेरा भी कहना है, केन्द्र ग्रौर राज्य—दोनो जगह से ग्रग्रेज़ी हटाई जाय।

योगीन्द्रजी जब केन्द्र मे इतना परिवर्तन मान लेते हैं—कि परीक्षाग्रा म प्रादेशिक भाषाएँ ऐच्छिक माध्यम हो, तब दो कदम ग्रागे ग्रौर बढें ग्रौर यह माँग करें—केन्द्र मे ग्रग्रेज़ी की जगह भारतीय भाषाग्रो का व्यवहार हो, ग्रग्रेज़ी

की चलन खत्म करने की अवधि निश्चित हो।

केन्द्र में अंग्रेजी चलती है, इस कारण राज्यों में भी उसकी जड़ जमी हुई है। जो भी प्रादेशिक भाषाओं का हित चाहता है, वह केन्द्र से अंग्रेजी हटाने की मांग का समर्थन करेगा।

कम्युनिस्ट पार्टी और अंग्रेजी

कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं को कोई लालच नहीं है कि केन्द्रीय सरकारी नौकरियाँ उन्हें भी मिल जाएँ। उन्हें कोई भय नहीं है कि पार्टी केन्द्र में हिन्दी का चलन हुआ तो राज्यों में पार्टी कार्य के लिए प्रादेशिक भाषाओं का व्यवहार न हो पाएगा। फिर भी पार्टी-केन्द्र की भाषा अंग्रेजी है!

योगीन्द्र शर्माजी के अनुसार राज्यों का सारा पार्टी-कार्य प्रादेशिक भाषाओं में होता है। जहाँ तक पार्टी का सम्बन्ध है, राज्यों से अंग्रेजी हटाने का कार्यक्रम पूरा हो गया है। फिर भी पार्टी केन्द्र से अंग्रेजी नहीं निकाली जा रही। इसके कारण जरूर होंगे लेकिन जो कारण कम्युनिस्ट पार्टी के सामने हैं उनसे तगड़े कारण कांग्रेस ढूंढ़ लेगी। राज्यों में अंग्रेजी विरोधी क्रान्ति आप पूरी कर लेंगे और उसके बाद उस क्रान्ति का झण्डा केन्द्र में गाड़ेंगे—यह बात मैं कैसे मान लूँ?

ब्रिटिश राज में कम्युनिस्ट पार्टी पर यह पाबन्दी न थी कि वह अपना काम अंग्रेजी में करे। कांग्रेसी राज में भी उस पर कोई ऐसी पाबन्दी नहीं रही। उसका जन्म हुए चालीस वर्ष हो गये, कानूनी जीवन बिताते हुए बीस साल से ऊपर हुए। वह गरीब जनता की पार्टी है, श्रमिकवर्ग की पार्टी है। योगीन्द्र शर्माजी के अनुसार वह सांस्कृतिक क्रान्ति की पार्टी है। लेकिन पार्टी के नेता अभी तक अपनी केन्द्र-भूमि में इस सांस्कृतिक क्रान्ति का बीजारोपण नहीं कर सके। वे पार्टी केन्द्र से अंग्रेजी की विष लता की जड़ नहीं खोद पाये। तब पूँजीवादी पार्टियों से क्या आशा की जाय?

भारत की राजभाषा हिन्दी और राष्ट्रीय जनतांत्रिक मोर्चा! सुनने में बहुत अच्छा लगता है। लेकिन सोचने की बात है जब पार्टी के नेता खुद अपने लिए हिन्दी को सम्पर्क भाषा नहीं बना पाये, तब राष्ट्रीय जनतांत्रिक मोर्चे में उसका प्रवेश वे किस द्वार से कराएँगे? मोर्चा घोषित करेगा कि भविष्य में भारत की राजभाषा होगी हिन्दी लेकिन वर्तमान काल में खुद मोर्चे की भाषा होगी—अंग्रेजी!

अंग्रेजों ने अपनी हुकूमत चलाने के लिए आई० सी० एस० अफसरों के लिए हिन्दुस्तानी सीखना अनिवार्य कर दिया था। मेरा प्रस्ताव है कि देश की सेवा के लिए—मजदूर वर्ग की एकता दृढ़ करने के लिए—कम्युनिस्ट पार्टी की नेशनल कौंसिल के सदस्य हिन्दी सीखें। यह नियम बना दिया जाय कि... जिसे हिन्दी का व्यावहारिक ज्ञान न होगा, वह राष्ट्रीय कौंसिल का सदस्य न

हो सकेगा।

योगीन्द्रजी ने 'भाषा और समाज' से एक वाक्य उद्धृत किया है जिसमें पार्टी के नेताओं द्वारा हिन्दी बोलने की तारीफ है। वाक्य है, "भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि मास्को और पेकिंग के कम्युनिस्ट सम्मेलनों में हिन्दी का व्यवहार कर चुके हैं।"

यह तारीफ मैं वापस नहीं ले रहा हूँ। निवेदन यह है कि मास्को और पेकिंग में ही नहीं, पार्टी के नेता दिल्ली में भी हिन्दी बोलें।

योगीन्द्र शर्माजी 'भाषा और समाज' के इन वाक्यों पर विचार करें "जब हम बाहर जायेंगे, किसी अन्य राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेंगे, तब (कभी कभी, हमेशा नहीं) हम हिन्दी का व्यवहार करेंगे। लेकिन अपने घर में हमारे मुखपत्र अंग्रेजी में प्रकाशित होंगे, हमारी कार्यकारिणी का अधिवेशन होगा तो उसमें विचार-विनिमय अंग्रेजी में होगा, नेताओं का अन्य नेताओं और उपनेताओं से पत्र-व्यवहार अंग्रेजी में होगा।" (पृ० ४१३)

यह आलोचना कांग्रेसी नेताओं पर ही नहीं, कम्युनिस्ट नेताओं पर भी लागू होती है।

स्तालिन, ख्रुश्चेव और मिकोयान की मातृभाषा रूसी नहीं थी। फिर भी सारे देश में राजनीतिक कार्यवाही के प्रसार और संगठन के लिए उन्होंने रूसी भाषा को अपनाया, इस तथ्य का उल्लेख करते हुए मैंने 'भाषा और समाज' में लिखा था, "भारत में हिन्दी का व्यवहार किये बिना कोई अखिल भारतीय नेता नहीं बन सकता।"(पृ० ४१४)

और भी—'लोग कहते हैं, नेहरू के बाद कोई ऐसा नेता नहीं दिखाई देता जिसकी बात सारा देश ध्यान से सुने। इसका कारण जहाँ हिन्दीभाषी प्रदेश का राजनीतिक पिछड़ापन है, वहाँ हिन्दीभाषी नेताओं द्वारा हिन्दी के प्रति उदासीनता भी है। वे हिन्दी के माध्यम से जन-साधारण में राजनीतिक कार्यवाही का महत्त्व नहीं समझ पाये।' (पृ० ४१४)

यही उदासीनता का भाव अनेक अहिन्दीभाषी नेताओं में तीव्र उपेक्षा का भाव बन जाता है। इसी उपेक्षा की निन्दा मैंने अपने एक लेख में की थी।

कम्युनिस्ट पार्टी के सामने सबसे बड़ा सवाल श्रमिक जनता की एकता का है। यह एकता अंग्रेजी के माध्यम से दृढ़ नहीं हो सकती। अंग्रेजी की प्रधानता होने से खुद कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर गरीब किसान और मजदूर जिम्मेदारी के पद नहीं सँभाल सकते। यह इतिहास का व्यंग्य है कि कुछ समय के लिए केन्द्र में अंग्रेजी कायम रखकर योगीन्द्रजी देश को गृहयुद्ध से बचाना चाहते हैं। लेकिन गृहयुद्ध की सी परिस्थिति उत्पन्न हो गई स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर। पार्टी बीच में टूटी, उसके दो हिस्से हो गये। इस परिस्थिति के लिए एक हद तक पार्टी के अन्दर वे मध्यवर्गी तत्त्व भी जिम्मेदार हैं जो अपनी अंग्रेजियत के कारण पार्टी-नेतृत्व का दरवाजा मजदूरों के लिए बन्द किये हैं।

यह परिस्थिति अब बदलनी चाहिए।

कांग्रेस सरकार ने केन्द्र से अंग्रेजी हटाने के लिए पन्द्रह साल की मियाद रखी थी। उसने अपना वादा तोड़ दिया। कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने अपने केन्द्र से अंग्रेजी हटाने के लिए कोई मियाद नहीं रखी थी। इसलिए उन पर वादा तोड़ने का आरोप भी नहीं लगाया जा सकता।

नेहरूजी ने कहा—हिन्दी अविकसित भाषा है, पहले उसे विकसित करो। फिर वह राजभाषा बनगी। पार्टी के नेताओं ने कहा—ठीक। हिन्दी को विकसित होने दो। दूसरी प्रादेशिक भाषाएँ हैं, उनके विकास पर भी रुपये खर्च होने दो। नेहरूजी ने कहा—अहिन्दी-भाषी नहीं चाहते कि अंग्रेजी हटाई जाय। पार्टी के नेताओं ने कहा—ठीक। चारा ही क्या है? फिलहाल केन्द्र में अंग्रेजी ही चले!

कांग्रेस कार्यसमिति ने प्रस्ताव पास किया कि पब्लिक सर्विस कमीशन की परीक्षाओं के लिए प्रादेशिक भाषाओं का व्यवहार भी हो सकता है। पार्टी के नेताओं ने कहा—बहुत अच्छा, यही तो हम भी चाहते थे।

इन अखिल भारतीय सेवाओं में अंग्रेजी का व्यवहार अनिवार्य होगा—इस बारे में वे चुप रहे। अपने पिछले लेख में इस प्रस्ताव की कैफियत देते हुए योगीन्द्रजी ने अंग्रेजी का नाम ही नहीं लिया, मानो अंग्रेजी से उसका कोई सम्बन्ध ही न हो!

हमें माँग करनी चाहिए कि हर स्वाधीन देश की तरह भारत के शिक्षाक्रम में भी अंग्रेजी की पढ़ाई वैकल्पिक हो। हमें माँग करनी चाहिए कि सरकार केन्द्र और राज्यों से अंग्रेजी हटाने की अवधि निश्चित करे। हिन्दी को अभी और समृद्ध करने प्रादेशिक भाषाओं को समृद्ध करने के बाद अंग्रेजी हटाने के कांग्रेसी पाखण्ड का तीव्र खण्डन करना चाहिए। यह न करके योगीन्द्रजी उसका समर्थन करते हैं। उनकी स्वतन्त्र नीति केवल इस बात में प्रकट होती है कि वे इस गलत प्रस्ताव को सच्ची सही अमल में लाने पर जोर देंगे!

पार्टी-केन्द्र से अंग्रेजी हटाने का सवाल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सवाल के जवाब से ही मालूम होगा कि क्रान्तिकारी लफ्फाजी और क्रान्तिकारी अमल में क्या फर्क है।

लेनिन की सीख—फिलहाल अंग्रेजी

लेनिनवाद के अनेक भाष्य, अनेक व्याख्याएँ संसार में प्रचलित हैं। स्तालिन ने जो कुछ किया लेनिनवाद के नाम पर। ख्रुश्चेव ने उनकी कब्र खोदी—लेनिनवादी नीति की रक्षा के नाम पर। ब्रेझनेव और कोसीगन ने ख्रुश्चेव को हटाया—लेनिनवाद को ही अमल में लाने के लिए। पेकिंग के नेता सोवियत संघ को अमरीकी साम्राज्यवाद का समर्थक कहते हैं—महान् क्रान्तिकारी लेनिन की विरासत की रक्षा करने के नाम पर। इसलिए यदि कोई भारत में कहे कि

लेनिन की यह सीख है कि फिलहाल केन्द्र में अंग्रेजी कायम रहे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

जारशाही रूस के अभिजात वर्ग में फ्रांसीसी भाषा का बहुत व्यवहार होता था। यूरोप की अन्तर्जातीय भाषा फ्रांसीसी थी। लेनिन ने यह नहीं कहा कि लोग केन्द्र में रूसी भाषा नहीं चाहते, इसलिए फिलहाल वहाँ फ्रांसीसी भाषा चलने दी जाय।

लेनिन का समाधान यह था कि किसी भी भाषा को अनिवार्य केन्द्रीय राजभाषा का पद न दिया जाय। इस समाधान को यदि भारत में लागू किया जाय तो अंग्रेजी को हटाकर उसकी जगह सभी प्रादेशिक भाषाओं को बराबरी की जगह देनी होगी।

योगीन्द्रजी इस बात की कल्पना ही नहीं करते कि केन्द्रीय राजभाषा के बिना भी काम चल सकता है। इसीलिए उन्होंने मेरे बारे में लिखा है, "किसी भाषा के ज़ोर ज़बर्दस्ती लादे जाने के वे ऐसे कट्टर विरोधी थे कि उस समय वे कानूनी राजभाषा के सिद्धान्त का ही विरोध करते थे...वे १९५०-५५ में भाषा के सवाल पर अराजकतावादी छोर पर थे

केन्द्र में अनेक राजभाषाएँ चलाने का सिद्धान्त अराजकतावादी नहीं है। लेनिन ने समाजवादी क्रान्ति के बाद न तो रूसी को केन्द्रीय राजभाषा बनाया न और किसी भाषा को। यह अराजकतावाद नहीं था।

यदि भारत के लिए हम कहें कि केन्द्रीय राजकर्मचारियों को समस्त प्रादेशिक भाषाएँ सीखनी होंगी तो यह अराजकतावादी बात होगी। किन्तु केन्द्र में सभी भारतीय भाषाओं को समानता के अधिकार देने के और भी उपाय हैं। इनमें मुख्य उपाय है अनुवाद की व्यवस्था का।

४ जुलाई के 'जनयुग' में श्री राही मासूम रजा ने यह प्रस्ताव रखा है, "केन्द्रीय सरकार के पास एक अनुवाद-विभाग हो। अन्य प्रान्तों से होनेवाले पत्रव्यवहार की भाषा तो हिन्दी हो जाय और प्रान्तीय सरकारों की भाषा उस समय तक उस क्षेत्र की भाषा बनी रहे जब तक कि वह क्षेत्र हिन्दी को स्वीकार न कर ले।"

यदि कम्युनिस्ट पार्टी के नेता एक बार यह तय कर लें कि अंग्रेजी की जगह केन्द्र में भारतीय भाषाएँ चलानी हैं तो अनुवाद की समुचित व्यवस्था क्या हो, वे यह तय कर लेंगे। केन्द्र में सभी भाषाओं को बराबरी का दर्जा देने से वे शक-शुबहे बहुत जल्दी दूर हो जाएँगे जिनके मारे योगीन्द्रजी परेशान हैं। अभी उनके पास कोई ऐसा कार्यक्रम नहीं है जिससे हिन्दी भाषा को केन्द्र में चालू करने की स्वेच्छा अहिन्दीभाषी नेताओं में उत्पन्न हो। मेरा प्रस्ताव उस 'स्वेच्छा' को उत्पन्न करने में सहायक होगा।

केन्द्र में अनेक भाषाओं के चलन का सिद्धान्त बीजरूप में कांग्रेस ने स्वीकार किया है। उसने केन्द्रीय सेवाओं की परीक्षाओं के लिए प्रादेशिक भाषाओं

को माध्यम रूप में मान्यता दी है। योगेन्द्रजी कांग्रेस के प्रस्ताव का समर्थन करते हैं। बीजरूप में अनेक राजभाषाओं के चलन की बात वह भी मानते हैं। इसलिए अंग्रेजी को हटाकर प्रादेशिक भाषाओं को केन्द्र मे जगह देने की बात उन्हें अमान्य न होनी चाहिए।

इस समय अनेक दलों के नेताओं ने यह प्रचार कर रखा है कि केन्द्र मे अंग्रेजी हटाते ही गृहयुद्ध छिड जायगा। इनमे कुछ लोग कहते हैं अंग्रेजी अनन्त काल तक रहनी चाहिए। दूसरे कहते हैं, अनन्त काल तक नहीं, अनिश्चित काल तक रहनी चाहिए यानी तब तक जब तक अहिन्दीभाषी लोग हिन्दी को स्वीकार न कर लें।

आन्ध्र के मन्त्री श्री अलपति वेंकटरामैया ने कहा है कि "हिन्दी को अंग्रेजी की जगह लेने मे पचास साल लगेंगे।" (नार्दर्न इंडिया पत्रिका, १९ फरवरी, '६५)

ये औरो से फिर अच्छे हैं। पचास साल की निश्चित अवधि की बात तो करते हैं। अनिश्चित काल वालो का राम ही मालिक है!

जनतान्त्रिक समाधान ऐसा होना चाहिए जो हिन्दीभाषियो को भी स्वीकार हो। कुछ लोगों को हिन्दी पसन्द नहीं है, औरो को अंग्रेजी पसन्द नहीं है। हिन्दी अंग्रेजी के इस संघर्ष मे लेनिनवाद का फैसला अंग्रेजी के पक्ष मे न होना चाहिए। फैसला होना चाहिए भारतीय भाषाओ के पक्ष मे।

योगेन्द्र शर्माजी की निगाह गृहयुद्ध की सम्भावना के एक पक्ष पर है। वह यह कि हिन्दी को राजभाषा बनाने से अहिन्दी भाषी विद्रोह कर देंगे। उन्होने गृहयुद्ध की सम्भावना के दूसरे पक्ष पर विचार नहीं किया। हिन्दी-भाषियो की इच्छा के विरुद्ध केन्द्र मे अंग्रेजी चलाते रहना अन्याय है। वे भी अंग्रेजी के चलने के विरुद्ध विद्रोह कर सकते हैं।

स्थिति यह है कि अंग्रेजी के प्रभुत्व के कारण दक्षिण मे द्रविड कळगम और उत्तर में जनसंघ शक्तिशाली होते जा रहे हैं। इनके शक्तिशाली होने के कारण अलग अलग हैं लेकिन भाषा समस्या से उनका गहरा सम्बन्ध है। यदि केन्द्र मे तमिल को हिन्दी के बराबर जगह दी जाय तो द्रविड कळगम को तमिल प्रेम का झण्डा उठाने का मौका न मिले।

कांग्रेसी और कम्युनिस्ट नेता जितने दिन केन्द्र मे अंग्रेजी चालू रखने की नीति का समर्थन करते हैं, उतने ही दिन वे द्रविड़ कळगम और जनसंघ को भाषा विवाद से फायदा उठाकर शक्तिशाली बनने का मौका देते हैं। जनता मे इन प्रतिक्रियावादी दलों के प्रभाव को खत्म करने का एक अचूक उपाय है, केन्द्र में अंग्रेजी की जगह प्रादेशिक भाषाओं का व्यवहार।

यह अस्थायी समाधान है। जब तक अहिन्दीभाषी लोग केन्द्र मे हिन्दी का चलन स्वीकार न करें, तब तक यह समाधान लागू करना चाहिए।

तर्क-पद्धति और निष्कर्ष

मैं समझता हूँ कि कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी और अन्य जनवादी पार्टियाँ मिलकर प्रयत्न करें तो अगले पाँच वर्षों में वे हिन्दी को केन्द्रीय राजभाषा बना सकती है। द्रविड़ कळगम और स्वतन्त्र पार्टी इतनी समर्थ नही हैं जितनी वे मालूम होती हैं। उन्होने जनता के मातृभाषा-प्रेम से लाभ उठाकर उसे बरगलाया है। यदि उस जनता को बताया जाय कि केन्द्रीय सेवाओं के लिए अहिन्दी-भाषियों को हिन्दी सीखनी होगी और हिन्दीभाषी अफसरों को वैसे ही एक अहिन्दीभाषा का ज्ञान प्राप्त करना होगा, तो जनता के गुमराह अंशो को राह पर लाया जा सकता है।

लेकिन केन्द्रीय सेवाओं के हिन्दीभाषी उम्मीदवार एक अहिन्दीभाषा का ज्ञान प्राप्त करें—मेरे इस प्रस्ताव पर योगीन्द्रजी ने ध्यान ही नही दिया, उस पर एक शब्द भी नही कहा। तब कांग्रेसी नेताओं से मैं क्या आशा करूँ?

इसलिए मैंने अपने लेख में यह विकल्प रखा है कि केन्द्र में हिन्दी के साथ अन्य भाषाओं का व्यवहार भी हो। इससे पहले भी मैंने 'जनशक्ति' में लिखा था, 'समस्या का एक ही हल है केन्द्र मे हिन्दी हो, राज्यों मे प्रादेशिक भाषाएँ। इस पर भी यदि कोई कहे कि अंग्रेजी हटाने से अहिन्दी भाषाओं का दमन हुआ तो निवेदन है, लोकसभा मे सभी भाषाएँ चलाइए। हम इस बात का मोह नही है कि भारत सरकार का काम हिन्दी मे हो। घृणा इस बात से है कि उसका काम अंग्रेज़ी मे होता है। केन्द्र मे चाहे एक भारतीय भाषा चलाइए, चाहे दस विदेशी भाषा अंग्रेज़ी को निकालिए।"

लोकसभा के लिए मैंने विशेष रूप मे लिखा था, 'लोकसभा मे अहिन्दी-भाषी नेता शौक से अपनी अपनी भाषाएँ बोलें। हिन्दी भाषी नेता हिन्दी में बोलें। कम्युनिस्ट सदस्य अपने व्यवहार से इस नीति की मिसाल कायम करें।"

मेरे यह सब लिखने पर भी योगीन्द्र शर्माजी ने बड़े आग्रह से यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मैं अहिन्दी भाषाओं को दवाना और केन्द्र मे ज़बर्दस्ती हिन्दी चलाना चाहता हूँ।

उन्होंने १४ मार्च के धर्मयुग मे प्रकाशित मेरे लेख का दो बार हवाला दिया है। यह लेख उन्हे विशेष उपयोगी जान पड़ता है, उसमे गृहयुद्ध की ललकार उन्हें ज्यादा स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

मैंने लिखा था "यह संघर्ष हिन्दी तमिल का नही है, अंग्रेज़ी और समस्त भारतीय भाषाओं का है। हिन्दी-तमिल-विरोध के बड़े घातक परिणाम हो सकते हैं। एक बार गृहयुद्ध की आग भड़कने पर उसे रोकना असम्भव हो जाएगा।"

गृहयुद्ध की ललकार का इससे अधिक पुष्ट प्रमाण और क्या होगा?

मैंने लिखा था, 'भारतीय भाषाओं को उनके उचित अधिकार दिलाने के लिए जरूरी है कि सबसे पहले हिन्दी-भाषी प्रदेश मे अंग्रेज़ी को राजभाषा और सांस्कृतिक भाषा के पद से हटा दिया जाय।"

योगीन्द्रजी का विचार है कि मैं भारतीय भाषाओं के अधिकारों को कुचलकर हिन्दी को राजभाषा बनाने के पक्ष में हूँ !

मैंने लिखा था, "इसके बाद जिस दिन हिन्दीभाषी जनता सगठित होकर अपने लोकसभा के प्रतिनिधियों को हिन्दी मे बोलने और सारा राजकाज हिन्दी मे करने के लिए बाध्य करेगी, उस दिन अंग्रेजी का साम्राज्यवाद खत्म होगा, उस दिन तमिलनाडु मे तमिल भी अपना पूर्ण स्वत्व प्राप्त करेगी और राष्ट्रीय एकता को दृढ करने मे हिन्दीभाषी जनता अपनी भूमिका पूरी करेगी।"

यह वाक्य उन्होंने उद्धृत किया है लेकिन उसका वह टुकडा निकालकर जिसमे तमिल के पूर्ण स्वत्व प्राप्त करने की बात है। कारण स्पष्ट है। पूरा वाक्य उद्धृत करने से मुझ पर तमिल-दमन का आरोप लगाने मे असुविधा होती।

वह अश निकाल देने पर भी गृहयुद्ध की ललकार का आरोप लगाना सरल नही था। इसलिए उन्होंने 'लेकिन यदि' का सहारा लिया—"लेकिन यदि यही बात पूरे देश के लिए कही जाय तो..." इस तरह 'लेकिन यदि' लगाकर किसी भी वाक्य से कोई भी नतीजा निकाला जा सकता है।

योगीन्द्रजी ने मुझ पर यह आरोप लगाया है कि अजय घोष के लेख मे मैंने वे बातें छोड दी हैं जो मेरी नीतियों के विरुद्ध हैं। ये कौन-सी बातें हैं ? अजय घोष के लेख से उन्होंने जो अंश उद्धृत किया है उसमे कहा गया है भाषा-आयोग के सदस्य प्रादेशिक भाषाओं को एक अभिशाप के रूप मे देखते हैं। वे नही मानते कि भारत बहुभाषी देश है। उन्होंने जनतन्त्र के इस प्रारम्भिक सिद्धान्त को विचार मे बाहर रखा है कि शासन, विधि न्याय की भाषा, प्रत्येक क्षेत्र मे सभी स्तरों पर वह भाषा होनी चाहिए जिसको जनता आम तौर पर बोलती और समझती है।

योगीन्द्रजी का विचार है कि मैं अजय घोष की उपर्युक्त नीति का विरोधी हूँ यानी प्रदेशों मे वहाँ की भाषाओं के बदले हिन्दी का ही चलन करना चाहता हूँ।

'जनशक्ति' मे मैंने लिखा था—

(क) "भारत मे भाषावार राज्य बनाने का आन्दोलन चला। हर प्रदेश मे उसकी शिक्षा और सस्कृति का विकास उसकी भाषा के माध्यम से हो, यह मॉग सही थी।"

(ख) 'जिस तरह हर प्रदेश मे उसकी अपनी भाषा को सभी अधिकार मिलने चाहिए, वैसे ही इन सबको जोडनेवाली राष्ट्रभाषा हिन्दी को भी केन्द्र में पूर्ण अधिकार मिलने चाहिए।"

(ग) "इस पर भी यदि कोई कहे कि अंग्रेजी हटाने से अहिन्दी भाषाओं का दमन होता है तो निवेदन है, लोकसभा मे सभी भाषाएँ चलाइए।"

अजय घोष ने अहिन्दी भाषाओं को केवल प्रदेशों मे पूर्ण अधिकार देने की

बात कही थी। मैं उन्हे केन्द्र मे हिन्दी के बराबर स्थान देने की बात कहता हूँ। लेकिन विरोधी आलोचकों का मुँह बन्द करने के लिए योगीन्द्र शर्माजी ने सीधी रणनीति निकाली है। उन पर अन्ध हिन्दी राष्ट्रवाद का आरोप लगा दो, केन्द्र मे फिलहाल अंग्रेजी चलाने की नीति अपने आप सही साबित हो जाएगी।

मैंने लिखा था, "अंग्रेजी कायम रखने के लिए जो विशाल संयुक्त मोर्चा बना है, उसमे स्वतन्त्र दल के नेता हैं, द्रविड़ कळगम वाले हैं। कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी के अनेक नेता भी इसमे हैं।" योगीन्द्रजी ने अनेक का अर्थ किया सम्पूर्ण और नाराज होकर लिखा, 'इन्ही की पंक्ति मे सम्पूर्ण कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी को खड़ा कर देना भारतीय राष्ट्रीयता और जनतन्त्र को कलंकित करना है, सच्चाई के मुँह पर तमाचा मारना है।"

१७ फरवरी, '६५ को पी० टी० आई० द्वारा नई दिल्ली से प्रसारित समाचार के अनुसार ३४ संसद-सदस्यों ने एक बयान जारी किया जिसमे कहा गया था कि संविधान की वह धारा बदल देनी चाहिए जिसमे हिन्दी को राजभाषा घोषित किया गया है। पी० टी० आई० के अनुसार इन संसद सदस्यों मे कम्युनिस्ट पार्टी, द्रविड़ कळगम, स्वतन्त्र पार्टी, आर० एस० पी० तथा मुस्लिम लीग के नेता थे।

योगीन्द्र शर्माजी विचार करें, भारतीय राष्ट्रीयता और जनतन्त्र को कौन कलंकित करता है, सच्चाई के मुँह पर तमाचा कौन मारता है।

मैंने कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं की भाषा नीति की आलोचना की थी। इसे उन्होंने 'हिन्दी भाषा और भारत देश को शाप' देना कहा है।

गद्य म अतिशयोक्ति अलंकार उन्हे बहुत प्रिय है और उसके व्यवहार पर वह कोई भी प्रतिबन्ध लगाना अनुचित समझते हैं।

'भाषा और समाज' से लम्बा उद्धरण देकर उन्होंने यह नतीजा निकाला है कि पहले मैं पंडिताऊ हिन्दी का विरोधी था, अब उसका समर्थक हो गया हूँ। अपनी रणनीति के अनुसार मेरी पुस्तक के वे अंश उन्होंने छोड़ दिए हैं जहाँ मैंने सुगढ़ पारिभाषिक शब्दों के निर्माण की प्रशंसा की थी। मैंने लिखा था—

'लेकिन पारिभाषिक शब्दावली म ऐसे भी बहुत से शब्द हैं जो बोलने मे हिन्दी प्रवृत्ति का उल्लंघन नही करते और जिनके लिए विश्वास से कहा जा सकता है कि वे अवश्य लोकप्रिय होंगे। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित कृषि सम्बन्धी शब्दावली से हम कुछ शब्द ले सकते हैं।" (पृ० ४३३)

खास बात यह है कि मैंने उन लोगों का विरोध किया था जो पारिभाषिक शब्दावली को असन्तोषजनक बताकर केन्द्र मे अंग्रेजी चलाते रहने का समर्थन करते थे। मैंने लिखा था—

'हिन्दी मे काफी पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो चुका है। इनमे बहुत से अपने-अपने विषय की हिन्दी पुस्तकों में व्यवहृत भी होते हैं। जहाँ तक राजकाज

का सम्बन्ध है, इस विषय के शब्दों का निर्माण विज्ञान की शब्दावली बनाने से आसान है। इसलिए विज्ञान में चाहे हिन्दी का प्रयोग कुछ दिन रुका भी रहे, राजभाषा के रूप में हिन्दी का व्यवहार रुके, इसका कोई कारण नहीं है।"

(पृ० ४३३)

योगीन्द्रजी ने इससे उल्टा निष्कर्ष निकाला है।

इस तरह की तर्क-पद्धति वे अपनाते हैं जो हठधर्मी से गलत नीति को भी सही साबित करने के लिए कमर कस लेते हैं। इस तरह विरोधी आलोचकों की बातों को तोड़-मरोड़कर पेश करने से जनवादी तत्त्वों में एकता स्थापित नहीं की जा सकती।

योगीन्द्रजी ने अन्ध-राष्ट्रवाद की बात बहुत बार की है। वह 'भाषा और समाज' के इस वाक्य पर भी गौर करें—

"वर्तमान अन्ध राष्ट्रवाद की विशेषता यह है कि वह दूसरी भारतीय भाषाओं के प्रति घृणा फैलाता है और अंग्रेजी को गले लगाता है।" (पृ० ४२५)

मैं चाहता हूँ कि पार्टी के नेताओं में हिन्दी के प्रति जो उपेक्षा-भाव है, वह खत्म हो। वे अपने सिद्धान्त और व्यवहार में एकता स्थापित करें। शासन-केन्द्र में चाहे एक भाषा चलाएँ चाहे अनेक, निश्चित अवधि में अंग्रेजी का चलन बन्द हो—यह माँग करें। अंग्रेजी को अनिश्चित काल के लिए भारत की राजभाषा बनाकर राष्ट्रीय जनतान्त्रिक मोर्चे का निर्माण नहीं हो सकता।

(१९६५)

३७

देश का विघटन और अंग्रेज़ी

एक जमाना था जब लोग समझते थे कि अंग्रेजी सभी भारतीय भाषाओं पर साम्राज्यवादियों द्वारा लादी हुई भाषा है। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान किसी भी देशभक्त को इस बारे में शक नहीं था कि अंग्रेजी की गुलामी अंग्रेजों की ही गुलामी का एक अंग है। उस समय राष्ट्रीय नेता मानते थे कि अंग्रेजी का प्रभुत्व राष्ट्रों के लिए अपमानजनक है। वे जानते थे कि अंग्रेजी शिक्षा के कारण देश की शक्ति और धन का अपार अपव्यय होता है। वे कहते थे कि देश पर मुट्ठी-भर अंग्रेजी-पढ़े हुकूमत करें, यह जनतन्त्र का मजाक है। उस जमाने में राष्ट्र के नेता भाषा की समस्या पर आम जनता के दृष्टिकोण से विचार करते थे। वे घोषित करते थे कि राष्ट्रीय एकता का अर्थ है भारत के करोड़ों श्रमिक जनों की एकता। यह एकता हिन्दी और केवल हिन्दी के द्वारा कायम हो सकती है।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद वे बातें अब पुरानी हो गईं। जो अंग्रेजी की हिमायत करता है, वह उदार और प्रगतिशील माना जाता है। जो अंग्रेजी हटाने की बात करता है, वह पुराणपन्थी और हिन्दी उन्मादी कहलाता है। राष्ट्रीय एकता के लिए सबसे आवश्यक है अंग्रेजी ! अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के लिए एकमात्र विश्वभाषा है अंग्रेजी ! ज्ञान-विज्ञान के लिए अनिवार्य माध्यम है अंग्रेजी !

अब राष्ट्रीय एकता का अर्थ जन-साधारण की एकता नहीं है। राष्ट्रीय एकता का अर्थ है अंग्रेजी-पढ़े नेताओं और नौकरशाहों की एकता। अब राष्ट्रीय एकता का प्रश्न जुड़ा हुआ है अखिल भारतीय नौकरियों के साथ।

तमिलनाडु में इतना उत्पात हुआ, तमिल की रक्षा के लिए ? नहीं, लोगों को भय दिखाया गया कि सरकारी नौकरियाँ हथिया लेंगे हिन्दीवाले, दक्षिण-वाले टापते रह जाएँगे। हिन्दी के अत्याचार से बचने के लिए कुछ लोगों ने सुझाव दिया कि हर राज्य के लिए नौकरियों का 'कोटा' निश्चित कर दिया जाय।

पिछले छह: महीने से यह नौकरियों का सवाल अंग्रेज़ी-पढ़े बाबुओं के सामने है। उनके लिए यह सबसे महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्या है। अंग्रेज़ी-पढ़ा नौकरशाह वर्ग आम जनता से कितनी दूर है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इस समुदाय के सामने भाषा-समस्या का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है—नौकरी!

देश की राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस के नेता भाषा-समस्या पर विचार करते हैं तो उनके सामने मुख्य प्रश्न होता है: अखिल भारतीय नौकरियों की परीक्षाएँ कितनी भाषाओं में होंगी!

यह मानते हुए कि अपनी जगह नौकरियों की समस्या का भी महत्व है, हमें राष्ट्रीय एकता के प्रश्न को सरकारी नौकरियों के दायरे में बन्द न कर देना चाहिए। विभिन्न प्रदेशों की श्रमिक जनता की एकता किस तरह कायम की जाय, शासन-तन्त्र में आम जनता किस तरह भाग ले, राज्यसत्ता कुछ ऊपरवाले निहित स्वार्थों के हाथ में कठपुतली बनकर न रह जाय—भाषा की समस्या पर विचार करते हुए इन प्रश्नों को हमेशा सामने रखना चाहिए।

कांग्रेस कार्यसमिति ने फ़ैसला किया है कि अखिल भारतीय नौकरियों की परीक्षाएँ अंग्रेज़ी, हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं में होंगी। कुछ पर्चे अंग्रेज़ी और हिन्दी में अनिवार्य होंगे। जिन उम्मीदवारों की भाषा हिन्दी होगी, उनके लिए एक पर्चा किसी अहिन्दी भाषा में होगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक राज्य की भाषा, शासन और शिक्षा का माध्यम बनेगी। हिन्दी-शिक्षण के स्तर को ऊँचा किया जाएगा। "अंग्रेज़ी ऐसी भाषा के रूप में पढ़ाई जाती रहेगी, जिसकी महत्वपूर्ण भूमिका है।" तीन भाषाएँ सीखने की नीति दृढ़ता से लागू की जाएगी। हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का विकास किया जाएगा।

जिन लोगों ने कांग्रेस कार्यसमिति के फ़ैसले का स्वागत किया है, उनका विचार है कि अब अंग्रेज़ी की जगह प्रादेशिक भाषाओं का चलन हो जाएगा।

इस आशा का आधार क्या है?

प्रादेशिक भाषाएँ केवल परीक्षाओं का माध्यम बनेंगी, केन्द्रीय राजकाज का माध्यम नहीं। राजकाज होगा अंग्रेज़ी में। अखिल भारतीय सेवाओं में यह तो होगा नहीं कि परीक्षा में जिसका माध्यम तमिल है, उसे नौकरी तमिलनाडु में ही करनी होगी। अखिल भारतीय नौकरियों का मतलब ही यह है कि किसी भी अफ़सर को एक राज्य से दूसरे राज्य में भेजा जा सकता है। तब यह विभिन्न प्रदेशों का कार्य किस भाषा में होगा? क्या तमिलभाषी अफ़सर दिल्ली में अपना दफ़्तर तमिल में चलाएगा? या बँगलाभाषी अफ़सर मद्रास में अपना काम बँगला में करेगा?

स्पष्ट है कि अखिल भारतीय नौकरियों का माध्यम अंग्रेज़ी ही रहेगी।

कांग्रेस कार्यसमिति ने यह फ़ैसला नहीं किया कि केन्द्रीय सरकारी नौकरियों में अंग्रेज़ी की जगह प्रादेशिक भाषाओं का व्यवहार होगा। फ़ैसला यह किया है कि परीक्षाओं में अंग्रेज़ी के साथ प्रादेशिक भाषाएँ भी माध्यम बन सकती हैं।

इसलिए यह आशा लगाना व्यर्थ है कि केन्द्रीय राजकाज में अंग्रेज़ी की जगह प्रादेशिक भाषाओं का व्यवहार होने लगेगा, या अंग्रेज़ी के साथ उन्हें यही बालिश्त भर जगह भी मिल जाएगी।

परीक्षाओं के लिए भी प्रादेशिक भाषाओं को अनिवार्य माध्यम नहीं बनाया गया। माध्यम बनने के लिए उन्हें विकसित होना है, अपने प्रदेश में राजभाषा बनना है, विश्वविद्यालयों में उच्चतम शिक्षा का माध्यम बनना है। बनने-बनाने का यह सारा क्रम कब समाप्त होगा, इसकी कोई अवधि निश्चित नहीं की गई।

भारत सरकार पन्द्रह साल से हिन्दी के विकास में लगी है, लेकिन अभी कहीं उस विकास का छोर नहीं दिखाई देता। बड़े-बड़े कोश बन जाने के बाद भी कार्यसमिति के प्रस्ताव में हिन्दी को अभी और विकसित करने की बात कही गई है।

यह अद्भुत राष्ट्रभाषा प्रेम है! हिन्दी के विकास से वह कभी सन्तुष्ट नहीं होता। विकास के अपूर्ण होने से वह अंग्रेज़ी को ही राष्ट्रभाषा बनाए रहता है।

प्रादेशिक भाषाओं के प्रेमी समझ लें, उन्हें अपनी भाषाओं के विकास के लिए कितनी लम्बी प्रतीक्षा करनी होगी।

प्रादेशिक भाषाओं को पन्द्रह साल से यह अधिकार प्राप्त है कि वे उच्च शिक्षा का माध्यम बनें, प्रदेशों की राजभाषा बनें। लेकिन इस अधिकार का उपयोग क्यों नहीं हुआ? कांग्रेस के प्रस्ताव में कहीं इस बात की कैफियत नहीं दी गई कि, हर राज्य में शासन की बागडोर कांग्रेस के हाथ में होने पर भी, उस अधिकार का पूरी तरह उपयोग क्यों नहीं किया गया।

जिस अधिकार का उपयोग पन्द्रह साल में नहीं हुआ, इस प्रस्ताव के बाद उसका उपयोग होगा ही, इसका क्या प्रमाण है? इसके विपरीत उसका उपयोग आगे भी न होगा, इसका प्रमाण है।

केन्द्र में जब तक अंग्रेज़ी का बोलबाला रहेगा, तब तक राज्यों में प्रादेशिक भाषाओं को पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। अंग्रेज़ी पढ़ा उम्मीदवार पहले अखिल भारतीय अफसर बनने की कोशिश करता है। इस कोशिश में असफल होता है तब प्रादेशिक अफसर बनने का प्रयत्न करता है। यहाँ भी नाकामयाब रहा तो मास्टरी या क्लर्की करता है। स्थिति यह है कि रेल, बैंक, डाक, तार, फौज, पुलिस, प्राइवेट फर्म—कहीं भी मामूली नौकरी अंग्रेज़ी के बिना नहीं मिलती। लाखों नौजवान हर साल फेल होते हैं, अंग्रेज़ी की वजह से। देश में शिक्षा बेहद महँगी है अंग्रेज़ी के कारण।

इसलिए जो लोग धन और श्रम शक्ति के इस अपव्यय को बन्द करना चाहते हैं, जो राज्यों में प्रादेशिक भाषाओं को उनके पूर्ण अधिकार दिलाना चाहते हैं उनके सामने एक ही कर्तव्य हो सकता है—केन्द्र में अंग्रेज़ी के प्रभुत्व को खत्म करना।

जो लोग सोचते हैं कि केन्द्र मे अंग्रेजी के हटने से नौकरियाँ हिन्दीवालों को ज्यादा मिल जाएँगी, उनका भय दूर करना कठिन नही है। हिन्दीभाषी उम्मीदवारों के लिए एक आधुनिक अहिन्दी भाषा का ज्ञान अनिवार्य कर देना चाहिए। कांग्रेस कार्यसमिति के प्रस्ताव मे यह नियम शामिल किया गया है कि हिन्दीभाषियो के लिए एक पर्चा अहिन्दी भाषा का होगा। देश की भावात्मक एकता के लिए मुख्य जोर आधुनिक प्रादेशिक भाषाएँ सीखने पर होना चाहिए।

किन्तु कांग्रेस के तीन भाषा वाले सूत्र मे मुख्य जोर है अंग्रेजी पर। इसीलिए उस सूत्र को अमल म लाना कठिन होता है। वह जिस तरह अमल मे लाया गया है, उससे किसी को सन्तोष नही है। सन्तोष इसलिए नही है कि अमल में लानेवालो की निगाह अंग्रेजी पर पहले है, हिन्दी और भारतीय भाषाओ पर बाद को।

श्री सादिक अली कांग्रेस के जाने माने नेता है। कांग्रेस के सगठन-कार्य से उनका विशेष सम्बन्ध रहा है। उन्होंने कार्यसमिति के प्रस्ताव की व्याख्या करते हुए ७ जून के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' म एक लेख लिखा है। उसमे उन्होंने स्पष्ट कहा है कि तीन भाषाओं वाला फार्मूला लागू करने से अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार और भी अधिक होगा।

लिखा है "सन्देहवादी लोग कह सकते हैं कि तीन भाषाओं वाले फार्मूले को कारगर तरीके से लागू करने की गुजाइश कम है। इसके बारे मे मैं कुछ नही कह सकता। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि तीन भाषाओ वाले फार्मूले मे अंग्रेजी वाला हिस्सा कारगर तरीके से जरूर लागू किया जाएगा।"

अंग्रेजी, और अधिक अंग्रेजी—यह है हमारे राष्ट्रीय नेताओ का दृष्टिकोण।

श्री सादिक अली का विचार है, 'यह अच्छी बात है कि हमारे विद्यार्थियो मे अंग्रेजी जानने की व्यापक इच्छा है।"

ऐसा है तो अंग्रेजी वैकल्पिक कर दीजिए। फिर देखिए, कितने लोग अंग्रेजी पढ़ते हैं। आगरा विश्वविद्यालय ने जब से बी० एस सी की परीक्षाओ म अंग्रेजी को वैकल्पिक कर दिया है, तब से लगभग नब्बे फी सदी विद्यार्थियों ने 'जनरल इंग्लिश' की परीक्षा देना बन्द कर दिया है।

श्री सादिक अली का मत है, "सही दृष्टिकोण यह है कि अंग्रेजी को उसका न्यायोचित स्थान (राइटफुल प्लेस) दिया जाय जिसमे देश की सम्मिलित इच्छा शक्ति के सहारे वह फले-फूले। इस तरह उसके सामने ज्यादा सुन्दर, ज्यादा महान, ज्यादा रचनात्मक भविष्य होगा।"

न्यायोचित स्थान देना है अंग्रेजी को। रचनात्मक भविष्य है अंग्रेजी का। देश की सम्मिलित इच्छाशक्ति सहारा देगी अंग्रेजी को।

शासक वर्ग अपनी भाषा-नीति किस उद्देश्य से निर्धारित कर रहा है, यह श्री सादिक अली के वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है।

सार्वभौम सत्ता होगी अंग्रेजी की। प्रादेशिक भाषाएँ होगी उसकी [illegible]

उद्देश्य और इच्छाओ के अलावा हिन्दी अहिन्दीभाषी राज्यों को यह अधिकार प्राप्त है कि जब तक विधान-सभा, लोक सभा तथा राज्य सभा मे उनके प्रतिनिधि अपने भारी बहुमत से अंग्रेजी हटाने का प्रस्ताव पास न करें तब तक—यानी अनिश्चित काल के लिए—अंग्रेजी ही भारत की राष्ट्रभाषा रहेगी।

इस पर भी कुछ लोगो को यह दु स्वप्न होता है कि काग्रेस के प्रस्ताव से हिन्दी साम्राज्यवाद के लिए रास्ता साफ हो गया है। यदि लोकसभा यह प्रस्ताव पास कर दे कि भारत मे सदा-सर्वदा के लिए अंग्रेजी एकमात्र राजभाषा रहेगी, तब भी ये लोग कहेंगे, उत्तरवाले दक्षिणवालो पर राज्य कर रहे है। जिन लोगो की नीति है कि हर बहाने 'द्रविड-भारत' को 'आर्य-भारत' से अलग कर दिया जाय, वे अंग्रेजी के बारे मे किसी भी आश्वासन से सन्तुष्ट नही हो सकते।

अंग्रेजी की जड मजबूती से जमी है। काग्रेस कार्यसमिति के प्रस्ताव को कानूनी रूप देने से वह और भी पुख्ता हो जाएगी। किसी को यह भय न होना चाहिए कि प्रादेशिक भाषाओ को नये अधिकार मिल गए हैं और अब अंग्रेजी के अभाव मे राष्ट्रीय एकता छिन्न भिन्न हो जाएगी।

यदि अंग्रेजी से राष्ट्रीय एकता दृढ होती थी तो भविष्य मे वह और भी सुदृढ हो जाएगी।

किन्तु क्या सचमुच अंग्रेजी से राष्ट्रीय एकता दृढ होती है?

सन '४७ मे जब एक राष्ट्र से दो राष्ट्र बने, तब अंग्रेजी-पढे लोग ही विघटनकारी प्रचार के अगुआ थे। बम्बई मे सयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन के दौरान गुजरातियो और मराठी-भाषियो मे सघर्ष हुआ। इसके नेता भी अंग्रेजी पढे लोग थे। असम मे बगालियो और असमियो के बीच दगे हुए। यहा भी भाषा सम्बन्धी आन्दोलन के नेता थे अंग्रेजी पढे भद्र लोग। तमिलनाडु मे जो उत्पात हुआ, उसके सूत्रधार अंग्रेजी-प्रेमी सज्जन थे। कश्मीर मे अलगाव के नेता विलायत जाकर अंग्रेजो मे भाषण देनेवाले लोग है। नागालैण्ड के अलगाव पन्थी नेता विलायत ही मे निवास करते है।

अंग्रेजी पढा वर्ग भारत मे विघटन प्रक्रिया रोकने मे असमर्थ है। इसलिये राजनीतिज्ञ राष्ट्रीय एकता कायम रखने के लिए जितना ही इस समुदाय का भरोसा करते हैं उतना ही विघटनकारी शक्तियां प्रबल होती जाती है।

राष्ट्रीय एकता को दृढ करने का दूसरा तरीका है जन-साधारण का भरोसा करना, फौलाद ढालनेवालो और अन्न पैदा करनेवालो की एकता के बल पर राष्ट्र को मजबूत करना। इस तरह की स्थायी और अपराजेय एकता हिन्दी से कायम हो सकती है, अंग्रेजी से नही।

काग्रेस कार्यसमिति के प्रस्ताव मे इस तरह की एकता पर ध्यान नही दिया गया। उसमे भरोसा किया गया है अखिल भारतीय सेवाओ मे लगे हुए नौकरशाहो का। प्रस्ताव मे एकता का माध्यम हिन्दी नही, अंग्रेजी है। अंग्रेजी को हटाने के लिए कोई अवधि निश्चित नही की गई। इसलिए इस प्रस्ताव का विरोध

ही किया जा सकता है, स्वागत नहीं।

तमाम प्रादेशिक भाषाओं को अंग्रेजी की गुलामी से मुक्त करने के दो उपाय हैं—

(१) केन्द्र मे अंग्रेजी की जगह हिन्दी हो, राज्यो मे प्रादेशिक भाषाएँ राजभाषा हो,

(२) राज्यों मे तो प्रादेशिक भाषाएँ राजभाषा हो ही, केन्द्र मे भी अंग्रेजी की जगह उन सबका व्यवहार हो।

पहला उपाय ज्यादा व्यावहारिक है, सविधान के अनुकूल है। अनेक राजनीतिक दल उसका समर्थन भी करते हैं। किन्तु जब प्रश्न उठता है, कब तक अंग्रेजी हटाई जाएगी, तब परिवर्तन की अवधि अनिश्चित हो जाती है। नेताओ के सामने सीधा-सा बहाना है। अहिन्दीभाषी नहीं चाहते कि हिन्दी केन्द्रीय राजभाषा हो, इसलिए फिलहाल अंग्रेजी ही चलेगी।

ऐसी स्थिति मे अंग्रेजी हटाने के दूसरे उपाय पर भी विचार कर लेना चाहिए। यह उपाय कठिन है, व्यय-साध्य है, किन्तु असम्भव नहीं है। स्विटजरलैण्ड मे जर्मन, फ्रांसीसी और इतालवी को समान अधिकार प्राप्त हैं। हमारे यहाँ भी केन्द्र म सभी भारतीय भाषाओं का चलन हो सकता है।

कांग्रेस के नेता कहते हैं जब तक अहिन्दीभाषी राज्य हिन्दी को स्वीकार नही करते, तब तक केन्द्र मे अंग्रेजी चलेगी।

हिन्दीभाषी जनता उनसे कह सकती है जब तक अहिन्दीभाषी राज्य हिन्दी को स्वीकार नही करते, तब तक केन्द्र में सभी भारतीय भाषाओ का व्यवहार होने दीजिए।

यदि देश के नेताओं को प्रादेशिक भाषाओ से सच्चा प्रेम है तो वे केन्द्र मे अंग्रेजी की जगह उनका व्यवहार क्यो नही करते ?

यदि भाषाओ के अवि सित होने का सवाल हो, तो कमीशन बिठाकर इस बात की जाँच कराएँ कि भारतीय भाषाओ के विकास मे कौन-सी कमी रह गई है।

जो नेता भारतीय भाषाओ के अविकसित होने से परेशान हैं, उन्हें अपनी शिक्षा के स्तर पर भी ध्यान देना चाहिए।

विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र मे पारिभाषिक शब्दो से सम्बन्धित कठिनाई हो सकती है। लेकिन यहाँ सवाल राजकाज के लिए भारतीय भाषाओ के व्यवहार का है। क्या लोकसभा मे आज तक कोई ऐसा भाषण हुआ है जिसके लिए अंग्रेजी ही माध्यम बन सकती थी, जिसकी विषयवस्तु प्रकट करने की क्षमता भारतीय भाषाओं मे नहीं थी ? क्या इस बात पर विश्वास किया जा सकता है कि जिन भाषाओ मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्य भारती, वल्लत्तोल, प्रेमचन्द आदि ने अपनी महान् साहित्यिक रचनाएँ की हैं, उनमे श्री लालबहादुर शास्त्री या श्री हीरेन मुकर्जी या अन्य राजनीतिज्ञ अपना मन्तव्य प्रकट नहीं कर सकते ?

असल में बात यह है कि अधिकांश राजनीतिक पार्टियाँ अपने जन्मकाल से अब तक अपना अखिल भारतीय राजनीतिक कार्य अंग्रेजी में ही करती रही हैं। इनके नेता तरह-तरह के बहाने करते हैं, अपने अनुयायियों को तरह-तरह से बहकाते हैं। वे अपने दफ्तरों से अंग्रेजी निकाल नहीं पाते। जब तक जनता इनके दफ्तरों के सामने प्रदर्शन न करेगी, इनके केन्द्रीय भवनों से अंग्रेजी निकालने के लिए इन पर दबाव न डालेगी, तब तक ये नेता अपनी नीति से बाज न आएँगे। भारतीय जनतन्त्र के सचालक ये ही लोग हैं। वे अपने पार्टी-कार्यों में अंग्रेजी से चिपके हुए हैं। तब सरकारी दफ्तरों और विश्वविद्यालयों से अंग्रेजी क्या खाकर निकालेंगे ?

इस समय नेता लोग देश में हवा बाँधे हैं कि अंग्रेजी के बिना न राष्ट्रीय काम चल सकता है, न अन्तर्राष्ट्रीय। यह हवा सिर्फ ऊपर-ऊपर है। गरीब जनता का काम तो अंग्रेजी के बिना ही चलता है। ऐसी हालत में जो राजनीतिक पार्टी अपने केन्द्रीय राजकाज में अंग्रेजी का चलन खत्म करती है, वह देश की बहुत बड़ी सेवा करती है। वह लोगों में आत्मनिर्भरता की चेतना दृढ़ करती है। वह अंग्रेजी प्रेमियों को दिखला देती है कि अंग्रेजी के बिना भी काम चल सकता है।

श्री कामराज नाडार कांग्रेस के अध्यक्ष होते हुए भी तमिल में भाषण करते हैं। इससे देश में विघटन पैदा नहीं हो गया। क्या ही अच्छा हो यदि राष्ट्रसंघ में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता एक बार श्री कामराज हों और वहाँ जाकर तमिल में भाषण करें।

सोवियत संघ के प्रतिनिधि मन्यूल्स्की ने एक बार राष्ट्रसंघ के सामने उक्रैनी में भाषण किया था। तब श्री कामराज वहाँ तमिल में भाषण क्यों नहीं कर सकते ? मिस्र के अध्यक्ष श्री नासिर राष्ट्रसंघ के सामने अरबी में भाषण कर सकते हैं तो हमारे सम्मान्य प्रधानमन्त्री अफ्रीकी एशियाई सम्मेलन के सामने हिन्दी में भाषण क्यों नहीं कर सकते ? भारतीय भाषाओं के व्यवहार से अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारा कमजोर नहीं होता, वरन् मित्र-देशों में हमारी प्रतिष्ठा बढ़ती है। पिछले दिनों जब प्रधानमन्त्री सोवियत संघ गए, तब जगह-जगह हिन्दी वाक्यों से सजे हुए बन्दनवारों से उनका स्वागत किया गया। इससे सोवियत-भारत मैत्री कमजोर नहीं हो गई।

क्या ही अच्छा होता यदि कांग्रेस कार्यसमिति स्वयं अपने लिए एक प्रस्ताव पास करती कि भविष्य में उसका काम अंग्रेजी में न होगा, भारतीय भाषाओं में ही होगा !

भारतीय जनतन्त्र के कर्णधार हमारे सीमित साहित्यिक अनुभव की ओर भी दृष्टिपात कर लें।

भारतीय भाषाओं ने एक-दूसरे को प्रभावित किया है, विभिन्न प्रदेश सांस्कृतिक स्तर पर एक दूसरे के निकट आए हैं; रवीन्द्रनाथ ठाकुर से लगभग

सभी आधुनिक भाषाओं के लेखक न्यूनाधिक प्रभावित हुए हैं, शरत्चन्द्र और प्रेमचन्द की रचनाओं से करोडो पाठक परिचित हैं—यह सब अंग्रेजी के कारण सम्भव नहीं हुआ। जो गीत श्रीनगर से कन्याकुमारी तक—और देश की सीमाएँ पार करके पेशावर से सिंहल तक—गूँजे हैं, वे अंग्रेजी के सम्पर्क-भाषा होने के कारण नही।

अंग्रेजी के बिना भी काम चल सकता है। अंग्रेजी के बिना ही काम चलेगा। स्वाधीन भारत मे अंग्रेजी नही चलेगी।

भारत सरकार लोकसभा मे सभी भाषाओं मे बोलने और भाषणो के अनुवाद की व्यवस्था करे। लोकसभा, राज्यसभा की कार्यवाही, कानून, मसौदे—सभी भारतीय भाषाओं मे प्रकाशित हों, अखिल भारतीय सेवाओं मे भारतीय भाषाओं का व्यवहार हो। कांग्रेस की यह नैतिक जिम्मेदारी है कि इस सारे परिवर्तन का भार उठाये। अहिन्दीभाषी जनता हिन्दी नहीं चाहती, यह कहकर वह अपनी जिम्मेदारी से बच नही सकती।

एक बार लोकसभा मे जब हमारे प्रतिनिधि भारतीय भाषाओं मे बोलेंगे, तब उनका अंग्रेजी मोह कम होगा। तब उन्हें बोध होगा कि हिन्दी से अन्य भाषाओं का दमन नहीं होता, वरन् उससे राष्ट्रीय एकता दृढ होती है। एक बार जब उन्हें विश्वास हो जाएगा कि उनकी भाषा को वही अधिकार प्राप्त हैं, जो हिन्दी को है, तब वे स्वेच्छा से हिन्दी बोलेंगे। जब तक अंग्रेजी अनिवार्य राजभाषा बनी हुई है, तब तक स्वेच्छा से हिन्दी बोलने की बात उनकी समझ मे न आएगी।

जो लोग सचमुच चाहते हैं कि अहिन्दीभाषी राजनीतिज्ञ स्वेच्छा से हिन्दी को केन्द्रीय भाषा मानें, वे अब तक जनता के सामने कोई ऐसा कार्यक्रम नही रख सके जिससे इस उद्देश्य की पूर्ति हो। वे समझते हैं कि 'फिलहाल' अंग्रेजी कायम रखने से अपने आप अहिन्दीभाषियों में 'स्वेच्छा' उत्पन्न हो जाएगी। पिछले पन्द्रह साल का अनुभव कुछ दूसरा है। अंग्रेजी की जडें और मजबूत हुई हैं। शिक्षित वर्ग के सामने से स्वेच्छापूर्वक हिन्दी अपनाने की बात दूर चली गई है। इस स्थिति का मूल कारण है अंग्रेजी को पालपोसकर मजबूत करने की नीति। अहिन्दीभाषी राजनीतिज्ञों के हिन्दी विरोध का कारण यह नही है कि उन पर जबदस्ती हिन्दी लादी गई है। हिन्दी विरोध का कारण यह है कि वे 'स्वेच्छा' से अपने ऊपर अंग्रेजी लादे रखना चाहते हैं।

इसी समझ का बदलना है।

सभी भारतीय भाषाओं को केन्द्र मे समान अधिकार प्राप्त हों—इस आधार पर अंग्रेजी के विरुद्ध सभी सच्चे भारतीय भाषा प्रेमियों की एकता स्थापित की जा सकती है।

राष्ट्र के नेताओं से निवेदन है जब तक अहिन्दीभाषी नेता केन्द्रीय राजभाषा के रूप मे हिन्दी को स्वीकार नही करते, तब तक सभी भारतीय भाषाओं

को केन्द्रीय राजभाषा बनाए रहिए। अंग्रेजी हटाने का यह कार्यक्रम अगले पांच वर्ष में पूरा कीजिए। पूर्व-निश्चित अवधि के पन्द्रह वर्ष पहले ही बीत चुके है। पांच वर्ष की अतिरिक्त अवधि काफी है। शिक्षाक्रम मे अंग्रेजी को वैकल्पिक बनाइए। केन्द्रीय सेवाओं तथा विश्वविद्यालयो मे अंग्रेज़ी की अनिवार्यता पांच साल मे खत्म कीजिए।

अंग्रेज़ी की दासता से भारतीय भाषाओं को मुक्त करना हर देशभक्त का पवित्र कर्तव्य है। इस कर्तव्य को पूरा करके राष्ट्र के नेता जनता के श्रद्धाभाजन बनेंगे। इसके विपरीत यदि उन्होंने अंग्रेज़ी को राजभाषा बने रहने दिया तो भावी विघटन के लिए उन्ही को ज़िम्मेदार ठहराया जाएगा। (१९६५)

३८

प्रगतिशील साहित्यकार और भाषा-समस्या के जनतांत्रिक समाधान

प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के आरम्भ मे उसकी भाषा-सम्बन्धी मान्यताएँ वही थी जो गाधीजी के नेतृत्व म चलनेवाले राष्ट्रीय आन्दोलन की थी। अंग्रेजी की जगह हिन्दी या हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा होगी, हिन्दी-उर्दू मूलत एक ही भाषा हैं और उन्हे मिलाना प्रगतिशील लेखको का कर्तव्य है, ये मान्यताएँ प्रेमचन्द के भाषणो मे थी। उस समय हिन्दी-उर्दू हिन्दुस्तानी को लेकर जोरदार बहस होती थी। हिन्दी-उर्दू बुनियादी तौर से एक ही भाषा हैं, इस बात को प्राय सभी लेखक मानते थे। यह मान्यता नयी नही थी। बालमुकुन्द गुप्त जैसे लेखक बहुत पहले इस मान्यता को स्पष्ट शब्दो मे प्रकट कर चुके थे। बहस इस चीज को लेकर थी कि हिन्दुस्तानी भाषा बन चुकी है या बनाई जाय, उसका रूप उर्दू के अधिक निकट है या हिन्दी के, हिन्दी-उर्दू को मिलाने के लिए लिपि कौन-सी हो।

हिन्दीभाषी प्रदेश मे उस समय प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के सगठनकर्ता और सयोजक ज्यादातर उर्दू के लेखक थे। प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू दोनो के लेखक माने जाते थे। सन् '३६ मे, इस नये साहित्यिक आन्दोलन के आरम्भ मे ही, उनका देहान्त हो गया। अब इसके नेता म ऐसे लोग रह गये जो या तो उदीयमान साहित्यकार थे जैसे श्री अली सरदार जाफरी या साहित्यकार कम और आन्दोलनकारी ज्यादा थे जैसे डॉ० अब्दुल अलीम और श्री सैयद सज्जाद जहीर।

१९३८ मे कलकत्ते मे दूसरा अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन हुआ। इसमे डॉ० अब्दुल अलीम ने 'हिन्दुस्तानी की समस्या' नाम से अंग्रेजी मे एक निबन्ध पढा। इसमे उन्होने कहा कि हिन्दी-उर्दू दो भाषाएँ नही हैं वरन् वे एक ही भाषा के दो साहित्यिक रूप हैं। हिन्दुस्तानी उस प्रदेश की भाषा है जिसे पुराने जमाने मे लोग हिन्दुस्तान कहते थे। इस प्रदेश के उत्तर में हिमालय है, दक्षिण मे विन्ध्याचल, पश्चिम मे पजाब और पूर्व मे बगाल है। मुगल छावनियो की जबान को जबान ए उर्दू-ए-मुअल्ला, सक्षेप मे उर्दू, कहा जाता था।

"इसका प्रचलित नाम हिन्दी था जो प्रारम्भिक मुस्लिम विद्वानो का दिया हुआ था और जिसका अर्थ था हिन्द की भाषा।" अकबर के जमाने मे प्राकृतो पर फारसी का असर पडने लगा। "यह असर डालनेवाले खत्री और कायस्थ थे जिन्होने फारसी सीखी। फारसी राजभाषा थी। वे अपनी आम बोलचाल मे फारसी के लफ्ज वैसे ही इस्तेमाल करने लगे जैसे कि ज्यादातर पढे-लिखे लोग आजकल अग्रेजी के शब्द इस्तेमाल करते हैं।" १७१६ ई० मे दक्खिन के शायर वली का काव्य-सग्रह दिल्ली पहुँचा। उत्तर के प्रारम्भिक मुस्लिम कवियो ने ज्यादातर पुराने भारतीय छन्दो का प्रयोग किया था। दक्खिन के कवि फारसी की बहरें इस्तेमाल करते थे। "आश्चर्य की बात है कि उत्तर के शायरो को कविता का यह नया ढग इतना अच्छा लगा कि वे दिल्ली की ज्यादा शुद्ध भाषा में (यानी उस भाषा मे जो ज्यादा फारसी-मिश्रित नही थी) वली के रग-ढग की नकल करने लगे। तभी से दोनो मे भेद शुरू हुआ जो अब बढते-बढते बहुत चौडी खाई बन गया है।"

डॉ० अलीम की ये स्थापनाएँ बहुत महत्वपूर्ण थी। वह एक खास प्रदेश की भाषा को हिन्दुस्तानी कहते थे। इस प्रदेश का पुराना नाम हिन्दुस्तान था, यह उन्होने ठीक कहा था। तुर्क लेखको शासकों इतिहासकारों ने हिन्दुस्तान शब्द का बराबर प्रयोग किया है। डॉ० अलीम ने भाषा का सम्बन्ध किसी धर्म से नही जोडा। उन्होने बोलचाल की भाषा मे फारसी शब्दो की आमद का बहुत सही कारण बतलाया। उन्होने हिन्दू मुस्लिम सस्कृतियो के मेल से नयी भाषा बनने की बात नही की। फारसी के शब्द बोलचाल की भाषा में इसलिए नही आ गए कि वे हिन्दू-मुस्लिम-मिलन के लिए आवश्यक थे। वे इसलिए आए कि फारसी राजभाषा थी और इस राजनीतिक-सास्कृतिक प्रभाव के कारण बोलचाल की भाषा मे बहुत से फारसी शब्द घुल मिल गए। लेकिन बोलचाल की भाषा का साहित्यिक रूप एक ही था। उसके दो रूप तब हुए जब वली की नकल करने-वाले उत्तर के कवियो की रचनाओ मे फारसीयत का रग गाढा होने लगा। उर्दू का यह साहित्यिक विकास अठारहवी सदी की घटना है और मुसलमानो के भारत आने से, भारत मे हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियों के मिलन से या इस्लाम से उसका कोई सम्बन्ध न था।

यह एक सही वैज्ञानिक और साम्राज्य विरोधी दृष्टिकोण था। गिलक्रिस्ट और ग्रियर्सन उर्दू-हिन्दी का सम्बन्ध धर्म से जोड चुके थे। डॉ० अलीम ने उस सम्बन्ध को अस्वीकार करके भाषा-समस्या के वैज्ञानिक विवेचन और सही समाधान की ओर महत्वपूर्ण कदम उठाया था। धर्म को आधार मानकर कोई समस्या हल नही की जा सकती, न लिपि की, न शब्दो के चुनाव की। हिन्दी-उर्दू समस्या पर जो भी विचार करे, उसे शुरुआत इस सूत्र से करना चाहिए कि वे एक ही जाति की भाषा हैं, धर्म के आधार पर हिन्दू-मुस्लिम दो कौमे नही हैं, उर्दू और हिन्दी का बुनियादी बोलचाल का रूप एक है।

हिन्दी-उर्दू में भेद होते हुए भी उनके साहित्य में बहुत बड़ी समानता है। डॉ० अलीम के लेख में इस समानता पर जोर नहीं है। उन्होंने हिन्दी और उर्दू को कृत्रिम रूप कहकर घता बता दी। इससे हिन्दी और उर्दू के प्रगतिशील लेखक हिन्दी-उर्दू साहित्य को प्रभावित करने के बदले उससे अपने को अलग कर सकते थे। उन्होंने मीर अम्मन और लल्लूजी लाल के बाद तमाम साहित्यिक विकास को हिन्दुस्तान के विकास के लिए घातक बताया। उन्होंने कांग्रेस को फटकारा कि इतने दिन से हिन्दुस्तानी की माला जपने के बाद भी उसके विकास के लिए उसने कुछ नहीं किया। उन्होंने इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी अकादमी को सुझाया कि वह हिन्दुस्तानी के विकास की योजना बनाए। उन्होंने 'हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी' शब्दों का व्यवहार हानिकारक बताया (क्योंकि इसमें हिन्दुस्तानी का सम्बन्ध हिन्दी से जुड़ता था)। प्रगतिशील लेखकों से उन्होंने कहा, मुख्य समस्या यह है कि हिन्दुस्तानी अभी विकसित साहित्यिक भाषा नहीं है; आप लोगों को उसे विकसित कर देना चाहिए। पारिभाषिक शब्द अंग्रेजी से लेने की सलाह दी जो उनकी समझ में अधिकांश सभ्य देशों की भाषाओं में सामान्य थे। लिपि की समस्या, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी की राय का समर्थन करते हुए उन्होंने रोमन लिपि अपनाकर हल करने की सलाह दी।

रोमन लिपि अपनाने में उन्हें सबसे बड़ा लाभ यह दिखाई दिया, "इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि अपनी लिपियों को छोड़ देने से अपने बहुत से पुराने साहित्य से हमारा सम्बन्ध अपने आप टूट जाएगा। धार्मिक पुनरुत्थानवादी इसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। हम लोग अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं के आमूल परिवर्तन में विश्वास करते हैं। हम अपने साहित्य को बुद्धिसंगत बनाने में (इन रैशनलाइजिंग अवर लिटरेचर) विश्वास करते हैं। इसलिए यह हमारा कर्तव्य है कि हम ऐसी लिपि अपनाएँ जो सबसे ज्यादा वैज्ञानिक हो और जिसे अपनाकर हम आधुनिक संसार की आवश्यकताएँ पूरी कर सकें।"

इस प्रकार डॉ० अलीम का दृष्टिकोण पुरानी साहित्यिक विरासत की तरफ बिलकुल अस्वीकृति का था। यह दृष्टिकोण वास्तव में साम्राज्यवादी लेखकों का रहा है जो भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों की हमेशा अवमानना करते रहे हैं। लार्ड मैकाले ने कुछ ऐसी ही बातें अपने प्रसिद्ध निबन्ध में कही थीं। डॉ० अलीम भारत की अन्य भाषाओं के साहित्य से अपरिचित थे; वह हिन्दी पढ़ लेते हैं लेकिन कम-से-कम सन् '३८ में जब उन्होंने यह निबन्ध लिखा था, तब वह हिन्दी साहित्य के विकास से अपरिचित थे। उनके मुख्य सलाहकार श्री मुल्कराज आनन्द भारतीय साहित्य की प्रगति से और भी कोरे थे। प्रेमचन्द के अभाव में ऐसा कोई लेखक नहीं था जो इन्हें संकीर्णतावाद से बचाता। राष्ट्रीय आन्दोलन से आधुनिक साहित्य का सम्बन्ध न समझने के कारण उन्होंने हिन्दी-उर्दू के साहित्य के प्रति यह संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाया। राष्ट्रीय आन्दोलन और भारतीय साहित्य में नव-जागरण को न समझने के कारण वे बहुत जल्दी ऐसे

नेताओं के प्रभाव मे आ गए जो आत्मनिर्णय के नाम पर मुस्लिम लीग और पाकिस्तान का समर्थन करते थे।

इन नये नेताओं मे श्री सैयद सज्जाद जहीर मुख्य थे। सन् '३८ मे अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के मंत्री डॉ० अब्दुल अलीम थे, द्वितीय महायुद्ध के दौरान उसके मंत्री हुए सज्जाद जहीर साहब। डॉ० अलीम की तुलना मे वह साहित्यकार कुछ ज्यादा थे। उनका 'लन्दन की एक रात' उपन्यास सन् '३८ के आस पास छप चुका था। सन् '४३ से सन् '४६ तक वह कम्युनिस्ट पार्टी के भूतपूर्व नेता श्री पूरन जोशी के दाहने हाथ रहे। मुस्लिम समस्या पर उन्हे सलाह देने के अलावा श्री जोशी की आत्मनिर्णय वाली नीति को वह मुसलमानो मे लागू भी करते थे। उस समय कम्युनिस्ट पार्टी का नारा था, कांग्रेस लीग एक हो। यह नारा इस समझ के आधार पर दिया गया था कि भारत मे दो राष्ट्र या दो तरह की राष्ट्रीयता विकसित होती रही हैं—एक हिन्दुओं की, दूसरी मुसलमानो की। इन दोनो को मिलकर अंग्रेजो से सत्ता देने की माँग करना चाहिए।

मुसलमानो की अलग कौम है, उसे आत्मनिर्णय का अधिकार यानी देश से अलग होकर अपना राज्य बनाने का हक मिलना चाहिए, इस सिद्धान्त को भाषा-क्षेत्र मे लागू किया जाय तो यह नतीजा निकलेगा ही कि हिन्दुओं की भाषा हिन्दी है, मुसलमानो की भाषा उर्दू है।

हिन्दी-उर्दू मे भेद क्यो हुआ? इसलिए कि हिन्दुओं ने उर्दू का ढाँचा लेकर उसमे उन शब्दो को भरा जिनका सम्बन्ध हिन्दू संस्कृति से था।

'हिन्दी उर्दू-हिन्दुस्तानी समस्या का हल' नाम के निबन्ध मे श्री सज्जाद जहीर ने लिखा, "आधुनिक हिन्दी ने खड़ी बोली का ढाँचा उर्दू से लिया और उसमे उसने उन शब्द-योजनाओं और परम्पराओं से उसे अनुप्राणित किया, जो हिन्दू संस्कृति के अभिन्न अंग थे।"

आधुनिक युग मे राष्ट्रीयता का अभ्युदय कैसे हुआ? राजा राममोहन राय ने 'अंग्रेज ईसाई मिशनरियो के हमले से हिन्दू धर्म को बचाने के लिए' ब्राह्म-समाज की नीव डाली। इसका प्रभाव आधुनिक बंगाली संस्कृति के विकास पर पड़ा और बंगाल के 'इसी आन्दोलन से प्रभावित होकर हिन्दी साहित्य के प्रथम महारथी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' ने अपना आन्दोलन शुरू किया। उनकी रचनाओं ने 'मध्यवर्ग के शिक्षित हिन्दुओं के हृदय से वह नैराश्य और विषाद दूर कर दिया जो पराधीनता के कारण देश मे छा गया था।' भारतेन्दु ने 'प्राचीन हिन्दू महापुरुषो और देवताओं को रंगमंच पर लाकर हिन्दुओं को उनके विगत वैभव' की याद दिलाई, 'हिन्दू-समाज की बुराइयों' की आलोचना की।

इस प्रकार 'हिन्दी उत्तर भारत मे (विशेषकर युक्त प्रान्त, बिहार, राजस्थान और मध्य प्रान्त के हिन्दुस्तानी भाग मे) हिन्दू राष्ट्रीय जागरण का—जिसके विभिन्न पक्ष अथवा रूप धर्मोद्धार, धर्म-सुधार, समाज सुधार और नवीन

शिक्षा-प्रचार हैं—एक शक्तिशाली माध्यम बन गई।"

श्री सज्जाद ज़हीर ने भारतेन्दु युग के साहित्य में जो साम्राज्य-विरोधी तत्त्व थे, जिनका सम्बन्ध हिन्दू-समाज से ही नहीं, सारे भारत से था, उन्हें नज़रन्दाज़ किया। उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त जैसे हिन्दी लेखक उर्दू में भी लिखते थे। उन्होंने गिलक्रिस्ट और ग्रियर्सन से दो कदम आगे बढ़कर धर्म के आधार पर साहित्य और भाषा का बँटवारा कर दिया। जो धार्मिक भावनाएँ पुराने साहित्य में रही हैं, उन्हें उस साहित्य का एक पक्ष न मानकर, उन्होंने उन भावनाओं को राष्ट्रीय जागरण का मुख्य चिह्न मान लिया।

कहीं उनके दिमाग में एक पुराना कीड़ा भी रेंग रहा था। यह मुश्तर्का ज़बान का कीड़ा था। हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल-जोल से उर्दू का जन्म और विकास हुआ। इस सम्मिलित विकास को खत्म कर दिया सम्प्रदायवादी हिन्दुओं ने।

"उर्दू अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तर और मध्य भारत के सम्मिलित सामाजिक जीवन के सांस्कृतिक आदान-प्रदान की स्वाभाविक माध्यम बन गई थी।" उर्दू लेखकों में रतननाथ सरशार जैसे हिन्दू थे। पुराने पश्चिमोत्तर प्रान्त—आज के उत्तर प्रदेश—में १८६६ में चौबीस पत्र निकलते थे, उन्नीस उर्दू में, तीन हिन्दी-उर्दू दोनों में। इनमें अधिकांश के मालिक और सम्पादक हिन्दू थे। १८७१ में अवध में जो विद्यार्थी उर्दू पढ़ते थे, उनमें ज़्यादातर हिन्दू थे। "अतः उर्दू भाषा और उसकी लिपि के विरोध और बहिष्कार को लेकर जो हिन्दी नागरी आन्दोलन आरम्भ हुआ, इसको अपने समाज और संस्कृति पर हिन्दुओं की ओर से अन्यायपूर्ण, संकुचित, साम्प्रदायिक प्रहार समझना मुसलमानों के लिए स्वाभाविक था।"

हिन्दुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक आदान-प्रदान का माध्यम उर्दू बनी। यह कार्य भी स्वाभाविक था। हिन्दी-आन्दोलन को मुसलमानों ने अन्यायपूर्ण समझा, यह भी स्वाभाविक था। हिन्दी हिन्दुओं की सांस्कृतिक भाषा बनी, यह भी स्वाभाविक था।

ये तीन स्वाभाविक क्रियाएँ एक साथ कैसे हो गईं? ज़हीर साहब के अनुसार हिन्दुओं और मुसलमानों की मूलतः दो संस्कृतियाँ हैं। इनको आगे अलग अलग विकसित होना ही था। "आरम्भ से ही मुसलमानों के निकट हिन्दी और देवनागरी लिपि आन्दोलन हिन्दुओं की कट्टर साम्प्रदायिकता और मुस्लिम संस्कृति-विरोध का द्योतक रहा है।" इसलिए "१६०० में जब देवनागरी भी उर्दू के समान अदालतों में जारी हो गई, तो सर सैयद को विश्वास हो गया कि 'अब हिन्दुओं और मुसलमानों का एक राष्ट्र होकर अपने अभ्युत्थान के लिए सम्मिलित प्रयत्न करना असम्भव हो गया है।' उसी समय उर्दू-रक्षा-समिति सर सैयद के तत्त्वावधान में कायम हुई।"

मुसलमानों का अलग राष्ट्र हो, उर्दू की रक्षा का प्रयत्न किया जाय—दोनों बातों का उल्लेख साथ-साथ किया गया है। श्री सज्जाद जहीर के पास हिन्दी-उर्दू विरोध का हल क्या है? या अठारह साल पहले उनके पास कौन-सा हल था? उनके पास वही हल था जो सर सैयद अहमद खां ने बताया था और जिसका सर मुहम्मद इकबाल ने नये सिरे से प्रचार किया था।

उर्दू हिन्दुओं और मुसलमानों की एकमात्र मिली-जुली भाषा न रह सकी। कारण था हिन्दुओं की साम्प्रदायिक कट्टरता। इसलिए हिन्दू अलग, मुसलमान अलग, एक राष्ट्र की भाषा हिन्दी, दूसरे की उर्दू।

जिसे राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान साम्प्रदायिकता कहा जाता था, उसी को श्री सज्जाद जहीर और उनके सहयोगी श्री पूरनचन्द जोशी राष्ट्रीयता कहने लगे। हिन्दू राष्ट्रवाद, मुस्लिम राष्ट्रवाद —ये दो नये ढंग के राष्ट्रवाद सामने आए। एक का प्रचार मुस्लिम लीग ने किया, दूसरे का, उससे पीछे, उसके चरणचिह्नों पर चलकर, हिन्दू महासभा और जनसंघ ने। इन्हें मार्क्सवाद के नाम पर वैज्ञानिक ठहराया श्री सज्जाद जहीर ने।

मुसलमानों ने हिन्दी-आन्दोलन का विरोध किया। 'इस व्यापक विरोध को समझने के लिए हमें यह जानना चाहिए कि मुसलमानों के लिए उस समय यह समझना कठिन था कि हिन्दी नागरी आन्दोलन हिन्दुओं के देशव्यापी सांस्कृतिक नवोत्थान का ही एक अंग था।" यह हिन्दुओं का नवोत्थान जारी रहा और उसे आगे बढ़ाया महात्मा गांधी ने।

चौंकने की बात नहीं है। गांधीजी के राष्ट्रीय आन्दोलन को जिन्ना साहब हिन्दू आन्दोलन कहते थे या नहीं? फील्ड मार्शल अय्यूब खां हिन्दू भारत से मुस्लिम कश्मीर को आज़ाद कराने का जेहाद शुरू कर चुके हैं या नहीं? ब्रिटिश प्रचारक कहते हैं या नहीं कि श्री लालबहादुर शास्त्री पाकिस्तान से इसलिए लड़ रहे हैं कि वह हिन्दू हैं?

जहीर साहब के वैज्ञानिक विवेचन के अनुसार "सन् १९२० में जब राष्ट्रीय जागरण की एक नयी लहर कांग्रेस और महात्मा गांधी के नेतृत्व में उठी, तो इसके बाद हिन्दुओं में हिन्दी को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अपना सुप्रसिद्ध काव्य 'भारत-भारती' इसी युग के आस पास (सन् १९१३) में लिखा। यह कविता उन गांधीवादी भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है जो इस समय उत्तरी भारत के हिन्दुओं को आन्दोलित कर रही थीं।"

सन् '२० में जो राष्ट्रीय जागरण की नयी लहर उठी, उसने सात साल पहले की रचना 'भारत-भारती' को प्रभावित किया और इसमें वे गांधीवादी भावनाएँ हैं जो उस समय के हिन्दुओं को आन्दोलित कर रही थीं!

उधर 'हिन्दुओं के ही समान उत्तरी भारत के मुसलमानों में राष्ट्रीय जागरण" की लहर उठ रही थी। इस राष्ट्रीय जागरण का सम्बन्ध गांधीजी के आन्दोलन से नहीं है। बीसवीं सदी के आरम्भ में 'राजनीतिक जागरण के

साथ साथ स्वतन्त्रता का भाव भी मुसलमानो मे जागने लगा।" राजनीतिक जागरण ? क्या यह गांधीजी के आन्दोलन से बाहर कोई जागरण था ? स्वतन्त्रता का भाव ? किससे ? अंग्रेजो से या हिन्दुओ से या दोनो से ? उर्दू साहित्य ने नई करवट ली "और शिबली जफर अली खाँ, अबुल कलाम और अन्त मे इकबाल ने मुसलमानो के नवीन जागरण को व्यक्त किया।"

अबुल कलाम आजाद मुसलमानो के 'राष्ट्रीय' जागरण के नेता कैसे बने, यह नहीं बताया गया। मुझे याद है, सन् '४७ के आस-पास इस तरह के 'राष्ट्रीय' जागरण की चर्चा करनेवाले समझते थे कि कांग्रेस और गांधीजी का साथ देनेवाले मुसलमान गुमराह हैं, वे मुस्लिम इत्तहाद को तोड़नेवाले लोग हैं। मुसलमानो के असली नेता कायदे आजम जिन्ना और अन्य मुस्लिम लीगी हैं। किंतु इक़बाल ने राष्ट्रीयता के साथ ग़द्दारी करके साम्प्रदायिकता को अपनाया, स्वभावत उसकी आलोचना श्री जहीर के लेख मे नही है यद्यपि बहुत से उर्दू लेखको ने इसके लिए इकबाल की आलोचना की थी।

नतीजा यह कि "आधुनिक उर्दू की तरक्की हिन्दुस्तानी मुसलमानो के विगत सौ वर्षों के राष्ट्रीय जागरण से सम्बद्ध है।" राष्ट्रीय जागरण से सम्बद्ध है तो नया राष्ट्र बनेगा ही, जहीर साहब के अनुसार उर्दू का सारा विकास पाकिस्तान की ओर—भारत के विभाजन की ओर—सकेत करता था। हिन्दू सम्प्रदायवादी भी उर्दू के दमन के पक्ष मे यही तर्क देते थे। मुश्किल यह थी कि उर्दू के लेखको मे प्रेमचन्द भी थे, वह दोनो राष्ट्रीय जागरणो मे हिस्सा बँटा रहे थे। क्या कारण है कि किसान जीवन के अमर चित्रकार प्रेमचन्द के सामने होते हुए श्री सज्जाद जहीर जैसे मार्क्सवादी हिन्दी उर्दू साहित्य का सम्बन्ध हिन्दू और मुस्लिम राष्ट्रवाद यानी सम्प्रदायवाद से जोडने लगे ? कारण है आम जनता से अलगाव। उनका जन्म अभिजात वर्ग मे हुआ। अपने वर्ग के सस्कार मिटाने के लिए उन्हें आम जनता से जैसा सम्पर्क कायम करना चाहिए था, उन्होने नहीं किया। आम जनता मे काम किए बिना ही वह बहुत जल्दी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता बन गए। श्री पूरनचन्द जोशी हमेशा ऐसे लोगो की तलाश मे रहे हैं जो आला खानदान के हों, विलायत जाकर पढ़े हो, दिमाग के कच्चे हो जिससे कि उनकी नयी-नयी स्थापनाएँ आसानी से मान लें। श्री सज्जाद जहीर बहुत अच्छे लेखक, बहुत अच्छे राजनीतिक कार्यकर्ता बन सकते थे यदि श्रीमान् पूरनचन्द जोशी ने उन्हे बिगाड़ा न होता।

इसलिए 'गोदान' की तारीफ करने के बाद इस सम्प्रदाय के तरक्की पसन्द अदीब कहते थे कि जब प्रेमचन्द तरक्की पसन्द बन रहे थे, तभी वह स्वर्गवासी हो गए। प्रेमचन्द के विकास को वे बिलकुल न समझते थे। उनका साहित्य हर तरह के सम्प्रदायवाद पर कितना जबर्दस्त प्रहार है यह उन्हें बिलकुल दिखाई न देता था। एक मित्र ने छह-सात साल पहले अपने एक भाषण में कहा था कि प्रेमचन्द हिन्दुओ की आलोचना तो कर लेते थे, मुसलमानो की आलोचना करने

जैसे उन्हे डर लगता था। मैंने 'समालोचक' मे इन हिन्दी लेखक मित्र के ग्रारोप का विस्तार से जवाब दिया था। उन्ही की तरह '४३-'४७ मे बम्बई के कुछ राजनीतिज्ञ प्रेमचन्द के बारे मे कहते थे कि वह महज हिन्दू समाज-सुधारक थे।

दिलचस्प बात है कि 'भारत-भारती' पर जहीर साहब ने स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल की सम्मति उद्धृत की है। इस सम्मति मे कहा गया है, "सत्याग्रह, ग्रहिंसा, मनुष्यतावाद, विश्वप्रेम, किसानो ग्रौर श्रमजीवियो के प्रति प्रेम ग्रौर सम्मान, सबकी झलक हम पाते हैं।"

इसे भी उन्होने हिन्दुग्रो को ग्रान्दोलित करनेवाली गाधीवादी भावनाग्रो के प्रमाणस्वरूप पेश किया है।

ग्राधुनिक उर्दू साहित्य मे फिराक गोरखपुरी, कृश्नचन्दर, राजेन्द्रसिंह बेदी जैसे गैर-मुसलमान लेखक भी हैं। सम्प्रदायवादी कहते है कि ये ग्राधे मुसलमान हैं। जहीर साहब की राय यह थी कि "उर्दू साहित्य का ग्रधिकाश पहले भी, ग्रौर ग्राज ग्रौर भी ग्रधिकतर मुसलमानो से सम्बन्ध रखता है, ग्रौर इसी कारण उर्दू साहित्य के ग्रधिकाश भाग पर मुसलमानो की सभ्यता ग्रौर संस्कृति की छाप है। बिलकुल ऐसे ही हिन्दी के ग्रधिकाश भाग पर हिन्दू सभ्यता के प्रभाव स्पष्ट हैं।" इस तरह प्रेमचन्द, फिराक, बेदी, कृश्नचन्दर वगैरह-वगैरह के बावजूद श्री सज्जाद जहीर ने साहित्य को हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता के ग्राधार पर दो हिस्सो मे बाँट दिया।

उनके दिमाग पर धार्मिक पुनरुत्थानवाद का इतना गहरा रंग चढा हुग्रा था कि हिन्दी-उर्दू साहित्य मे उन्हे हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता के ग्रलावा ग्रौर कुछ दिखाई ही न देता था।

हिन्दू सम्प्रदायवादियो से जब कोई कहता है कि ग्राप हिन्दू धर्म का प्रचार करते हैं, धार्मिक सकीर्णता फैलाते हैं, तो वे जवाब देते हैं कि हमारा तात्पर्य धर्म से नही है, हिन्दुत्व एक जीवन-पद्धति है, वह इस देश की जीवन-पद्धति है, जो उसे माने वह हिन्दू।

जहीर साहब ने लिखा था, "जब मैं हिन्दू सस्कृति या मुस्लिम सस्कृति का नाम लेता हूँ तो मेरा तात्पर्य उनके धार्मिक भेदो से नही है। भारतीय सभ्यता को हम देश के विभिन्न भागो मे विभिन्न रूप से देखते हैं, ग्रौर इनमे हमे ग्रनगिनत समानताएँ मिलती हैं। फिर भी उन इलाकों मे जहाँ उर्दू या हिन्दी ग्राम तौर से बोली जाती है, हिन्दू ग्रौर मुस्लिम सस्कृति का भेद, हमे उर्दू ग्रौर हिन्दी के साहित्यिक रूपो मे स्पष्ट दिखाई देता है।"

हिन्दू सम्प्रदायवादी कहते हैं कि सारे भारत में एक ही सस्कृति है, हिन्दू सस्कृति। जहीर साहब कहते हैं, एक नहीं, दो सस्कृतियाँ हैं। हिन्दू संस्कृति तो है ही, एक मुस्लिम सस्कृति भी है।

मुस्लिम सस्कृति किन इलाको मे है? उन इलाको मे जहाँ उर्दू बोली जाती है। क्या सिन्ध ग्रौर पूर्वी बगाल की भाषा उर्दू है? नही। फिर भी मुस्लिम

संस्कृति के नाम पर भारत का वह सारा हिस्सा अलग किया गया जहाँ किसी की भी मातृभाषा उर्दू नहीं है। जिनकी मातृभाषा उर्दू है वे भारत में ही हैं, इसलिए इलाकाई ज़बान की समस्या फिर भी बनी रह गई।

उर्दू में अब भी बहुत से अखबार निकलते हैं जिनमें धुआँधार हिन्दू सम्प्रदायवाद का प्रचार होता है। जो उर्दू में लिखे वह भाषा मुसलमान हो जाय, यह आवश्यक नहीं है। एक ही भाषा में हर तरह के विचार व्यक्त किए जा सकते हैं। भाषा और धर्म दो अलग चीज़ें हैं। उर्दू में फारसी के जो शब्द आए हैं वे ईरान के सांस्कृतिक प्रभाव के कारण, धर्म के कारण नहीं। फारसी मुसलमानों की धार्मिक भाषा नहीं है। उनका धर्मग्रन्थ अरबी में है। यह अरबी इस्लाम से पहले भी थी, उसका जन्म इस्लाम के साथ नहीं हुआ। घोर धर्मान्ध व्यक्ति ही धर्म के साथ भाषा का सम्बन्ध जोड़ सकता है। उर्दू के इन रक्षकों को यह नहीं दिखाई देता कि कश्मीरी, सिन्धी, बँगला आदि भाषाएँ बोलनेवाले लाखों मुसलमान हैं जिनका उर्दू से कोई सम्बन्ध नहीं है।

और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जिन्होंने हिन्दी आन्दोलन और हिन्दू राष्ट्रवाद को जन्म दिया, कैसी हिन्दी लिखते थे? क्या उनकी भाषा में सभी शब्द हिन्दू होते थे?

ज़हीर साहब ने भारतेन्दु की भाषा शैली का बहुत सही वर्णन किया है। लिखा है "भारतेन्दुजी की भाषा पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो उसमें प्रवाह और ओज के साथ साथ यह भी देखते हैं कि वह अपनी हिन्दी में अरबी और फारसी के प्रचलित शब्द निस्संकोच प्रयोग करते हैं। उनकी रचना हिन्दी होती है उसमें संस्कृत का मिश्रण होता है, और यह ब्रज और अवधी की परम्पराओं का भी दामन नहीं छोड़ती। इस दृष्टि से इसमें और सम्प्रति प्रचलित उर्दू गद्य की शैली में काफी अन्तर है।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों को छोड़ा नहीं, उनकी भाषा में संस्कृत शब्द भी होते हैं ब्रज, अवधी आदि की जनपदीय और साहित्यिक परम्पराएँ उससे जुड़ी हुई हैं—क्या हिन्दी-उर्दू की मिली जुली साहित्यिक परम्परा इससे भिन्न किसी और तरह की भाषा अपना सकती है? इस तरह की भाषा पर हिन्दू राष्ट्रवाद का कौन-सा ठप्पा लगा हुआ है? इस भाषा से उर्दू की रक्षा का मतलब क्या होता है? संस्कृत शब्दों का बहिष्कार, सांस्कृतिक शब्दावली केवल अरबी-फारसी से ली जाय, जनपदीय बोलियों और हिन्दी की पुरानी साहित्यिक परम्परा से अलगाव। यह उर्दू की रक्षा का नहीं, उसके विनाश का मार्ग है।

दो तरह की संस्कृतियों, दो तरह के 'राष्ट्रीय' जागरणों की मान्यताएं प्रस्तुत करने के बाद भी ज़हीर साहब ने फिल्मों में और मज़दूर नेताओं के भाषणों में हिन्दी उर्दू का मिला-जुला रूप देखा, यह उनकी शराफत थी। जब संस्कृतियाँ हिन्दू और मुस्लिम खेमों में विभाजित थीं, तब यह मिली-जुली भाषा

कौन-सी संस्कृति को प्रतिबिम्बित करती थी, जो न हिन्दू थी, न मुसलमान—यह उन्होंने नहीं बताया।
कांग्रेस लीग एक हो, यह नारा भाषा के क्षेत्र में लागू करते हुए उन्होंने राय दी—"भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी और उर्दू दोनों हों।"
उन्होंने उदारता से लिखा, "उर्दू और हिन्दी के आज के पार्थक्य को स्वीकार करते हुए हमें प्रयत्न करना चाहिए कि यह पार्थक्य कम हो।
"इसलिए आवश्यक है कि इस समय हिन्दी और उर्दू का यह भाषा-क्षेत्र जो समान रूप से दोनों का एक है, जिसे सरल उर्दू, सरल हिन्दी या हिन्दुस्तानी का नाम दिया जाता है, कायम रहे और उसकी सीमा बराबर बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय।"
हिन्दी और उर्दू बुनियादी रूप में एक हैं; उनके साहित्यिक, शिष्ट रूप में आज भेद है, उसे दूर करना चाहिए। दोनों का भाषा क्षेत्र एक है। दोनों का सामाजिक परिवेश एक है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए यदि श्री जहीर ने जाति की मार्क्सवादी व्याख्या पर विचार किया होता तो वह इस नतीजे पर अवश्य पहुँचते कि हिन्दी-उर्दू एक ही जाति की भाषा है, दोनों का साहित्य एक ही जाति का साहित्य है, उनमें एक ही राष्ट्रीय जागरण की झलक है, दो राष्ट्रों के जागरण की नहीं। मार्क्सवाद में कहीं भी इसका प्रमाण नहीं है कि धर्म के आधार पर भाषा या जाति का निर्माण स्वीकार किया गया हो।
यदि हिन्दी-उर्दू का इलाका एक था, तो बंगाल और सिन्ध में आत्मनिर्णय का अधिकार किसके लिए? फिर पाकिस्तान का समर्थन क्यों?
इन प्रश्नों का उत्तर यह है इलाका तो एक है लेकिन "उसकी सीमा बराबर बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय"।
जहीर साहब के दिमाग में नक्शा यह है कि मुसलमानों की एक भाषा है उर्दू। जो मुसलमान उर्दू नहीं बोलते, वे भी आगे चलकर उर्दू बोलने लगेंगे। मुस्लिम संस्कृति से उर्दू का सम्बन्ध जोड़ने का एक ही नतीजा होगा। भारत के सभी मुसलमानों की भाषा उर्दू हो। इसीलिए धीरे धीरे इलाका बढ़ाते जाओ, एक दिन सब मुसलमान उसमें सिमट आएँगे। उधर हिन्दुओं की राष्ट्रभाषा होगी हिन्दी। हिन्दू संस्कृति से हिन्दी का सम्बन्ध है, इसलिए हिन्दू मात्र की एक भाषा होगी हिन्दी। हिन्दू राष्ट्र में बँगला, मराठी तमिल आदि भाषाएँ कायम रहीं तो वे राष्ट्र को खण्डित करेंगी—यही सम्प्रदायवादियों का दृष्टिकोण रहा है।
श्री सज्जाद जहीर की मान्यताओं को श्री शिवदानसिंह चौहान ने और भी पुष्पित और पल्लवित किया।
'राष्ट्रभाषा विवाद और समाधान' नाम के निबन्ध में शिवदानसिंहजी ने पहले तो सम्प्रदायवादियों को फटकार बताई, कहा कि १४० साल से यह हिन्दी-उर्दू की बहस राजनीतिक उत्तेजना और 'धार्मिक-साम्प्रदायिक उन्माद के वाता-[व]रण में अविराम चलती आई है', 'प्रतिपक्षियों ने अपनी तर्कावली को रूढ़

बना रखा है', उन्होंने सावधान किया कि वे दिन गये जब "'आर्य-भाषा' हिन्दी के समर्थक उसे हिन्दुओं की परम्परागत भाषा कहकर' उसका चलन कचहरियों और दफ्तरों में कराना चाहते थे, उन्होंने किंचित् खेद प्रकट किया कि "हिन्दी का नेतृत्व विशेषकर हिन्दू राष्ट्रवादियों के हाथ में है," उधर "उर्दू का नेतृत्व विशेषकर मुस्लिम राष्ट्रवादियों के हाथ में है।" इसके बाद उन्होंने प्रगतिवादियों की खबर ली जिन्होंने मिली-जुली भाषा हिन्दुस्तानी का समर्थन किया, "इससे उन्हें राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर गहराई से सोचने से जैसे छुट्टी मिल गई और सरल समाधानों को ही स्वीकार कर उन्होंने अपनी इतिकर्तव्यता मान ली।"

भाषा-समस्या पर गहराई से विचार करके, सरल समाधानों को रास्ते से हटाकर संश्लिष्ट समाधानों की ओर साहस से कदम उठाते हुए श्री चौहान ने अपनी ये मान्यताएँ प्रस्तुत कीं—

—"सर्वप्रथम यह स्वीकार करने की आवश्यकता है कि हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ हैं।"

—"हिन्दी और उर्दूवालों को यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि ये दोनों अलग अलग स्वतन्त्र भाषाएँ हैं।"

—"ये दोनों पृथक् भाषाएँ खड़ी बोली की जमीन पर संस्कृत और फारसी के खाद बीज से उत्पन्न दो पौधों के समान हैं, अतः दो भिन्न संस्कृतियों हिन्दू और मुस्लिम की प्रतीक हैं।"

ये मान्यताएँ नई नहीं हैं। हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायवादी यही बातें कहते रहे हैं। लेकिन यह श्री शिवदानसिंह चौहान का ही बूता था कि वह हिन्दू राष्ट्रवादियों की निन्दा करते हुए उन्हीं की स्थापनाओं को अपने जनवाद के नाम पर दोहराते चलें।

उनका जनवाद धन्य है क्योंकि "हम जनवाद के उन सिद्धान्तों के आधार पर इस प्रश्न का समाधान करना चाहते हैं जिनका आधार अखंड हिन्दुस्तान अथवा विभाजित हिन्दुस्तान की केन्द्रीय सरकारों को भी लेना पड़ेगा।"

श्री चौहान ने जनवाद पर इतनी गहराई से विचार किया था कि उन्होंने अखंड और खंडित दोनों तरह के देश के लिए अपना अचूक समाधान प्रस्तुत किया था—

"इस समय देश में 'पाकिस्तान' और 'अखण्ड हिन्दुस्तान' का विवाद छिड़ा हुआ है। हमने अपने विवेचन में अखंड अथवा विभाजित भारत को लक्ष्य में रखकर कोई समाधान निकालने की चेष्टा नहीं की, क्योंकि हमारी दृष्टि में अखंड हिन्दुस्तान हो अथवा पाकिस्तान और हिन्दुस्तान अलग-अलग हों, दोनों दशाओं में राष्ट्रभाषा का वही समाधान होगा जिस पर हम अभी विचार करेंगे।"

असली चीज है जनवादी दृष्टि प्राप्त करना। गुरु-कृपा से मिले बिना दृष्टि

प्राप्त हो जाती है, उसके लिए जैसे पाकिस्तान, वैसे अखंड भारत। गुरु श्री सज्जाद ज़हीर की कृपा से यह दृष्टि मुरीद श्री चौहान को प्राप्त हो गई।

"इस जनवादी उदार दृष्टि को प्राप्त करने पर राष्ट्रभाषा के प्रश्न का समाधान स्वत स्पष्ट हो जाता है।"

अब देखिए इस उदार दृष्टि के प्राप्त होने से भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालो मे सत्य कैसा स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

पहले अतीत के दृश्य देखिए। भारत मे मुसलमान आए। जब ताजे थे, तब तो हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियों का मेल हो गया, जब यहाँ रहते रहते यही के हो गये, तब उनकी सस्कृतियो मे भेद हो गया। और यह भेद करनेवाले थे ब्रज और अवधी के दो कवि—सूरदास और तुलसीदास!

सुनिए हिन्दी साहित्य के विकास का यह अभिनव जनवादी विश्लेषण।

"इसमे सन्देह नही कि भारत मे मुसलमानो के आगमन के पश्चात् हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियो मे एक लम्बी अवधि तक मुक्त आदान प्रदान और मिश्रण होता रहा।"

ईरानियो की सस्कृति, अरबो, पठानों, उजबकों की सस्कृति—सब एक-सी, सब इस्लामी सस्कृति!

निर्गुणपंथियों और प्रेम मार्गियो ने हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियो को मिलाया। 'इस सयुक्त विचार-परम्परा की कविताएँ यद्यपि सत्रहवी शताब्दी तक होती रही परन्तु स्वामी रामानुजाचार्य के अनुयायी रामानन्द और श्री वल्लभाचार्य ने राम और कृष्ण की सगुणोपासना की जो परिपाटी चलाई उसने तुलसी और सूर जैसे महाकवियों को जन्म दिया जिन्होंने अवधी और ब्रज की काव्यधारा को कबीर और जायसी की हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियों की सम्मिलित परम्परा से एकदम अलग कर दिया। अवधी और ब्रज की काव्य परम्परा हिन्दू सस्कृति की प्राचीन काव्य-परम्पराओं की उत्तराधिकारिणी बन गई। यह हिन्दू जातीयता की नवचेतना का परिणाम था।"

मुसलमानो के आने पर पहले तो सम्मिलित सस्कृति की धारा चली, फिर उसे सूरदास और तुलसीदास ने तोड दिया। यह भी अच्छा हुआ क्योंकि सत्रहवी सदी से हिन्दू जातीयता का अभ्युत्थान आरम्भ हो गया था। इन महाकवियो ने उसे पहचाना और उसे अपने साहित्य मे अभिव्यक्त किया।

रीति और भक्ति की काव्यधाराओ मे भले ही बहुत से मुसलमानों ने योग दिया हो, श्री चौहान के अनुसार "ये काव्यधाराएँ हिन्दू जातीयता के नवोन्मेष की प्रतीक है।" इनके भाव-विचार ही नही, "सौन्दर्य मूल्य, छन्द रचना, ध्वनि-योजना, अलकार-विधान" भी "सस्कृत साहित्य और हिन्दू-आर्य सस्कृति से प्रभावित और निरूपित हैं।' चौहान ने यह नही बताया कि जिन कवियो ने हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियो का मेल किया था, उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम छन्दो का मेल कैसे किया था।

आधुनिक हिन्दी के युग में आइए। हिन्दू संस्कृति की वह परम्परा आगे भी कायम रही। लिखा है— सूरदास और तुलसीदास के समय से भारतेन्दु काल तक ब्रज और अवधी की काव्य परम्परा में यह विचारधारा ही सर्वप्रथम बनी रही।"

आधुनिक खड़ी बोली ने अपने से पहले की सांस्कृतिक परम्पराओं से सम्बन्ध या जोड़ा—"खड़ी बोली हिन्दी ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशों से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़कर शौरसेनी, मागधी आदि अपभ्रंशों की अन्य भाषाओं के प्राचीन साहित्य को अपना प्राचीन साहित्य घोषित करके अपने को आर्य-हिन्दू परम्परा का उत्तराधिकारी सिद्ध किया। इस प्रकार हिन्दू जातीयता और तदनन्तर हिन्दू राष्ट्रीयता ने अपनी जाग्रति, संगठन और विकास के लिए खड़ी बोली हिन्दी के द्वारा अपना मार्ग प्रशस्त किया अथवा कहें कि इस पुनरुत्थान और राष्ट्रीय चेतना में हिन्दुओं के लिए खड़ी बोली हिन्दी माध्यम और वाहक बनी। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इस तथ्य को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है।"

शिवदानसिंहजी ने उदारतावश हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों का उल्लेख कर दिया है। वरना पहले हिन्दू जातीयता, तदनन्तर हिन्दू राष्ट्रीयता के विकास का सूक्ष्म भेद किसने किया है? साधारण पाठक इस भेद को समझ भी नहीं सकते। हिन्दू जातीयता हिन्दी-भाषी क्षेत्र तक सीमित थी, इसके प्रचारक-प्रसारक सूरदास और तुलसीदास थे। खड़ी बोली सारे भारत में फैल गई, वह हिन्दुओं की नयी भारतव्यापी राष्ट्रीयता का द्योतक हुई। इसलिए लिखा कि पहले हिन्दू जातीयता, तदनन्तर हिन्दू राष्ट्रीयता का विकास हुआ। यदि यह व्याख्या गलत हो तो भाई शिवदानसिंह उसे दुरुस्त करके अपनी व्याख्या प्रस्तुत कर दें।

लेकिन 'अपभ्रंशों की अन्य भाषाओं' से उनका क्या तात्पर्य है, यह मैं बहुत कोशिश करने पर भी नहीं समझ पाया। खैर, अर्थ जो कुछ भी हो, "अपभ्रंशों की अन्य भाषाओं के प्राचीन साहित्य को अपना प्राचीन साहित्य"—यह टुकड़ा अपनी 'ध्वनि-योजना' में निश्चय ही हिन्दू राष्ट्रवादी है!

हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने ज्यादातर भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति की बात की है। चौहान ने भारतीय शब्द की व्याख्या करके उसका सात्विक अर्थ स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने लिखा है—"आधुनिक हिन्दी के साहित्य के यदि सभी अंग उपांगों का निरीक्षण करें (कितना धैर्य चाहिए इस कार्य के लिए! सराहिये उस मर्मभेदी दृष्टि को जो अंगों ही नहीं, उपांगों तक का निरीक्षण कर लेती है!) तो उससे निर्विवाद सिद्ध हो जायगा कि हिन्दी साहित्य में भारतीय साहित्य, संस्कृति, विचारधारा तथा राष्ट्रीयता आदि जिन शब्दों के आगे 'भारतीय' विशेषण निर्बाध प्रयोग होता है वह वास्तव में मुसल-मानों के योग से विकसित एक संयुक्त अखिल भारतीय संस्कृति अथवा **विचार-**

धारा का द्योतन नही करता। इन प्रयोगो मे 'भारतीय' केवल हिन्दू-आर्य सस्कृति और हिन्दू राष्ट्रीयता का अर्थवाची है।"

भाषाविज्ञान और समाजशास्त्र दोनो ही की दृष्टि से श्री चौहान की यह खोज अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि हिन्दी लेखक भारतीय शब्द का प्रयोग उसी अर्थ मे करते हैं जिसमे भारतीय जनसघ के नेता करते हैं।

जिन निर्गुणपथी सन्तो के बारे मे चौहानजी की राय है कि उन्होने हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियो का मेल किया था, उनके लिए हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने लिखा है कि उनके काव्य की बाहरी रूपरेखा 'सम्पूर्णत भारतीय' है ('हिन्दी साहित्य की भूमिका,' पृ० ३१)। शायद उनका मतलब है कि बाहर से पूरे हिन्दू हैं, भीतर से आधे मुसलमान। लेकिन उसी वाक्य मे बौद्धो को भी लाकर 'भारतीय' के विशुद्ध अर्थ को खडित कर दिया है—"बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धो और नाथपथी योगियो के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है।"

'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य' नाम के अपने निबन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था "आजकल के पार्कों मे हम भारतीय आदर्श की छाया देखते हैं।" अर्थात् ये पार्क हिन्दू है, मुस्लिम नही।

श्री हरिशकर शर्मा ने उर्दू-साहित्य के इतिहास मे जोश मलीहाबादी की राष्ट्रीय कविताओ का उल्लेख किया है; श्री गोपीनाथ अमन ने 'उर्दू और उसका साहित्य' मे चकवस्त की राष्ट्रीय कविताओ की चर्चा की है। चकबस्त तो हिन्दू थे ही, जोश भी कुछ समय के लिए हिन्दू राष्ट्रीयता के गीत गाने लगे, वरना आर्यसमाजी विद्वान् श्री हरिशकर शर्मा उनकी राष्ट्रीयता की प्रशसा कैसे करते।

फिराक साहब ने उर्दू की प्रगतिशील कविताओ के सग्रह 'जजीरें टूटती हैं' की भूमिका मे इनके रचयिताओ के लिए दावा किया है कि 'आदिकाल से अब तक की भारतीय सस्कृति उनकी जागीर है।' चूंकि यह जागीर हिन्दुओ की है, इसलिए फिराक गोरखपुरी का तो उसमे थोडा-बहुत हिस्सा हो भी सकता है, लेकिन मखदूम मुहीउद्दीन, राही मासूम रजा, वामिक जौनपुरी, अली सरदार जाफरी वगैरह भी हिस्सेदार हो जायें, यह बात बर्दाश्त नहीं की जा सकती।

बगालियो ने शब्दो का अर्थ अलग भ्रष्ट कर दिया है। प्राचीन सस्कृति के सबसे बडे जागीरदार श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कबीर, नानक, दादू आदि को पहले तो भारतीय साधक कहा, फिर उनका सम्बन्ध राममोहन राय से जोडा, राममोहन राय का सम्बन्ध आधुनिक साहित्य से जोडकर हिन्दू-मुस्लिम विकास के तमाम इतिहास का ही सत्यानाश कर दिया। (देखिए दादू ग्रन्थावली की भूमिका)

भारत के आधुनिक विकास की विशेषता क्या है ? श्री चौहान कहते हैं, "वस्तुत हमारे देश के ऐतिहासिक विकास-क्रम की ही यह विशिष्टता है कि

राष्ट्रीय चेतना ने हिन्दू राष्ट्रीयता और मुस्लिम राष्ट्रवादिता का रूप ग्रहण किया।"

जिसे राष्ट्रवादी लोग साम्प्रदायिकता कहते थे, वही सच्ची राष्ट्रीयता है; जिसे वे राष्ट्रीयता कहते थे, वह "पाँच-सात सौ वर्ष के ऐतिहासिक जीवन की स्मृतियों तक को उन्मूलन करने की असम्भव चेष्टा" है।

हिन्दुओं और मुसलमानों की एक राष्ट्रीयता ? असम्भव ! यह सम्प्रदायवाद है, जनतंत्र की हत्या है। उदार जनवादी दृष्टि से विचार कीजिए तो पता चल जाएगा कि इस 'द्वैत को स्थायित्व प्रदान' करने में अंग्रेज़ी शासन का भी हाथ भले रहा हो, "राष्ट्रीय जागरण ने इस भेद चैतन्य को और भी निखारा है।" चैतन्य महाप्रभु के बाद गौरांग महाप्रभु की कृपा से ये नये भेद चैतन्यजी प्रकट हुए।

इन भेद चैतन्यजी के प्रकट होने का फल यह हुआ कि एक ओर हिन्दू संस्कृति को प्रतिबिम्बित करनेवाला हिन्दी साहित्य विकसित हुआ, उसी तरह मुस्लिम संस्कृति को प्रतिबिम्बित करनेवाला उर्दू-साहित्य भी संवर्धित हुआ।

'हिन्दी (संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक बोली) के समानान्तर (अरबी-फारसी-निष्ठ) साहित्यिक खड़ी बोली का विकास मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव में हुआ।"

संस्कृत के शब्द मानो हिन्दू हैं, फारसी के शब्द मुसलमान हैं, इसलिये जहाँ संस्कृत के शब्द ज्यादा हो वहाँ हिन्दू संस्कृति जीती, जहाँ अरबी-फारसी के शब्द ज्यादा हो वहाँ इसलाम जीता।

"राष्ट्रीय जाग्रति के साथ-साथ हिन्दी और उर्दू का भेद और भी बढ़ गया।" पहले प्रगतिशील लेखक यह भेद देखकर परेशान होते थे, उसे दूर करने की कोशिश करते थे। चौहान ने बताया कि परेशानी की कोई बात नहीं है, "दोनों भाषाओं ने अपनी प्रकृति के अनुकूल पर्याप्त विकास किया" और "राष्ट्रीय जाग्रति के बिना इन दोनों भाषाओं का ऐसा अपूर्व विकास असम्भव होता।"

इस राष्ट्रीय जाग्रति से शायद गांधीजी का भी कुछ सम्बन्ध था। उन्होंने जीवन-भर प्रयत्न किया कि यह भेद मिटे और हिन्दी-उर्दू एक-दूसरे के नज़दीक आएँ। वे हिन्दू-मुसलमानों तथा हिन्दी-उर्दू के भेदभाव से क्षुब्ध थे। इसका कारण यह था कि उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आधुनिक इतिहास को समझा न था, उसका निर्माण भले ही किया हो। श्री चौहान के शब्दों में "हिन्दी और उर्दू के स्वतन्त्र विकास से केवल ऐसे ही लोग विक्षुब्ध हैं जो अपने अनैतिहासिक दृष्टिकोण और इस बद्धमूल धारणा के कारण कि हिन्दू मुस्लिम एकता अथवा समस्त भारत की अखण्डता के लिए एक ही राष्ट्रभाषा का होना अनिवार्य है, भारत की विशिष्ट वस्तुस्थिति को समझ नहीं पाते।"

यह हुई विशुद्ध समाजशास्त्र की बात। आप पूछ सकते हैं, किसी भाषा के शब्द-भण्डार या व्याकरण-व्यवस्था से धर्म का क्या सम्बन्ध है। आप न जानते!

१ और भाषा-समस्या के जनतान्त्रिक समाधान।

होगे कि ससार के तमाम ईसाइयों की भाषाओं का व्याकरण एक सा है, तमाम मुसलमानो की भाषाओं का व्याकरण एक सा है। जब इस्लाम भारत मे आया तब उसने न केवल यहाँ की भाषाओं के शब्द-भण्डार मे भारी उथल-पुथल की, उसने इन भाषाओं के व्याकरण मे भी राष्ट्रीय और जनवादी क्रान्ति कर दी।

चौहान ने लिखा—"हिन्दी और उर्दू की भिन्नता केवल शब्दो के सस्कृत या फारसी प्रयोग तक ही सीमित नही है। उनके व्याकरण, पिंगल वाक्य-विन्यास आदि मे भी मौलिक भेद उत्पन्न हो गया है।" क्लिष्ट शब्द तो दोनो मे होते ही है, "परन्तु इससे भी अधिक खडी बोली के व्याकरण का शुद्ध पालन न हिन्दी मे किया जाता है, न उर्दू में। हिन्दी व्याकरण पर सस्कृत व्याकरण का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है और उर्दू व्याकरण पर फारसी और अरबी व्याकरण की गहरी छाप पड गई है।"

सम्भवत अरबी और फारसी—दो भिन्न कुलो की भाषाओं—का व्याकरण एक-सा है क्योंकि दोनो का प्रभाव मुसलमानो की खडी बोली पर पडा है। आश्चर्य की बात है कि मराठी, हिन्दी और बँगला—तीनों के व्याकरण पर सस्कृत का प्रभाव पडा लेकिन मराठी मे तीन लिंग हैं, हिन्दी म दो, बँगला मे एक भी नही। गम्भीरता से विचार कीजिए तो आपको ज्ञात हो जायगा कि मराठी पर सस्कृत का प्रभाव सबसे ज्यादा है, इसलिए उसके बोलनेवाले सब हिन्दू हैं या हिन्दू राष्ट्रवादी हैं, हिन्दी मे दो ही लिंग हैं, इसलिए यहाँ हिन्दुत्व कमजोर रहा, मुसलमान हिन्दू राष्ट्रवादी न हुए, उल्टा अपना राष्ट्रवाद विकसित करते रहे। बँगला मे एक भी लिंग नही, सस्कृत का प्रभाव सबस कम, इसलिए बगाल के दो टुकडे हो गए!

यहाँ तक तो हुई भूत और वर्तमान की बात।

अब लीजिए भविष्य की बात। चौहानजी ने गुरुजी को समझाया कि आप यह भ्रम त्याग दीजिए कि भविष्य म कभी हिन्दी-उर्दू मिलकर एक हो जाएँगी। "*यह कहना कि राष्ट्रीय भावना ज्यो-ज्यो व्यापक होती जाएगी त्यो त्यो हिन्दी-*उर्दू का भेद कम होता जाएगा, केवल भ्रात धारणा है। यथार्थ सत्य तो यह है कि ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय भावना व्यापक होती गई है, दोनो भाषाओं के पृथक् विकास की गति भी उतनी ही तीव्र होती गई है।"

अन्त मे समाधान यह रहा कि "मुस्लिम-प्रधान प्रान्तो मे राजकीय कार्यों मे उर्दू भाषा का प्रयोग होगा," इसी प्रकार "मध्यदेश (हिन्दू-प्रधान प्रान्तो) मे राजकीय कार्यों मे हिन्दी भाषा का प्रयोग होगा।' दोनो इलाकों के अल्प-सख्यक अपनी-अपनी भाषा का व्यवहार भी कर सकेंगे। चौहानजी यह मानकर चले थे कि पूर्वी बगाल के मुसलमान उर्दू का व्यवहार करने को बहुत उत्सुक हैं। हिन्दू भारत मे एक द्रविड प्रदेश है। उसके बारे मे वह अधिक सतर्क थे। उन्होंने जबरन राष्ट्रभाषा लादने का विरोध करते हुए सुझाया—"सम्भव है कि वे अपनी ही किसी भाषा को अपने प्रान्तों की राष्ट्रभाषा बनाना चाहें।"

इस तरह भाषा समस्या का जनवादी समाधान यह हुआ कि द्रविड प्रान्तो की अपनी राष्ट्रभाषा, मुस्लिम प्रान्तो की राष्ट्रभाषा उर्दू, द्रविडो से भिन्न आर्य-हिन्दू भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी ! तीन राष्ट्र और राष्ट्रभाषाएँ !

यह तो राष्ट्रभाषा की समस्या का समाधान हुआ । हिन्दी प्रान्तो की एक विशेष समस्या की ओर भी उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया । हिन्दी प्रान्तो म "लगभग बीस भाषाएँ और बडी बोलियाँ बोली जाती हैं ।" उनके आधार पर "हिन्दी प्रान्तो का भी पुर्नविभाजन करना होगा ।" इस तरह हिन्दीभाषी प्रदेश को मिलाने के बदले चौहानजी ने बीस नय प्रान्त बनाने की सलाह दी ।

'जनपदीय भाषाओ का प्रश्न' नाम क लम्बे निबन्ध मे उन्होंने राहुलजी की मातृभाषा-सम्बन्धी मान्यताओ का और भी सँवारकर पश किया । ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अग्रेजी को अनिवार्य राजभाषा बनाकर यहाँ की भाषाओ का दमन किस तरह किया इसका विवेचन न करके, साम्राज्यवाद की भूमिका को मुलाकर श्री शिवदानसिंह ने खडी बोली हिन्दी के साम्राज्यवाद पर आक्रमण किया । यह साम्राज्यवाद हिन्दी क्षेत्र की बोलियो का दमन कर रहा था ।

उन्होंने लिखा, "अकेली खडी (हिन्दी-उर्दू) न लगभग पन्द्रह करोड बयासी लाख व्यक्तियों को अपनी मातृभाषाओं म शिक्षा पाने से वचित कर रखा है । इससे सिद्ध है कि भारत भी 'भाषाओ का विशाल कारागार' है ।"

भारत कारागार ब्रिटिश साम्राज्य के कारण नही है, यहाँ की भाषाएँ अग्रेजी के कारण कारागार मे बन्दी नही है, उन्हे कारागार मे डाला है खडी बोली ने ।

भारत को उपनिवेश ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने नही बनाया, यहाँ उपनिवेश कायम किये हैं हिन्दी साम्राज्य ने ।

चौहान अपने अद्भुत भाषाशास्त्र की दृष्टि " 'हिन्दी-साम्राज्य' के विभिन्न 'भाषा-उपनिवेशो' की आन्तरिक परिस्थिति पर" डालते हैं । वह इस नतीजे पर पहुँचते हैं, "हिन्दी का वर्तमान साम्राज्य 'तास के घर' से अधिक मजबूत नही है ।" बोलियों के उपनिवेश टूट जाएँग, "फिर खडी बोली को अपने साम्राज्य का पश्चिमी हिन्दी के क्षेत्र मे भी विघटन करके अपन जनपद मे ही सन्तोष करना पडेगा ।"

चौहान का विचार था कि अग्रेजो और अग्रेजी का साम्राज्य चाहे बाद में खत्म हो, हिन्दी का साम्राज्य पराधीन भारत मे ही खत्म हो जाना चाहिए । "यदि वर्तमान आधार को हटाकर न्याय, समानता और स्वतन्त्रता का नया आधार न प्रदान किया गया तो भारत के स्वतन्त्र होने पर हिन्दी के साम्राज्य को ढहते देर न लगेगी ।"

भारत स्वतन्त्र हो गया; हिन्दी का 'साम्राज्य' न ढहा । बोलियो के उप-निवेश न टूटे । हिन्दी प्रान्तो मे नये बीस प्रान्त न बने । इसलिए अठारह साल तक हिन्दी-साम्राज्य के ढहने की राह देखने के बाद चौहानजी ने स्वय खत्म

उठाये और आलोचना न० ३४ (जुलाई, '६५; सितम्बर मे प्रकाशित) मे भारत की एकता के नाम पर इस साम्राज्य पर हल्ला बोल दिया।

चौहान के पहले के लेखो मे जैसे अग्रेज़ी का प्रमुत्व खत्म करने पर ज़ोर नही है, वैसे ही इस लेख मे अग्रेज़ी को अनिवार्य राजभाषा के पद से हटाने का आग्रह नही है। श्री सज्जाद ज़हीर ने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध, सारे देश की स्वाधीनता के लिए न लागू करके, उसे *राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध, जनतन्त्र के नाम पर, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित मे* लागू किया था। इस समय उन्हे उर्दू के सरक्षण की जितनी चिन्ता है, उतनी अग्रेज़ी हटाने की नही। उन्ही की तरह श्री चौहान ने उर्दू की रक्षा का नारा लगाया है लेकिन वह दूसरो की स्थापनाओ को दोहराते-भर नही हैं। वह योग्य शिष्य हैं, इस नाते उन्होने आत्मनिर्णय का अधिकार हिन्दी के उपनिवेशो पर लागू किया है।

अवध, बुन्देलखण्ड, ब्रज, भोजपुरी क्षेत्रो के जो लेखक हिन्दी को अपनी मातृभाषा कहते है, उनकी निन्दा करते हुए श्री चौहान ने प्रश्न किया है कि जब अग्रेज़ी मे साहित्य रचनेवाले मुल्कराज आनन्द, भवानी भट्टाचार्य, और के० नारायणन अग्रेज़ी को अपनी मातृभाषा नही कहते, तब प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, वृन्दावनलाल वर्मा, रामचन्द्र शुक्ल ही हिन्दी को अपनी मातृभाषा क्यो कहे ? हिन्दी साहित्य का सारा इतिहास चौहानजी को विकृत दिखाई देता है; इसके रचनेवालो की मातृभाषा हिन्दी थी ही नही, जैसे मुल्कराज आनन्द और भवानी भट्टाचार्य की मातृभाषा अग्रेज़ी नही है। यशपालजी की मातृभाषा हिन्दी नही है। "इस दृष्टि से उनकी और डा० मुल्कराज आनन्द की स्थिति मे विशेष फर्क नही है। यह बात भारतेन्दु से लेकर मोहन राकेश तक की नई पीढी के निन्यानवे फी सदी हिन्दी लेखको और हिन्दी-आन्दोलन के सुभट योद्धाओ के बारे मे भी सच है।"

मुल्कराज और यशपाल की स्थिति मे विशेष फर्क न हो, थोडा बहुत फर्क तो है ही। चौहान हिन्दी के निन्यानवे फी सदी लेखको को मातृघाती कहते हैं क्योकि उनकी समझ मे इन लेखको की मातृभाषा हिन्दी नही है। लेकिन अग्रेज़ी मे उपन्यास-कहानियाँ लिखनेवाले मुल्कराज आनन्द को मातृघाती कहने का साहस उनमे नही है। कारण, इससे विश्वभाषा अग्रेज़ी के प्रति सकीर्णता प्रकट होती है और 'ऐफ्रो-एशियन-सौलिडैरिटी' को धक्का लगता है। भारत मे इस सौलिडैरिटी के तीन स्तम्भ हैं—मुल्कराज आनन्द, सैयद सज्जाद ज़हीर और शिवदानसिंह चौहान।

भारतेन्दु से लेकर मोहन राकेश तक हिन्दी के निन्यानवे फी सदी लेखक अपनी मातृभाषाएँ छोडकर हिन्दी की सेवा क्यो करते रहे हैं ? अर्थ और यशलाभ के लिए ! देशभक्त बनने का सुख अलग से ! इन मातृघातियो से मातृभाषाओ की रक्षा करने के लिए खड्ग लेकर उठ खडे हुए हैं, श्री शिवदानसिंह

चौहान।

जनताप्रियता की होड मे सभी भारतीय लेखको को पछाडते हुए उन्होने लिखा है, "आज की 'हिन्दी' हम सबने अपनी मातृभाषाओ को त्यागकर स्कूलो मे किताबो मे ही सीखी-पढी है, जिस तरह अग्रेज़ी स्कूलो मे किताबो से सीखी-पढी है। इसे आप क्या कहेगे, मातृघात या कुछ और, मैं यह तो नही जानता, क्योंकि जब हम लोगों ने शिक्षालयो मे प्रवेश किया, उस समय हिन्दी या उर्दू के अलावा अपनी मातृभाषाओ में पढने का कोई विकल्प ही नही था। आज भी नही है। लेकिन यह सच है कि एक समय जो विवशता थी, वह बालिग होने पर अर्थ और यशलाभ और देशभक्ति के रूप मे प्रसिद्धि पाने का नुस्खा साबित हुई, इसलिए अपनी मातृभाषाओ के प्रति अपना कर्तव्य भुला देना ही हम सबके आगे सबसे सुविधाजनक मार्ग था।"

सुबह का भूला शाम को घर लौट आए तो उसे भूला हुआ नही कहते। चौहान अब समझ गए हैं कि अर्थ और यश के लिए हिन्दी-सेवा करना अनुचित है। उन्होने स्वय काफी यश अर्जित कर लिया है, अर्थ भी 'आलोचना' से ऐसा क्या मिलता होगा? उन्हे चाहिए कि वह हिन्दी के मातृघाती लेखको के सामने अपने त्याग से एक मिसाल कायम करें। अब उन्हे हिन्दी लिखना बन्द कर देना चाहिए और जिन्दगी के बाकी दिन मातृभाषा की सेवा म लगाने चाहिएँ। सम्भवत उनकी मातृभाषा ब्रज है, उसकी सेवा करें। अभी तक उनका कोई लेख, कोई पुस्तक ब्रजभाषा म लिखी हुई देखने को नही मिली। ब्रजभाषा मे अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय देकर वह ब्रज और हिन्दी दोनो का उपकार करेंगे। मातृभाषा ब्रज न हो तो जो भी मातृभाषा हो, उसकी सेवा करें। उनके पिताजी ने एक बार आगरे मे दर्शन दिए थे। पुलिस के आदमी थे। उन्होंने अपने पुत्रों की चर्चा करते हुए बहुत मुहावरेदार खडी बोली का व्यवहार किया था। उनके धाराप्रवाह वाक्य मुझे अभी तक याद हैं यद्यपि उन्हें लिखकर प्रकाशित करने का साहस मुझमे नही है। बहरहाल सवाल मातृभाषा का है, पितृभाषा का नही।

फ्रायड ने ईडीपस काम्प्लेक्स ईजाद करके सभी किशोरो और शिशुओ को सम्भाव्य पितृघाती सिद्ध कर दिया था। शिवदानसिहजी ने पितृघात की बात पुरानी पड जाने से उसे त्यागकर अधिक वैज्ञानिक इस मातृघाती काम्प्लेक्स का आविष्कार किया है। अब देखिए, इससे कैसी जटिल ग्रन्थियाँ लोगो के मन मे पड जाती हैं!

कहते हैं, "अपनी मातृभाषाओ के प्रति अपनी उपेक्षा को हम मातृघात कहें या नही, यह तो मैं नही जानता, लेकिन इतना जानता हूँ कि हिन्दी के लेखक और आन्दोलनकारी नेताओ के अन्तर्मन मे कही कोई अपराध-भावना की ग्रन्थि जरूर पड गई है जिसके कारण वे अपने अपराध पर परदा डालने के लिए इतिहास को तोड-मोडकर यह सिद्ध करने की कोशिश करते रहते हैं कि मथिली,

राजस्थानी अवधी ब्रज आदि वस्तुत स्वतन्त्र भाषाएं नहीं है 'हिन्दी' (संस्कृत-निष्ठ साहित्यिक खड़ी बोली) की ही स्थानीय बोलियां है और जनगणना आदि के मौके पर हिन्दी प्रचारक और जनसंघ के अन्ध-हिन्दूराष्ट्रवाद से प्रभावित सरकारी अमला इन भाषाओं को बोलनेवाली जनता पर दबाव डालते हैं कि वे मातृभाषा के खाने में राजस्थानी या मैथिली न लिखवाकर हिन्दी' लिखवाएँ, यानी वे उत्तर भारत की समूची जनता को अपने अपराध' में साझीदार बना लेना चाहते हैं।'

इस अपराध भावना से वे लोग मुक्त हैं जिन्होंने खड़ी बोली के उर्दू रूप को अपनाया है। खड़ी बोली यदि मातृभाषा है तो उर्दू-रूप में, हिन्दी रूप में नहीं! यह नयी मान्यता है जो श्री चौहान के पुराने निबन्धों की मान्यता से बहुत आगे बढ़ गई है। अब उन्होंने सीधे-सीधे उर्दू को मुस्लिम राष्ट्रवाद की भाषा कहना छोड़ दिया है, अब वे हिन्दी का ही सम्बन्ध हिन्दू राष्ट्रवाद से जोड़ते हैं। उर्दू हिन्दुओं और मुसलमानों की मुश्तर्का जबान है!

लिखा है, 'माँ के घुटनों पर बैठकर हम में से किसी ने 'हिन्दी' नहीं सीखी जिस तरह कि अधिक पुरानी शैली (!) उर्दू को दिल्ली लखनऊ, हैदराबाद अनेक सांस्कृतिक केन्द्रों के बच्चे हजारों हिन्दू और मुसलमान परिवारों में पुश्त-दर पुश्त से अपनी माताओं की गोद में ही सीखते आए है।

क्या कारण है कि दिल्ली, लखनऊ और हैदराबाद के हिन्दू मुसलमान तो पुश्त दर-पुश्त अपनी माताओं की गोद में ही उर्दू सीखते आए हैं लेकिन इलाहाबाद, बनारस और पटना के हिन्दू मुसलमान अपनी माँ की गोद में हिन्दी नहीं सीख पाए? कारण यह है कि चौहान की समझ में उर्दू मुख्यतः मुसलमानों की भाषा है, दिल्ली, लखनऊ और हैदराबाद में मुसलमान काफी बड़ी संख्या में हैं, बनारस पटना और इलाहाबाद में वे इतनी बड़ी संख्या में नहीं हैं इसलिए खड़ी बोली के प्रसार का एक नियम लागू होता है मुस्लिम प्रधान शहरों में दूसरा नियम लागू होता है हिन्दू प्रधान शहरों में—इस कारण खड़ी बोली का उर्दू-रूप तो मातृभाषा है उसका हिन्दी रूप नहीं है! शिवदानसिंह चौहान ने भाषाओं का विभाजन फिर उसी पुराने साम्प्रदायिक आधार पर किया है। उनके जनतांत्रिक आडम्बर के नीचे वही साम्प्रदायिकता का चोर छिपा हुआ है।

यदि यह मान भी लें कि दिल्ली, लखनऊ और हैदराबाद के हिन्दुओं और मुसलमानों की मातृभाषा उर्दू है तो भी यह बात साफ नहीं होती कि चौहान उर्दू के उन तमाम लेखकों को मातृघाती क्यों नहीं कहते जो इन शहरों से दूर ब्रज अवध, पंजाब या भोजपुरी क्षेत्रों के रहनेवाले थे। उर्दू के दो सबसे बड़े शायर गालिब और मीर आगरे में पैदा हुए थे। सौदा के बाप ईरानी थे। इकबाल पंजाबी थे। साहिर लुधियानवी, हफीज जालन्धरी, जोश मलसियानी, जगन्नाथ आज़ाद अहमद नदीम कासिमी फैज़, राजेन्द्रसिंह बेदी, कृश्न चन्दर आदि पंजाबी है। ये सब मातृघाती है या नहीं? जोश मलीहाबादी, फिराक

गोरखपुरी, मजरूह सुल्तानपुरी, फानी बदायूनी, शाद अजीमाबादी, अकबर इलाहाबादी वगैरह मातृघाती क्यो नही हैं ?

दरअसल चौहान अंग्रेजी और उर्दूवालो के सामने खीसें निपोरते हैं, अर्थ और यशलाभ के लिए नही, विशुद्ध जनतन्त्र की रक्षा के लिए, हिन्दीवालो पर गुर्राते हैं क्योकि जिस पत्तल मे खाना, उसी मे छेद करना उनकी न्यायप्रियता का सबसे बडा प्रमाण होगा। इसलिए भारतेन्दु से लेकर मोहन राकेश तक वे हिन्दी-लेखको को कोसने म उन्हे ज़रा भी झिझक नही होती, लेकिन उर्दू भाषा और साहित्य के लिए वह नियम-कायदे दूसरे बना लेते हैं।

उन्हें यह नही मालूम कि उर्दू के बहुत से लेखक आज भी अपने घरों मे अवधी या भोजपुरी बोलते हैं। उन्हे नही मालूम कि उर्दू के बहुत से कवियो की भाषा पर स्थानीय बोलियो का प्रभाव पडा है। यह प्रभाव नज़ीर की कविताओं में सबसे ज्यादा स्पष्ट है। उन्हें यह तो जरूर मालूम होगा कि उर्दू के पजाबी लेखक आपस मे पजाबी बोलते हैं। पजाब, अवध और व्रज के उर्दू लेखको को निकाल दीजिए, तीन-चौथाई उर्दू-साहित्य का सफाया हो जाएगा। चौहान को यह नही मालू[म] कि हैदराबाद मे हिन्दुओ और मुसलमानो की जो बोलचाल की भाषा है, व[ह] पुरानी खडी बोली का वह रूप है जिसे उत्तर भारत के लोग यहाँ से अपने सा[थ] ले गए थे और जिस पर मराठी-तेलुगु आदि भाषाओं का प्रभाव पड़ा है।

बोलचाल की दकनी म 'भूलना नको', 'नामई च नही लेते', 'साढे नौ बज[े] कूँ आए' जैसे प्रयोग होते हैं। (देखिए, श्रीराम शर्मा का सकलन 'दक्खिनी क[ा] गद्य और पद्य', पृ० ४५६)। हैदराबादी बन्धु 'क' या 'क' की जगह 'ख' क[ो] बोलते हैं, इसके बहुत स लतीफे मशहूर हैं। चौहानजी इन सब बातो से बेख[बर] है। 'उल्टा चोर कोतवाल को डाटे' की मसल चरितार्थ करते हुए फर्माते "जब कोई व्यक्ति, वर्ग या समुदाय जीवन की वास्तविक परिस्थिति को खु[ली] आँखो मे देखने म असमर्थ हो जाता है और इस तरह की अमूर्त मिथिक प[रि]कल्पनाएँ गढकर उनके चश्मे से जीवन-वास्तव को देखने लगता है, तब उस[से] तर्क, विवेक और औदार्य की अपेक्षा नही की जा सकती।"

वास्तविक परिस्थिति क्या है ? हैदराबाद मे लोगो की बोलचाल की जबान दिल्ली की उर्दू है या उससे भिन्न दकनी ? उर्दू के पजाबी लेखको की घर की भाषा उर्दू है ? मलीहाबाद, अज़ीमाबाद, गोरखपुर, इलाहाबाद के लोगो की बोलचाल की भाषा साहित्यिक उर्दू है ? तथ्यो से कौन आँखें चुराता है ?

वास्तविक स्थिति यह है कि हर भाषा की अपनी बोलियाँ होती हैं। अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी की तरह बंगला, मराठी, हिन्दी, तमिल आदि भाषाओं की भी अपनी बोलियाँ हैं। इस बारे मे बहस हो सकती है कि कोई बोली स्वतन्त्र भाषा है या बोली, लेकिन किसी भाषा की बोलियाँ ही न हो, ऐसा नही होता। पूंजीवाद के विकास के साथ जब विनिमय के बडे-बडे केन्द्र नगरो के रूप मे स्थापित होते हैं, तब उनमे अनेक बोलियो के क्षेत्रो—अनेक जनपदों—स सिमटकर लोग

माते हैं। दिल्ली और आगरा मे बहुत से परिवार पूरब से आकर बस गए। इनके यहां लोग अब भी घर में अवधी बोलते हैं। इनमे मुस्लिम परिवार भी हैं।

हिन्दी-भाषी जाति के विकास और गठन मे दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद और पटना मुख्य सास्कृतिक केन्द्र बने। यहां खडी बोली का प्रसार हिन्दुओ और मुसलमानो दोनो ने किया। इनकी बोलचाल की भाषा म धार्मिक आधार पर कोई फर्क नही है। साथ ही इन शहरो के बहुत से हिन्दू और मुसलमान अपने घरो मे खडी बोली से भिन्न अपनी पुरानी बोली का भी व्यवहार करते रहे हैं। इसलिए यह कहना कि उर्दू तो मातृभाषा है, हिन्दी नही है, गलत है। दिल्ली, आगरा, लखनऊ आदि शहरो म हजारो लोग ऐसे हैं जिन्होंने माँ की गोद मे खडी बोली सीखी है और हजारो ऐसे हैं जिन्होंने मोहल्ले के दोस्तों से खडी बोली सीखी है। कुछ ऐसे भी हैं जो बहुत कोशिश करने पर भी खडी बोली नही सीख पाए, न उसका हिन्दी रूप, न उर्दू रूप।

कानपुर, लखनऊ, पटना आदि शहरो में मजदूरी और नौकरी के लिए जो अवधी, भोजपुरी बुन्देलखण्डी आदि बोलियो का व्यवहार करने वाले लोग एकत्र होते हैं, अपने सामाजिक कार्यों के लिए वे खडी बोली अपनाते हैं। इसे हम जातीय निर्माण की प्रक्रिया समझें या बोलियो के दमन की प्रक्रिया ! दिल्ली से पटना तक और पटना से भोपाल उज्जैन तक कोई ऐसा शहर नही है जिसम विभिन्न जनपदो के लोग एकत्र न हुए हो। इन लोगो ने अपने राजनीतिक-सास्कृतिक कार्यों के लिए खडी बोली को अपनाया है। अब छोटे छोटे कस्बो तक म एक ही देहाती बोलनेवाले नही रह गए हैं। लेकिन जातीय निर्माण की यह सारी प्रक्रिया न समझकर, बोली और भाषा का भेद न समझकर, जातीय प्रदेश और सामन्ती युग के जनपदो का भेद न समझकर, स्तालिन की 'नेशन' की परिभाषा आँख मूँदकर जनपदो पर लागू करके, भाषावार प्रान्त निर्माण की माँग को हास्यास्पद बनाते हुए श्री चौहान ने माँग की है कि हिन्दी क्षेत्र मे '*दस पन्द्रह नये राज्यो का निर्माण' कर दिया जाय।* 'सोलह-सत्रह तो इस समय भी हैं। और इससे देश का विघटन नही हुआ तो दस-पन्द्रह और भाषावार राज्य बना देने से 'आसमान नही फट पडेगा।"

अहिन्दी प्रदेशो मे जो लोग हिन्दी के विरोधी हैं, वे यह तर्क देते हैं कि हिन्दी कृत्रिम भाषा है। उसकी कृत्रिमता सिद्ध करने के लिए वे हिन्दी की बोलियो का हवाला देते हैं, उन्हे स्वतन्त्र भाषाएँ कहकर हिन्दी को साम्राज्य-वादी उत्पीडक भाषा मानते हैं। यदि कोई हिन्दी प्रेमी मराठी, बँगला या तमिल के लिए कहे कि वे हिन्दी की बोलियाँ हैं या यह कि भारत मे एक राष्ट्रभाषा रहेगी, और सब भाषाएँ मिटा दी जाएँगी, तो यह जरूर साम्राज्य-वादी उत्पीडन की बात होगी। लेकिन लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, आगरा, दिल्ली म जो लोग मेहनत मजदूरी करने आते हैं, वे खडी बोली का व्यवहार

न करें तो बेमौत मरें। दिल्ली और कानपुर के सूती मिल-मजदूर खड़ी बोली का व्यवहार न करें तो उनका ट्रेड यूनियन आन्दोलन ठप हो जाय। मजदूर वर्ग को अपने संगठन के लिए जातीय भाषा की जरूरत होती है जो अलग-अलग बोलियाँ बोलनेवाले मजदूरों को एकजुट करे। चौहान के मार्क्सवाद में मजदूर वर्ग को स्थान नहीं है। यदि हो तो एक भी मिल, एक भी कारखाने, एक भी उद्योग का नाम बताने की कृपा करें जहाँ सिर्फ मैथिली, सिर्फ भोजपुरी, सिर्फ अवधी या अन्य कोई जनपदीय बोली बोलनेवाले ही काम करते हों।

चौहान ने कुत्सित समाजशास्त्र की काफी निन्दा की है। लेकिन उनके कुत्साहीन विशुद्ध समाजशास्त्र में कहीं पूँजीवादी विकास के अन्तर्गत नये विनिमय केन्द्रों में विभिन्न जनपदों से एकत्र होनेवाले मध्यम और श्रमिक वर्गों का उल्लेख नहीं है।

जातीय भाषा का प्रसार सामाजिक विकास का परिणाम है, इसलिए उसका विभाजन धर्म के आधार पर नहीं होता। भारतीय बुद्धिजीवियों पर अंग्रेजी का प्रभाव है, वे 'मिथिक' परिकल्पनाओं की बात करते हैं अंग्रेजी शब्दों और मुहावरों का गलत अनुवाद करके अपनी हिन्दी को सजाते हैं (जैसे 'कौस्टली' के लिए 'कीमती' शब्द का व्यवहार—'कीमती किन्तु अनुपयोगी प्रयोग", "यह प्रयोग शायद बहुत कीमती भी साबित हो।') तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वे ईसाई हो गए हैं या उन पर ईसाइयत का प्रभाव है। बोलचाल की खड़ी बोली में हिन्दू और मुसलमान साधारणजन अरबी-फारसी या संस्कृत के कठिन शब्दों का व्यवहार नहीं करते। यह है बुनियादी बात। यहाँ धर्म के आधार पर कोई विभाजन नहीं है। लोग फारसी या संस्कृत के शब्दों का ज्यादा प्रयोग करते हैं तो इसका प्रधान कारण सांस्कृतिक है, धार्मिक नहीं।

उस विशाल क्षेत्र में, जिसके नगरों में हिन्दू और मुसलमान, विभिन्न जनपदों से आये हुए मजदूर और नौकरीपेशा लोग, शिष्ट भाषा के रूप में खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं सभी की जाति, कौम या नेशन एक है, वहाँ दस या पन्द्रह प्रान्त बनाने की बात करना हिन्दीभाषी जनता की जातीय एकता को तोड़ने का प्रयास करना है। इस क्षेत्र की बोलचाल की भाषा में हिन्दी-उर्दू का भेद नहीं है, इसलिए उर्दू को क्षेत्रीय भाषा कहना गलत है। यदि बोलचाल की उर्दू और हिन्दी में एक ही कल-कारखाने में काम करने वाले मजदूर भेद करते तो उर्दू को क्षेत्रीय भाषा मानना उचित होता। लेकिन आम जनता बोलचाल में ऐसा कोई भेद नहीं करती। यह भेद शिष्ट भाषा के रूप और लिपि को लेकर है। अधिकांश जनता देवनागरी लिपि का व्यवहार करती है और शिष्ट भाषा के लिए अधिकतर शब्द संस्कृत से लेती है। एक अल्पसंख्यक समुदाय ऐसा है जो फारसी लिपि का व्यवहार करता है और अपनी शिष्ट भाषा में अरबी फारसी से शब्द लेता है। इस समुदाय में मुसलमानों के साथ हिन्दू भी हैं, इसलिए उसे सांस्कृतिक अल्पमत कहना चाहिए। इन सांस्कृतिक

अल्पसख्यको की भावनाओ का आदर करते हुए उनकी लिपि और शिष्ट भाषा की रक्षा करनी चाहिए लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि हम दो कौमो के सिद्धान्त के आधार पर दो भाषाएँ स्वीकार कर लें। ऐसा कोई क्षेत्र नही है जहाँ साहित्यिक उर्दू बोलचाल की भाषा हो या जहाँ उर्दू की बोलचाल का रूप वही की हिन्दी के बोलचाल के रूप से भिन्न हो। बोलचाल की खडी बोली के दो साहित्यिक रूप हैं—हिन्दी और उर्दू। उर्दू को हिन्दी की शैली कहने से बुरा लगता हो तो उस खडी बोली की शैली कहिए, हिन्दी को भी खडी बोली की एक शैली कहिए। लेकिन सास्कृतिक बहुसख्यको और अल्पसख्यको का भेद याद रखिए। यह जान लीजिए कि बहुत से उर्दू लेखक और लेखिकाएँ— जिनमे श्रीमती रजिया सज्जाद ज ीर भी है—अपनी रचनाएँ उर्दू की इबारत मे कोई फेर बदल किये बिना, देवनागरी म छपवाती है। यह रवाज बढता जा रहा है कि प्रसिद्ध उर्दू लेखको की रचनाएँ देवनागरी लिपि म पहले छपें, फारसी लिपि म बाद को। इससे हिन्दी उर्दू साहित्य को देवनागरी के माध्यम से पढने-वालो की एक मिली जुली जमात बनती है। यह जमात अपनी एकता, अपनी रुचि का असर लेखको पर, उनकी हिन्दी उर्दू शैली पर डालकर एक ही शैली के विकास मे सहायक होती है। जो लोग दो कौमो के सिद्धान्त पर विश्वास नही करते, व इस एकता के नये सिलसिले से खुश होगे।

राजपाल एण्ड सन्ज ने लोकप्रिय उर्दू शायरो की सिरीज निकालकर लाखो हिन्दी-भाषियो तक इनकी रचनाएँ पहुँचाईं उन्हे दरअसल लोकप्रिय शायर बनाया। इससे उर्दू का नाश नही हो गया। देवनागरी लिपि म 'उर्दू साहित्य', 'डगर' जैसे पत्र निकलते है जिनमे उर्दू की रचनाएँ देवनागरी लिपि म छपती है। ख्वाजा अहमद अब्बास और उनके साथियो ने 'सरगम' निकाला था जिसमे देवनागरी लिपि सरल उर्दू रचनाएँ छपती थी। हिन्दी 'ब्लिट्ज' की भाषा, 'जनयुग' और 'आलोचना' स भिन्न, आसान उर्दू होती है जिसम बहुत थोडे पारिभाषिक शब्द सस्कृत के होते है। इस तरह हिन्दी-भाषियो न उर्दू को अप-नाया है, उसका दमन नही किया। देवनागरी के माध्यम से उन लागो तक उर्दू साहित्य पहुँचा है जो पहले उससे कोसो दूर थे। जो लोग अपने को मार्क्स-वादी कहत है, बोलचाल की भाषा और उसके साहित्यिक रूप मे बुनियादी भेद नही मानते, उन्हे सास्कृतिक विकास के इस सिलसिले स खुश होना चाहिए। लेकिन सबसे ज्यादा मुहर्रमी सूरतें वही लाग बनाय हुए हैं जो अपने को मार्क्स-वादी लेखका का रहनुमा समझते है। कोई भूख हडताल की धमकी देता है तो कोई नक्शे देखकर वह इलाका तय करने म लगा है जहाँ हिन्दी से अलग लोगों की मातृभाषा उर्दू है। कुछ अन्य मित्र सास्कृतिक बहसख्यक-अल्पसख्यक का भेद न समझकर दिल्ली - या अन्य राज्यो मे हिन्दी क बराबर उर्दू को राजभाषा बनाने का स्वप्न देख रहे है। और इन सबमे कोई भी यह माँग नही करता कि भारत की सभी भाषाओ का दमन करनेवाली विदशी भाषा अग्रेजी

का प्रमुख प्रश्न हो !

जहाँ तक राजस्थानी और पंजाबी का सम्बन्ध है, उनके लिखने बोलने-वाले तय करें कि वे हिन्दी अपनाएँगे या पंजाबी राजस्थानी का स्वतन्त्र विकास करेंगे। यदि उत्तर प्रदेश की सरकार या दिल्ली सरकार उन पर किसी तरह का दबाव डालेगी कि वे हिन्दी का ही व्यवहार करें, तो मैं इसका विरोध करूँगा। साथ ही उपेन्द्रनाथ अश्क और यशपाल हिन्दी लिखते हैं तो मैं इसे मातृघात न कहूँगा।

हिन्दी भाषा जातीय विकास के परिणामस्वरूप विशाल हिन्दी क्षेत्र की भाषा बनी है। इस विकास को न समझने से भारतेन्दु से लेकर मोहन राकेश तक हिन्दी के सैकड़ों लेखक साम्राज्यवादी या अवसरवादी दिखाई देते हैं। इस विशाल क्षेत्र में बोलियों के दमन की बात वे करते हैं जो भारत में अंग्रेजी को राजभाषा बनाये रखना चाहते हैं। अंग्रेजी की रक्षा उस 'जनतन्त्र' का यह बुर्का पहनाकर नहीं की जा सकती।

जैसे-जैसे अंग्रेजी को हटाने का समय नजदीक आया, वैसे वैसे उर्दू के संरक्षण की माँग भी जोर पकड़ती गई। खेद की बात है कि कुछ गुमराह मार्क्सवादी नेता हिन्दी पर उर्दू के दमन का अपराध लगाकर 'फिलहाल' अंग्रेजी कायम रखने की नीति का प्रचार करते हैं। उर्दू के लेखक और उर्दू साहित्य के प्रेमी पाठक उसकी रक्षा हिन्दी लेखकों और हिन्दीभाषी जनता के सहयोग से ही कर सकते हैं। उन्हें इस हिन्दीभाषी जनता के साथ मिलकर अंग्रेजी को हटाने और सभी भारतीय भाषाओं को अंग्रेजी की दासता से मुक्त कराने के लिए संघर्ष करना चाहिए। वस्तुस्थिति को पहचानते हुए वे सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों के रूप में अधिकारों के लिए लड़ें, हिन्दी-भाषी जनता उनका साथ देगी। उनका अलगाव का रवैया सम्प्रदायवाद की उपज है और उन्हीं के लिए हानिकर है।

चौहान ने फासिज्म और हिटलर की उच्चतर आर्य जाति-सम्बन्धी परिकल्पना' की निन्दा की है। वह कृपा करके अपने पुराने राष्ट्रभाषा वाले निबन्ध में देख जाएँ, उन्होंने कितनी बार आर्य हिन्दुओं और हिन्दू राष्ट्रवाद की चर्चा की है और उसके आधार पर हिन्दी के विकास का विश्लेषण किया है। उन्होंने अब हिन्दू राष्ट्रवाद का नाम लेना बन्द कर दिया है लेकिन हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियाँ अभी बरकरार हैं। उन्होंने लिखा है कि "विभिन्न कौमों की जनता (विशेषकर उत्तर भारत की जनता) ने हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के योगदान से दिल्ली के आस पास बोली जानेवाली खड़ी बोली की भूमि पर एक अपनी ही सम्पर्क भाषा उर्दू का विकास किया।"

चौहान ने यह नहीं बताया कि बंगाल, कश्मीर, सिन्ध आदि में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के योगदान से किसी नयी सम्पर्क भाषा का विकास क्यों नहीं हुआ। वह यह नहीं जानते कि ईरानी, अरब, पठान, उज़बक मुसलमानों की

संस्कृति एक नहीं है, न तमिलनाडु, बंगाल और गुजरात की संस्कृति एक है। और सारे हिन्दुओं की एक संस्कृति हो भी तो उनकी एक भाषा कैसे हो जायगी? भारत में आनेवाले तुर्क, पठान और ईरानी मुसलमानों की भाषा कैसे एक हो जायगी?

गुत्थी वही पुरानी है। वह समझते हैं कि संस्कृत के शब्द हिन्दू हैं और फारसी के शब्द मुसलमान! दोनों के मिलने से उर्दू का विकास हुआ।

और हिन्दी का विकास कैसे हुआ?

"हिन्दू समाज में उठे सुधार-आन्दोलनों और कई दूसरी ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रभाव से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में खड़ी बोली की ही जमीन पर उर्दू के मुकाबले में एक संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक रूप हिन्दी का विकास हुआ।"

वही बात है जो श्री सज्जाद जहीर ने अपने निबन्ध में लिखी थी और जिसे *चौहानजी ने अपने पुराने निबन्ध में पल्लवित किया था। हिन्दी का विकास* हिन्दू-समाज में उठे सुधार आन्दोलनों के कारण हुआ। वह हिन्दुओं की भाषा है। उर्दू मुख्यतः मुसलमानों की भाषा है जिनके साथ कुछ शरीफ हिन्दू भी हैं।

चौहान को यह नहीं मालूम कि जितनी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी (उन्हें छोड़कर) हिन्दी के औसत लेखक लिखते हैं, उससे ज्यादा संस्कृतनिष्ठ बँगला पूर्वी पाकिस्तान के ढाका रेडियो से बोली जाती है वैसी ही संस्कृतनिष्ठ मलयालम केरल के ईसाई लिखते और बोलते हैं। भाषा में धर्म का अटूट सम्बन्ध होता तो हर प्रदेश में नयी-नयी सम्पर्क भाषाएँ बन गई होतीं।

चौहान के विचार से "संस्कृतनिष्ठ होने के कारण "हिन्दी ने उर्दू के मुकाबले में " राष्ट्रीय आन्दोलन को एकजुट करने में अधिक व्यापक योग दिया।" होना यह चाहिए था कि जो सहज सम्पर्क भाषा बनी थी, वही राष्ट्रीय *आन्दोलन को एकजुट करती। लेकिन यह काम किया संस्कृतनिष्ठ—हिन्दू समाज* की भाषा—हिन्दी ने। यह भी उसी पुरानी स्थापना का नया रूप है; गांधीजी ने जो राष्ट्रीय आन्दोलन चलाया, वह मूलतः हिन्दू राष्ट्रवाद का आन्दोलन था।

अब बच गए मुसलमान। वे अलग राष्ट्र की माँग तो कर चुके। अब उर्दू को क्षेत्रीय भाषा बनाने के अलावा और किस चीज की माँग करें?

इस प्रकार चौहान का यह नया लेख भी उनकी पुरानी हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की सम्प्रदायवादी—मार्क्सवाद-विरोधी—समझ के आधार पर लिखा गया है। वह वस्तुगत रूप में अंग्रेजी का समर्थन करता है, अंग्रेजी को राजभाषा बनाये रखनेवालों के तर्क दोहराता है। उनकी एक भी स्थापना हिन्दी के *लेखक और पाठक न मानें तो यह स्वाभाविक है, इस पर उन्हें खफा न होना* चाहिए। (१९६५)

३९

हिन्दी के आधुनिक विकास-सन्दर्भ में ब्रजभाषा की भूमिका

भारत की अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी भी विकासमान भाषा है।

पिछले पच्चीस वर्षों में हिन्दी भाषी प्रदेश के नगरों का रूप काफी बदल गया है। अवध के प्रसिद्ध नगर लखनऊ पर भोजपुरी छाप है। दिल्ली तीन चौथाई पंजाबी शहर है। फरीदाबाद जैसे व्यापार और उद्योग धन्धों के नये केन्द्र कायम हो गये हैं। कलकत्ता और बम्बई जैसे महानगरों में लाखों नये आदमी सिमट-कर इकट्ठा हो गये हैं। इन सब केन्द्रों में जिस भाषा का व्यवहार होता है, वह छापे की परिनिष्ठित हिन्दी नहीं है।

इस हिन्दी की विशेषता है, उस पर जनपदीय बोलियों अथवा हिन्दी की पड़ोसी भाषाओं का प्रभाव। दिल्ली की हिन्दी पंजाबी प्रभावित है, बनारस की हिन्दी भोजपुरी प्रभावित, कलकत्ते की हिन्दी बँगला-प्रभावित, बम्बई की हिन्दी मराठी-प्रभावित। ध्यान देने की बात है कि हिन्दी दूसरों पर लादी गई होती तो दूसरों का प्रभाव ग्रहण करके नये नये स्थानीय रूप धारण न करती। उसका प्रसार और विकास सहज है, इसीलिए वह स्थानीय प्रभाव से अपना रूप बदल लेती है। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस विकासमान भाषा को हिन्दी-उर्दू की विभाजन रेखा खींचकर दो हिस्सों में बाँटा नहीं जा सकता।

हिन्दी प्रदेश में ब्रज एक प्रसिद्ध जनपद की बोली है। ब्रजभाषा का ध्वनि-तंत्र इस ढंग का है कि आगरे से पटना तक उसके शब्दों को मुँह से निकालने में किसी को कठिनाई नहीं होती। कोई भाषा अपने क्षेत्र में और पड़ोसी प्रदेशों में लोकप्रिय हो, इसके लिए पहली और सबसे महत्वपूर्ण शर्त यह है कि वह लोगों को बोलने में सुगम जान पड़े। जिन कवियों ने शताब्दियों तक ब्रजभाषा को सँवारा, उसे गुजरात से बंगाल तक, पंजाब से केरल तक संगीत और साहित्य के माध्यम से लोकप्रिय बनाया, वे इस बात को अच्छी तरह समझते थे। वे ब्रजभाषा का स्वभाव पहचानते थे, उन्हें यह भ्रम न था कि ब्रजभाषा संस्कृत की बेटी है, इसलिए उसमें जितना ही तत्सम शब्द ठूँसेंगे, उतना ही लोक-प्रिय होकर यह सारे भारत की राष्ट्रभाषा बन जायगी। उन्होंने ब्रजभाषा में

वैसे शब्द लिये जैसे उसमें खप जाते थे। इसलिए रेडियो और समाचार पत्रों की सहायता के बिना, किसी केन्द्रीय निदेशालय द्वारा सूत्र-सचालन के बिना, विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम का अङ्ग हुए बिना यह हमारी प्रिय ब्रजभाषा जनता का कठहार बन गई। आज का हिन्दी लेखक उस सारे विकास को देखकर विनम्रता से सर झुका ले तो अच्छा है, स्पर्धाभाव से उस विकास को तुच्छ ठहराने का फल उसी के लिए अहितकर होगा।

पिछले पच्चीस वर्षों में हिन्दी का तेजी से प्रसार हुआ है, इस प्रसार के साथ उस पर जनपदीय बोलियों और पड़ोसी भाषाओं का गहरा असर पड़ा है। बोलचाल की हिन्दी का यह प्रसार, उस पर जनपदीय बोलियों और पड़ोसी भाषाओं का गहरा प्रभाव उसका विकास है, उसका ह्रास या उसके रूप का बिगड़ना नहीं है। यह बोलचाल की हिन्दी हमारी जातीय भाषा है, वही सारे देश के लोगों की राष्ट्रभाषा है। उसके विकास और प्रसार को रोकना किसी राजनीतिज्ञ के वश में नहीं है, उस हिन्दी-उर्दू के दो रूपों में बाँटना किसी सम्प्रदायवादी के हाथ में नहीं है।

हिन्दी का यह आधुनिक विकास उसे ब्रजभाषा के समीप लाता है और संस्कृत-गर्भित परिनिष्ठित हिन्दी (तथा फारसी-अरबी-गर्भित उर्दू) से दूर ले जाता है। ऐसा होना स्वाभाविक है। अवधी, भोजपुरी, बुंदेलखंडी, मैथिली आदि ब्रजभाषा की तरह तद्भव रूप अपनाती है, संयुक्त वर्णों वाले, उच्चारण में क्लिष्ट, तत्सम रूप नहीं। जनपदीय बोलियों के तद्भव रूपों से आज की हिन्दी जितना ही प्रभावित होगी, उतना ही वह ब्रजभाषा के अनुरूप बनेगी; क्योंकि यह ब्रजभाषा भी तद्भव प्रधान है। अब ब्रजभाषा चाहे साहित्य की हो, चाहे बोलचाल की, उसके रूप में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। कुछ विद्वान् कहते हैं, साहित्य की भाषा और बोलचाल की भाषा में हमेशा बड़ा अन्तर रहता है। वे ब्रजभाषा का विशाल साहित्य देखें और बतायें कि वह बोलचाल की ब्रजभाषा से मूलतः कहाँ भिन्न है। आज की हिन्दी अँग्रेज़ी मुहावरों, अँग्रेज़ी वाक्य विन्यास से निरन्तर प्रभावित होकर अपना रूप बिगाड़ रही है, फारसी से प्रभावित होकर ब्रजभाषा ने अपना रूप नहीं बिगड़ने दिया। अपनी शिष्टता और विद्वत्ता प्रकट करने के लिए हम आज की हिन्दी में जिस ढंग से नये गढ़े हुए शब्द भरते हैं, उस तरह ब्रजभाषा के कवियों ने नहीं भरे। ब्रजभाषा की ध्वनियाँ, उनके शब्द रचने का ढंग बोलचाल में वही है जो साहित्य में है। साहित्य की ब्रजभाषा और बोलचाल की ब्रजभाषा में वैसा अन्तर नहीं है जैसा बोलचाल की हिन्दी और साहित्य की हिन्दी में आज है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि ब्रजभाषा और खड़ी बोली के विवाद में पड़कर बहुत से लेखकों ने अपनी हिन्दी को ब्रजभाषा की राह से हटाकर संस्कृत की ओर मोड़ा। यदि हम भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त जैसे पुराने लेखकों के गद्य पर ध्यान दें तो विदित होगा कि उनका

खडी बोली गद्य ब्रजभाषा से प्रभावित है, या उसके अनुरूप है। उसकी सर-सता और सजीवता का यह बहुत बड़ा कारण है। प्रेमचन्द या अमृतलाल नागर का बहुत-सा गद्य-लेखन जनपदीय बोलियों से प्रभावित होने के कारण उसी पर-परा से जुड़ा हुआ है। हिन्दी लेखकों के लिए भाषा और साहित्य की सबसे बड़ी विरासत ब्रजभाषा में सुरक्षित है। वह विरासत घर बैठे सुलभ है, उसे अपना-कर हम अपनी भाषा को समर्थ बनायें, कमजोर नहीं। अनेक क्रियापद जनपदीय बोलियों के नित व्यवहार की चीज हैं, अपनी परिनिष्ठित हिन्दी से हमने उन्हें निकाल दिया है। वे सब ब्रज साहित्य में सुरक्षित हैं। उनके लिए हिन्दी का द्वार खोल देना चाहिए। हिन्दी में नये तद्भव रूपों का बनना बन्द हो गया है, नये रूप बनाना दूर, पुराने तद्भवों से हम अपने को भरसक बचाते हैं। उर्दू की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि वह जनपदीय बोलियों से दूर होती गई, इस बात में हिन्दी उसका अनुसरण क्यों करे? हिन्दी की शक्ति इस बात में थी कि वह जनपदीय बोलियों से जुड़ी हुई थी। उसे अपनी शक्ति का यह आधार न छोड़ना चाहिए।

जनपदीय बोलियों में ब्रजभाषा पर ही विशेष ध्यान क्यों दिया जाय, इसके कई कारण हैं। पहला कारण यह कि भाषा को निखारने, सँवारने का काम जितना ब्रज में हुआ है, उतना अन्य किसी बोली में नहीं। यहाँ लेखकों के लिए वे आदर्श रूप तैयार कर दिये गये हैं, जिनके अनुकरण से वे खड़ी बोली को अधिक लोकप्रिय बना सकते हैं। दूसरा कारण यह है कि साहित्य की ब्रजभाषा ने सीमित ब्रज क्षेत्र की भाषा सम्पदा से ही अपना ठाठ नहीं रचा है, उसमें अनेक जनपदों के महत्त्वपूर्ण भाषा तत्त्व भी समेट लिये गये हैं। ऐसा होना अनिवार्य था क्योंकि ब्रजभाषा के अधिकांश कवि ब्रज प्रदेश के रहने वाले नहीं थे। नये सिरे से मेहनत करके विभिन्न जनपदों से भाषातत्त्व समेटकर अपनी जातीय भाषा को पुष्ट करने के बदले हिन्दी लेखक ब्रजभाषा-साहित्य के अध्ययन से ही अपनी खड़ी बोली में उन बहुत से भाषातत्वों का समावेश कर सकते हैं। तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि हरियाणा की खड़ी बोली ने आधुनिक हिन्दी उर्दू का रूप ही ब्रजभाषा के प्रभाव से ग्रहण किया है। ब्रजभाषा का रस उसकी घुट्टी में उसे पिलाया गया था। इसलिए ब्रजभाषा की अनुकूलता हिन्दी के विकास का ऐसा नियम है जो निसर्ग-सिद्ध है और उसके आधुनिक रूप की कसौटी है।

इस तीसरे कारण पर थोड़ा और विचार करना उचित होगा।

कहते हैं कि उर्दू देहली की जबान है। इस जबान का देहली के आसपास के गाँवों से क्या सम्बन्ध है?

कहते हैं कि हिन्दी दिल्ली और मेरठ की भाषा है। दिल्ली और मेरठ के जनपद अर्थात् हरियाणा से इस भाषा का क्या सम्बन्ध है?

हिन्दी और उर्दू का व्याकरण तत्र मूलत वही है जो हरियाणा की बोली

का है। ब्रजभाषा की तरह 'खाऊगो' या अवधी की तरह 'खाब,' 'खइवे' रूप हिन्दी में नहीं चलते। 'खाऊगा' रूप हरियाणा की देन है। हिन्दी-उर्दू ने अपना व्याकरण-तत्र हरियाणा की जनपदीय खड़ी बोली (अथवा बाँगरू) से पाया है, उसका ध्वनितत्र ब्रजभाषा की देन है। दीर्घ स्वर के बाद सयुक्त व्यजनो का प्रयोग बागरू की विशेषता है। रोट्टी, टेस्सण, वेल्लण (वेलन) जैसे ध्वनिबध हिन्दी-उर्दू के लिए (और ब्रज से लेकर मैथिली तक जनपदीय बोलियो के लिए) अस्वाभाविक हैं। बागरू मे ळकार की भरमार है थाळी, हथेळी, बाळक; हिन्दी-उर्दू (तथा ब्रज से लेकर मैथिली तक जनपदीय बोलियो) मे इसका पूर्ण बहिष्कार है। बागरू के ध्वनितत्र की ऐसी अनेक विशेषताए हैं जिनका हिन्दी मे अभाव है। उन सब की चर्चा करना यहा अनावश्यक है। एक अन्य विशेषता की ओर ध्यान दिलाना काफी होगा। अपणापण, निणाणवै, दाणा, पाणी, जाणा, आणा, कितणा, सुणना जैसे रूपो मे मूर्धन्य अनुनासिको की बहुतायत व्रज तथा अन्य पूर्वी जनपदीय बोलियों को अग्राह्य है। हिन्दी मे तो सस्कृत के प्रभाव से तत्सम रूपो मे णकार लिखा भी जाता है (बोलने मे उसकी निरन्तर अवहेलना होती है) किन्तु उर्दू मे तो उसे पैंठने की अनुमति ही नही मिली। है न आश्चर्य की बात! बागरू जनपद का मुख्य नगर दिल्ली और उसकी भाषा मे णकार का अभाव! दिल्ली के उत्तर और पश्चिम मे णकार प्रेमी पजाबी और राजस्थानी बोलियों का प्रसार, पूरब और दक्खिन मे बागरू, फिर भी णकार का अभाव! अपने चारो ओर विरोधी ध्वनितत्र के समुद्र मे दिल्ली शहर एक द्वीप के समान था जिस पर ब्रजभाषा के ध्वनि-तत्र की पताका फहराती थी। जातीय भाषा के रूप मे हिन्दी के प्रसार का एक प्रमुख कारण उसमे हरियाणा के व्याकरण तत्र और ब्रजभाषा के ध्वनितत्र का चमत्कारी समन्वय है। व्याकरण तत्र से हिन्दी पछाही बोलियो को अपनी ओर खीचती है, ध्वनितत्र से (बुन्देलखडी-बघेली आदि के साथ) पूर्वी बोलियो को। यूरप और भारत की आधुनिक भाषाओ ने प्राय किसी एक बोली के आधार पर ही अपना आधुनिक रूप विकसित किया है। व्याकरण तत्र एक बोली का, ध्वनितत्र दूसरी बोली का, ऐसा सामञ्जस्य अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी जो पूर्वी और उत्तर पश्चिमी जनपदो को सामान्य जातीय जीवन मे बाघ सकी है, उसका एक ऐतिहासिक कारण यह अनुपम सामञ्जस्य है।

दिल्ली से भिन्न आगरा नगर ब्रज जनपद का प्रमुख केन्द्र है। इस नगर के उत्तर, दक्खिन, पूरब, पच्छिम चारो ओर ब्रजभाषा को छोडकर दूसरी बोली की पैंठ नही है। खडी बोली की एक टकसाल आगरे मे भी थी। अकबर और शाहजहाँ के जमाने मे आगरा एशिया मे व्यापार की सबसे बडी मडी था। दिल्ली और हरियाणा समेत अनेक नगरो और जनपदो के व्यापारी और कारीगर यहा इक्ट्ठे हुए थे। ब्रजभाषा के परिवेश मे ये खडी बोली का व्यवहार करते थे, इसलिए यह स्वाभाविक था कि वे रोट्टी को रोटी कहें, टेस्सण को

टेसन, बाळक को बालक, प्राणा-जाणा को प्राना-जाना।

१६०० से १८०० ई० तक खडी बोली के विकास का वह स्वर्ण युग है जब उस पर ब्रजभाषा का गहरा असर पडा। इस खड़ी बोली पर प्रागरे की छाप है। प्रागरे की खडी बोली का एक खास सर्वनाम रूप है— विस, 'इसका बहुवचन हुआ—विन। लल्लूजी लाल आगरे के, उनकी खडी बोली मे 'विस' का आना लाजमी था। "विसका सार ले, यामनी भाषा छोड, दिल्ली आगरे की खडी बोली मे कह नाम प्रेमसागर धरा" (दिल्ली मेरठ की खडी बोली नही, दिल्ली आगरे की खडी बोली!), "विन्हें देख परीछित मन म कहने लगे"। राजा शिवप्रसाद ने 'गुटका' मे "लल्लू जी की बोली" के जो नमूने इकट्ठे किये, उनमे 'विस' और 'विन' भी थे। किन्तु इनका सम्बन्ध लल्लूजी की किसी व्यक्तिगत बोली से नही, आगरे की बोली से था। ये रूप सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान मे भी हैं, "और वेद की आज्ञा से सतान के लिए पत्नी सो भोग करना उचित है, नही तो विस विन क्या कभी क्रिया सिद्ध होती है", "और जिस जिस के लाने को धर्मराज विन को बरजते हैं"। गिलक्रिस्ट के हिन्दुस्तानी भाषा के व्याकरण (सन् १७९६) मे एक मर्सिया है जिसमे विस और विन का प्रयोग किया गया है:

दिखला मे विन बच्चो को विस के लहू की नाली
तेगे को लाके विन पर कब्जे को फिर सँभाला।

यह मर्सिया गोपीचद नारग ने अपनी छोटी किन्तु सारगर्भित पुस्तक "करखन्दारी डायलेक्ट ऑव डेल्ही" मे उद्धृत किया है। करखन्दारी डायलेक्ट यानी कारखाने के मजदूरो की बोली। इन मजदूरों की बोली मे—दिल्ली की परिनिष्ठित उर्दू से भिन्न—आगरे की खडी बोली के वे रूप आज भी कायम है जिन्हे उनके बाप दादे अपने साथ दिल्ली ले गये थे। "विसी की तो बान कर रिया हू", "विनो ने लुटिया भर के विन के आगे करी"—यह दिल्ली के जनसाधारण की खडी बोली है और यह आगरे की खडी बोली भी है। अमृतलाल नागर ने आगरे के लोगो से सुनकर और सीखकर इस बोली का प्रयोग 'सेठ बांकिमल' मे किया है: "विन्ने रो-रो के कही कि प्यारी रो मती। हाय, तेरी आखो का सुरमा बहा जाय है। जे कहके विसे कलेजे से लगा लीना", "इत्ता कहना था मैंयो कि विसकी आखें उलटने लगी। विन्ने दो बार अल्ला अल्ला करके चोला छोड दीना।"

हिन्दी के पुराने व्याकरणो और कोशो मे ये रूप बराबर मिलते हैं। हिन्दी-उर्दू के विकास मे आगरे के महत्वपूर्ण योगदान का यह प्रमाण है।

पुरानी हिन्दी मे देखियो, करियो, लाइयो जैसे क्रिया रूपो की भरमार है। ये कविता मे, भाषा को आकर्षक बनाने के लिए ब्रजभाषा से उधार लेकर नही रख दिये गये। ये दिल्ली और आगरे की ब्रजभाषा प्रभावित खडी बोली के अपने रूप हैं। नजीर अकबरावादी ने कन्हैया जी के जन्म का वर्णन करते हुए

लिखा :

ये सोच हुआ मन बीच उन्हे पैर इस जल मे कैसे धरिये।
है रैन अंधेरी सँग बालक इस बिपता मे अब क्या करिये।

मीर का शेर है

दादो फरियाद जाबजा करिये,
शायद उसके भी दिल मे जा करिए।

और गालिब :

पडिये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार,
और अगर मर जाइये तो नौहख्वा कोई न हो।

गालिब और मीर दोनो आगरे के थे, आगरे से जाकर दिल्ली बसे थे।

फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के बाद अंग्रेजो ने शिक्षा-विभाग के माध्यम से हिन्दी-उर्दू को दो दिशाओ मे विकसित करने का सगठित प्रयास किया। हिन्दुओ के बच्चे चाहे एक बार उर्दू पढ लें, मुसलमानो के बच्चे हिन्दी नहीं पढेंगे; इतिहास और भूगोल की स्कूली किताबो मे हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली अलग, उर्दू की अलग। फोर्ट विलियम कालेज से पहले मुसलमानो ने चाहे पजाबी लिखी हो, चाहे ब्रजभाषा या बँगला, उसमे अरबी-फारसी के लिए वह आग्रह नही है जो उर्दू में है। फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना से पहले खडी बोली मे जो भी साहित्य लिखा गया है, वह शब्दावली के आधार पर हिन्दी-उर्दू के दो भिन्न रूपो मे नहीं बाटा जा सकता। दिल्ली और आगरे के मुसलमानो की इस पुरानी खडी बोली पर ब्रज 'भाषा' का ही नही, उसकी साहित्यिक परपरा का भी गहरा असर है। मेरठ-निवासी मुहम्मद अफजल उर्फ शाह अफजल ने "बिकट कहानी-बारह मासा" मे जिस भाषा का प्रयोग किया है, उसे डा मसूद हुसैन खा और डा विद्यासागर ने अपनी भूमिका मे उचित ही सोलहवी सदी की खडी बोली हिन्दी का नमूना स्वीकार किया है।

किनारे लग रही पिउ बिन अकेली,
भई है जिदगी मुझ पर दुहेली।
तुम्ही टुक कर पकड समझाय कहियो,
पगन पर सीस धर कर लाय कहियो।
अगर मैं जानती यह बेवफाई,
खुदा की सौं न करती आशनाई।
अरे ऊधो सुनो यह दुख हमन सूं,
कहो टुक जाय परदेसी सजन सूं।

सोलहवी सदी मे—फारसी के राजभाषा बने रहने पर भी—हिन्दुओ और मुसलमानो की जातीय भाषा को साहित्य मे जो सहज सरस रूप मिला था, वह ऐसा था। मुगल साम्राज्य के विघटन के समय, और फोर्ट विलियम कालेज

की स्थापना के बाद विकास का यह सहज क्रम टूट गया। जहाँ से यह क्रम टूटा था, सन ४७ मे फिर से उसे जोड़ना था। किन्तु राजनीतिज्ञों ने स्वराज्य आन्दोलन के समय किये हुए और वादो की तरह हिन्दी-उर्दू की एकता वाली पुरानी बात भी उठाकर ताक पर रख दी। वे कहते हैं, हिन्दी वाले एक ओर उर्दू को दबाते हैं, दूसरी ओर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के उत्साह मे दक्षिण के लोगो के मन मे भय उत्पन्न करते हैं। एक राजनीतिज्ञ ने पिछले महीने लखनऊ की एक सभा में यहाँ तक कहा—याहिया खाँ ने पाकिस्तान मे उर्दू को राष्ट्रभाषा बनाना चाहा, क्या नतीजा हुआ? पाकिस्तान के दो टुकड़े हो गये। क्या आप चाहते हैं कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए हम दक्षिण मे फौज भेजें और भारत के दो टुकड़े हो जाने दें?

सुना है स्वाधीन बँगला देश मे वहाँ की राजभाषा बँगला है। पश्चिमी बगाल की राजभाषा अग्रेजी है। यदि कोई कहे कि पूर्वी बगाल की तरह पश्चिमी बगाल मे भी बँगला को राजभाषा बनाइये तो राजनीतिज्ञ कहेंगे, पूर्वी बगाल जैसे पाकिस्तान से अलग हुआ, वैसे ही पश्चिमी बगाल को तुम भारत से अलग करना चाहते हो?

यानी हर परिस्थिति मे, हर तर्क-योजना के अत मे आप पहुचेंगे एक ही लक्ष्य तक—भारत म अग्रेजी कायम रहनी चाहिए।

इस लक्ष्य सिद्धि के लिए इनके पास तीन दांव हैं।

पहला—हिन्दी और अहिन्दी भाषियों को एक दूसरे से लड़ाना, इनके परस्पर भय और रागद्वेष से लाभ उठाकर समस्त भारतीय भाषाओ को दबाकर रखना,

दूसरा—हिन्दी और उर्दू के भेद को गहरा करना, हिन्दी उर्दू को दबाये है, एक महत्वपूर्ण भाषा नेस्तनाबूद होने को है, इसलिये हिन्दी भाषी प्रदेश मे भी हिन्दी को अपना स्वत्व न मिलना चाहिए।

तीसरा—हिन्दी और उसकी जनपदीय बोलियो को एक दूसरे से लड़ाना, साहित्य अकादमी द्वारा अनेक बोलियो का मान्यता दिलाकर उनको हिन्दी से स्वतत्र भाषा करार देना, क्षेत्रीयता की भावना को बढावा देकर पहले से ही बँटे हुए हिन्दी प्रदेश को और भी छोटे-छोटे टुकड़ो मे बाटना।

दिवालिया शासक वर्ग इस कूटनीति द्वारा जनता को ठगने के अलावा और कर ही क्या सकता है?

किसे फुर्सत है यह देखने की कि फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना से पहले हिन्दी उर्दू का भेद था या नही और उस समय की खड़ी बोली पर ब्रजभाषा का प्रभाव गहरा था या उथला?

हिन्दी लेखको का कोई जातीय मच नही है। इसलिए उपर्युक्त कूटनीति का कोई उत्तर हिन्दी की ओर से नही दिया जा रहा है। किन्तु भारत की जनता अपने ढग से, परिस्थितियो को साफ-साफ न पहचानते हुए, फिर भी निरन्तर

उनसे प्रेरित और प्रभावित होकर, इस कूटनीति का उत्तर दे रही है।

पहले दांव का उत्तर यह है कि अहिन्दी प्रदेशो मे हिन्दी का प्रसार ही नही हो रहा, वह अहिन्दी भाषाओ से प्रभावित होकर नये-नये स्थानीय रूप भी ग्रहण कर रही है। अग्रेजो ने अठारहवी सदी मे मद्रास की सेना के अग्रेज अफसरो के लिए दकनी हिन्दी का ज्ञान अनिवार्य कर दिया था, उस समय हैदराबाद की हिन्दी दक्षिण भारत में प्रचलित हिन्दी का एक मात्र रूप थी। इस समय हैदराबादी दकनी के अलावा, चार प्रमुख द्रविड भाषाओ का प्रभाव ग्रहण करती हुई हैदराबाद के दक्षिण म कन्याकुमारी तक, हिन्दी के एक नये रूप का चलन हो रहा है, जिसे हम द्राविडी हिन्दी कह सकते है। इसका व्यवहार द्रविड भाषा भाषी सामान्य जन उत्तर भारत के आर्य भाषा भाषियो से सपर्क होने पर ही करें, यह आवश्यक नही है, स्वय आपस मे एक दूसरे की बात समझ पाने के लिए, अग्रेज़ी का ज्ञान न होने पर, उन्हें हिन्दी का सहारा लेना पडता है। हिन्दी का व्यवहार सबस पहले और सबसे अधिक अहिन्दी भाषियो के आपसी सपर्क के लिए ज़रूरी है। हिन्दी के प्रसार का यह वस्तुगत कारण है। इसके लिए हिन्दी भाषी उत्तरदायी नही है। दरअसल पिछले बीस वर्षो मे हिन्दी का प्रसार कार्य बिलकुल ढीला हो गया है, जनता का पैसा सरकार के माध्यम से चाहे जितना बांटा गया हो, पर यह सच है कि प्रचार जितना ही कम हुआ, प्रसार उतना ही ज्यादा हुआ। कारण वही है, स्वाधीन भारत की अहिन्दी भाषी जनता के आपसी सपर्क की उत्कट आवश्यकता। विदेशी राज्या द्वारा करोडो रुपये (भारतीय शासन द्वारा लाखा रुपये) अग्रेज़ी पढने पढ़ाने पर खर्च किये जाने पर भी सपर्क की इस आवश्यकता को अग्रेज़ी पूरा नही कर सकती।

द्राविडी हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा का दक्षिणी रूप है, नये स्वाधीन भारत का अकाट्य यथार्थ है। इस यथार्थ को देखने के लिए मद्रास जाना आवश्यक नही है, दिल्ली या आगरे मे भी उसके दर्शन हो सकते है।

दूसरे दाव का उत्तर यह है कि हिन्दी भाषी प्रदेश के हिन्दू और मुसलमान, गावो के करोडो किसान और नये औद्योगिक विकास के साथ नय नये लाखो मजदूर—*हिन्दू और मुसलमान*—*एक सा जातीय जीवन बिता रहे हैं।* उन्हे आपसी व्यवहार के लिए दुभाषिये की ज़रूरत नहीं पडती, न वे राष्ट्र के सूत्रधारो की तरह देश-जनता-राजनीति जैसे शब्द कहकर मुल्क अवाम सियासत के द्वारा अपनी बात का अनुवाद करते हैं। बंगला और तमिल फिल्म बगाल और तमिल-नाडु के बाहर दिखाना हो तो उसके सवादो का हिन्दी रूपान्तर जरूरी होता है। किसी हिन्दी फिल्म का उर्दू रूपान्तर या उर्दू फिल्म का हिन्दी रूपान्तर अभी तक देखने-सुनने मे नही आया। जनता की इस सामान्य भाषाई एकता का आधार छोडकर जो भी अलगाव का हवामहल बनायगा, वह उस हवामहल की तरह खुद भी एक दिन इस धरती से हवा हो जायगा।

तीसरे दौर के उत्तर मे हिन्दी प्रदेश के जनपदों ने आपसी एकता को और दृढ किया है। जयपुर, मथुरा, फरीदाबाद, झाँसी, पटना—कहीं कोई ऐसा कारखाना, कोई भी औद्योगिक प्रतिष्ठान ऐसा नहीं है जिसमे एक ही जनपद के लोग काम करते हो, जिसमे वे आपस मे किसी एक जनपदीय बोली का ही व्यवहार करते हो। श्रमिक जनता की यह एकता हमारी जातीय एकता की धुरी है। जो लोग जनपदीय अलगाव को बढ़ावा देते है, वे इस धुरी पर ही प्रहार करते हैं। इससे उन्हीं के सर मे चोट लगेगी। जनपदीय बोलियाँ हिन्दी को निरन्तर प्रभावित करती हुई उसे क्षेत्रीय रूप देकर उसे स्थानीय जनता के अनुरूप बना रही हैं।

इस परिस्थिति में—हिन्दी के इस आधुनिक विकास सदर्भ मे—हमे ब्रजभाषा की भूमिका पर विचार करना चाहिए। हिन्दी प्रदेश के सभी जनपदो मे ब्रजभाषा का साहित्य ही सबसे विशद है, अन्य जनपदो मे यह साहित्य आज भी लोकप्रिय है, नये तद्भव गढने और तद्भवो में तत्समों को खपाने की कला के श्रेष्ठ उदाहरण इसके साहित्य मे हैं, अन्य जनपदो की बहुत सी भाषा-सपदा साहित्यिक ब्रजभाषा मे पहले ही सिमट आई है, हरियाणा की खडी बोली को हिन्दी-उर्दू का सरस, सामान्य रूप देने का श्रेय ब्रजभाषा को है, हिन्दी से उसका सम्बन्ध जन्मजात है, तब उसके विकास मे ब्रजभाषा का योगदान ऐतिहासिक रूप से आवश्यक है। आज की लिखित हिन्दी के स्वभाव को ब्रजभाषा के अनुकूल बनाना विकास की उन कडियो को फिर से जोड़ना है जो फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के बाद टूट गई थी।

आज की लिखित हिन्दी जितना ही ब्रजभाषा के अनुकूल होगी, उतना ही वह हिन्दी जनपदों मे लोकप्रिय होगी, उतना ही वह हिन्दी-उर्दू का भेद मिटाने मे समर्थ होगी, उतना ही वह अहिन्दी प्रदेशो, विशेषकर दक्षिण भारत मे, लोकप्रिय होगी। याद रखना चाहिए कि द्रविड भाषाएँ सैकडों सस्कृत रूपो को निरन्तर तद्भव बनाती रही हैं। तमिल 'कच्चाइ' हिन्दी 'कच्छा' के अनुरूप है, सस्कृत 'कच्या' के नही, कन्नड 'वट्टि' हिन्दी 'भट्टा' के अनुरूप है, सस्कृत 'भ्राष्ट्र' के नही, 'श्री' का तत्सम उच्चारण द्रविड भाषियो के लिए वैसा ही कठिन है जैसा ब्रजवासियो के लिए, तिरुपति' से लेकर 'तिरुअनन्तपुरम्' (त्रिवेण्ड्रम्' !) तब तक सब कहीं 'श्री, के तदभव रूप 'तिरु' की ही शोभा *है। वर्ष नहीं, वरुषम्, आकार्ष नहीं, आकिरिषर, महंत नहीं, मरहन, क्षेत्र* नही, चेमम्, स्थान नहीं, तानम्; ऐसी सैकडो मिसालें हैं जिनसे यह समझते देर न लगेगी कि औसत तमिल भाषी के लिए ब्रजभाषा के तद्भव रूप ही सुगम हैं, लिखित हिन्दी (खास तौर स सरकारी हिन्दी) के तत्सम रूप नही।

चाहे जनपदीय स्तर पर विचार करें, चाहे प्रादेशिक स्तर पर, यह निष्कर्ष अनिवार्य है कि आज की लिखित हिन्दी निज को ब्रजभाषा के अनुरूप ढालकर ही अपने ऐतिहासिक विकास की मजिल तक पहुँच सकती है। १६७५

४०

हिन्दीभाषी प्रदेश—बहुभाषाभाषी प्रदेश ?

कुछ दिन पहले एक भारतमित्र विदेशी विद्वान् क० मु० विद्यापीठ आगरा पधारे थे। वह भारत में काफी दिन रह चुके हैं, बहुत अच्छी हिन्दी बोलते हैं और हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिख भी चुके हैं। इस समय वह हिन्दी भाषी प्रदेश की भाषाई स्थिति पर शोध कार्य कर रहे थे। उनकी धारणा यह थी कि हिन्दी प्रदेश बहुभाषाभाषी प्रदेश है और इस प्रकार भारत या यूरप के भाषाई क्षेत्रों से इसकी स्थिति भिन्न है। अपनी धारणा के प्रमाणस्वरूप उन्होंने इन तथ्यों का हवाला दिया। हिन्दी प्रदेश में काफी लोग सामाजिक और पारिवारिक जीवन में अंग्रेजी भाषा का व्यवहार करते हैं। आपस में हिन्दी बोलते हुए भी बीच बीच में अंग्रेजी का व्यवहार करते हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ हैं, इसमें सन्देह ही क्या है, और इन दोनों का मुख्य व्यवहार क्षेत्र एक ही प्रदेश यानी हिन्दी भाषी प्रदेश है। उर्दू के अलावा अनेक सांस्कृतिक कार्यों में, विशेष अवसरों पर धार्मिक कृत्यों में, संस्कृत का व्यवहार होता है। मुसलमान लोग अरबी का व्यवहार करते हैं। संभव है, कुछ लोग फारसी का व्यवहार भी करते हों। धर्म-विशेष के लोग पालि और प्राकृत में पवित्र वचनों का पाठ करते हैं। हिन्दी प्रदेश में जहाँ भी जाते हैं वहाँ देहात में हिन्दी से अलग बोली सुनाई देती है। कहीं लोग भोजपुरी बोलते हैं कहीं मैथिली, कहीं ब्रजभाषा कहीं कोई अन्य बोली। व्याकरण उच्चारण आदि के विचार से ये बोलियाँ एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं और स्वतंत्र भाषाओं जैसी लगती हैं। देहात के अलावा शहरों में भी अलग-अलग ढंग की हिन्दी सुनाई देती है। कलकत्ता, बम्बई, हैदराबाद, पटना और दिल्ली की हिन्दी में काफी अन्तर है। हिन्दी प्रदेश में ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जहाँ द्रविड़ और मुंडा परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। इन सारे तथ्यों को देखने से यह प्रमाणित होता है *कि हिन्दी-भाषी प्रदेश एक भाषा का प्रदेश नहीं है, यहाँ अनेक भाषाओं का* व्यवहार होता है। उसे बहुभाषाभाषी प्रदेश कहना अधिक युक्तिसंगत है।

उस गोष्ठी में उक्त स्थापना के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ कहा, उसका सारांश

इस प्रकार है।

आदरणीय विद्वान् ने हिन्दी प्रदेश की भाषाई स्थिति के बारे में जो कुछ कहा है, वह सभी लोगों के ध्यान देने योग्य है। उन्होंने हिन्दी-भाषी प्रदेश की चर्चा करके हिन्दी के जातीय क्षेत्र को स्वीकार किया है। जहाँ की भाषा-समस्या का अध्ययन वह कर रहे हैं, वह हिन्दी प्रदेश है, वह हिन्दी भाषा का जातीय क्षेत्र है, हिन्दी जाति का अपना प्रदेश है, वह हिन्दी-उर्दू-अंग्रेजी-संस्कृत-अरबी प्रदेश नहीं कहलाता। मूल बात यह है कि हिन्दी बोलने वालों की एक जाति है, यह जाति अनेक भाषाओं के व्यवहार के कारण विभाजित नहीं है, इस जाति के सदस्यों को जोड़ने वाली भाषा हिन्दी है, हिन्दी छोड़कर अन्य कोई भाषा यह कार्य नहीं करती। मुख्य स्थान इसी हिन्दी भाषा का है, अन्य भाषाएँ, उपभाषाएँ, बोलियाँ, विदेशी भाषाएँ, प्राचीन भाषाएँ आदि गौण स्थान पर हैं। वे विभाजित भले करती हों, जोड़ती नहीं हैं, जोड़ने का काम केवल हिन्दी करती है। यह भी स्पष्ट है कि जोड़ने की प्रक्रिया ऊपर है, अधिक शक्तिशाली है, तोड़ने की प्रक्रिया नीचे है और निर्बल है। ऐसी बात न हो तो हिन्दी भाषी प्रदेश जैसे किसी प्रदेश की कल्पना ही न की जाय, उसकी भाषाई स्थिति की चर्चा का अवसर ही न आये। हिन्दी प्रदेश वैसे ही यथार्थ इकाई है जैसे अंग्रेजी भाषा या रूसी भाषा का प्रदेश यथार्थ इकाई है। राजनीतिक रूप से यह प्रदेश अनेक राज्यों में बँटा हुआ है। जर्मनी, कोरिया, वियतनाम, बंगाल दो राज्यों में बँटे हुए हैं, इससे जर्मन, कोरियाई, वियतनामी, बंगाली जातियाँ और भाषाएँ विभाजित नहीं हो जातीं। आदरणीय विद्वान् हिन्दी प्रदेश का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उनकी और मेरी स्थापनाओं की यह सामान्य आधारभूमि है।

अब देखना चाहिए कि इस तरह की स्थिति केवल हिन्दी प्रदेश में उत्पन्न हुई है या इससे मिलती जुलती स्थिति अन्य देशों में भी है अथवा कभी रही है।

विदेश से जो भी विद्वान् हमारे प्रदेश में आता है, उसे यहाँ के पढ़े-लिखे लोगों में अंग्रेजी का व्यापक व्यवहार देखकर आश्चर्य होता है। अंग्रेजी का व्यवहार इसलिए नहीं होता कि यहाँ तमिल या तेलुगु बोलने वालों से हिन्दी-भाषियों को सम्पर्क कायम करना है, और वे हिन्दी नहीं जानते, इसलिए अंग्रेजी का व्यवहार करना है। हिन्दी-भाषी लोग ही आपस में अंग्रेजी का व्यवहार करते हैं, विश्वविद्यालयों में इसी प्रदेश के अध्यापक इसी प्रदेश के छात्रों को अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देते हैं, यहाँ के राजकीय अराजकीय कार्यालयों में अंग्रेजी का काफी व्यवहार होता है। इसका कारण हमारी राजनीतिक और सांस्कृतिक पराधीनता के अवशेष हैं। किन्तु इस तरह की स्थिति हमारे प्रदेश अथवा समस्त भारत देश के लिए अनोखी नहीं है। किसी समय इंग्लैंड पर नार्मन लोगों का प्रभुत्व था। उस समय इंग्लैंड का अभिजात वर्ग सामाजिक और पारिवारिक जीवन में व्यापक रूप से फ्रांसीसी भाषा का व्यवहार करता था। १६वीं सदी में रूस का अभिजात वर्ग इसी फ्रांसीसी भाषा का व्यवहार करता था।

यद्यपि नपोलियन और उसकी फ्रांसीसी सेना को रूसियों ने पराजित किया था, फिर भी सांस्कृतिक रूप से रूसी अभिजात वर्ग पर फ्रांस की भाषा और संस्कृति का बड़ा गहरा प्रभाव था। यह स्थिति ताल्स्तोय के उपन्यासों में बहुत अच्छी तरह चित्रित की गई है। फ्रांसीसी भाषा के अलावा रूसी अभिजात वर्ग जर्मन भाषा का व्यवहार भी करता था। मध्य यूरुप के देशों में जर्मन का व्यवहार और भी व्यापक था जैसे कि चेकोस्लोवाकिया में। मार्क्स के समय में यह प्रभाव इतना अधिक था कि मार्क्स समझते थे कि चेक और स्लोवाक भाषाओं का अस्तित्व न रहेगा और उनकी जगह जर्मन भाषा का ही व्यवहार होगा। इन तथ्यों पर ध्यान देने से विदित होता है कि विशेष सामाजिक कारणों से अनेक देशों में जातीय भाषा के साथ उच्चवर्गों में विजातीय भाषा का व्यवहार भी हो सकता है और हुआ है। जब कोई जाति अपना सामाजिक सांस्कृतिक विकास करती है, अपनी आन्तरिक एकता सुदृढ़ करती है, तब वह विजातीय भाषा का प्रभाव उतार फेंकती है। ऐसा इग्लैंड और रूस में हुआ है, चेकोस्लोवाकिया में हुआ है। हिन्दी प्रदेश और भारत में अंग्रेजी का जो व्यवहार दिखाई देता है, वह अस्थाई है। जब हिन्दी जाति सुगठित होगी, अपना सामाजिक सांस्कृतिक विकास करेगी, तब अंग्रेजी का व्यापक व्यवहार बन्द हो जायेगा। जब सारा देश राष्ट्रीय स्तर पर सुगठित होगा, तब अंग्रेजी का यह अखिल भारतीय महत्व समाप्त होगा। अभी यह अखिल भारतीय महत्व अन्य प्रदेशों की तरह हमारे प्रदेश को भी प्रभावित करता है। यह बात याद रखनी चाहिए कि अंग्रेजी का व्यापक प्रभाव भारत के बहुत थोड़े से पढ़े-लिखे लोगों के समुदाय में सीमित है उसकी व्यापकता अत्यन्त सापेक्ष है। हिन्दी प्रदेश में जनसाधारण के बीच व्यापक रूप से हिन्दी का ही व्यवहार होता है।

हिन्दी के साथ उर्दू का व्यवहार हमारे यहाँ का एक अनोखा व्यापार प्रतीत होता है। किन्तु हिन्दी उर्दू दो भिन्न भाषाएँ नहीं हैं, वे मूलतः एक ही भाषा है। इनके सर्वनाम, क्रियापद, मूल-शब्दभंडार एक ही हैं। संसार में कोई दो भाषाएँ ऐसी नहीं हैं जिनके सर्वनाम और क्रियापद सौ फीसदी सामान्य हों। रूसी और उक्रैनी भाषाएँ एक-दूसरे से बहुत मिलती जुलती है पर उनमें भी ऐसी समानता नहीं है। उर्दू की भिन्नता का कारण उसकी संरचना, उसकी मूल भाषाई सम्पदा नहीं है। उसकी भिन्नता का कारण अरबी फारसी शब्दावली का विशिष्ट व्यवहार है।

बहुत समय से जर्मनी में यहूदी लोग रहते आए हैं। इनकी धर्मभाषा हीब्रू है। हीब्रू उनकी बोलचाल की भाषा नहीं है, वह उनकी धार्मिक अथवा सांस्कृतिक भाषा है। जर्मन भाषा में यहूदियों ने हीब्रू शब्दावली मिलाकर एक भाषा गढ़ी जो यिद्दिश कहलायी। आइन्स्टाइन और फ्रायड जैसे यहूदियों ने अपनी जातीय भाषा जर्मन का ही व्यवहार किया, फिर भी बहुत से यहूदी अपने धर्म से हीब्रू भाषा का विशेष सम्बन्ध जोड़ने के कारण यिद्दिश को अपनाए

रहे। बहुत से जर्मन यहूदी रूस में जा बसे। वहाँ भी उन्होंने यिद्दिश चलाई। इस भाषा में उन्होंने अपने समाचार पत्र निकाले। मौस्को में इस भाषा में रचे जाने वाले नाटक खेलने के लिए एक विशेष नाट्यशाला बनायी गई। रूसी भाषा के विशाल जातीय प्रदेश में यिद्दिश का व्यवहार करने वाले यहूदियों का एक स्वायत्त क्षेत्र भी है। पर यहूदियों की कोई जाति नहीं है। रूसी, फ्रांसीसी, जर्मन आदि की तरह कोई यहूदी जाति नहीं है। धर्म अलग-अलग हैं पर ईसाई और यहूदी जर्मनों, ईसाई और यहूदी अंग्रेज़ों, ईसाई-यहूदी-ला-मजहब सभी तरह के रूसियों की जाति एक ही है। यिद्दिश में जैसे हीब्रू के बहुत से शब्द मिला दिये गये हैं, वैसे ही उर्दू में बहुत से अरबी-फ़ारसी शब्द मिला देने से उर्दू का अलगाव पैदा हुआ है। जैसे बंगाल के हिन्दुओं और मुसलमानों की एक ही भाषा बंगला है, वैसे ही हिन्दी प्रदेश के हिन्दुओं और मुसलमानों की एक ही भाषा हिन्दी है। फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना होने तक हमारे प्रदेश के मुसलमान अपनी भाषा को हिन्दी ही कहते थे। दोनों के बीच का फासला अंग्रेज़ी राज्य में ही बढ़ा है। उस राज्य के खत्म होने पर वह फासला कम हो गया है। जब हिन्दी प्रदेश की बहुसंख्यक किसान जनता साक्षर होगी, उसमें शिक्षा-प्रसार होगा, तब यह फासला पूरी तरह समाप्त हो जाएगा। कबीर, मलिक मुहम्मद जायसी, दादू, रज्जब, रहीम, रसखान की परंपरा फिर जीवित होगी और यहाँ के हिन्दू और मुसलमान एक ही साहित्यिक भाषा के माध्यम से अपनी जातीय संस्कृति और साहित्य को समृद्ध करेंगे। जनसाधारण के निरक्षर और पिछड़े होने से, पुरानी रूढ़ियों के प्रभाव से, धर्म-विशेष के लोग अपनी जातीयता न पहचानकर उस धर्म-विशेष की भाषा से अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, उस भाषा का व्यवहार दैनिक जीवन में संभव नहीं होता, अतः उसके अधिक से अधिक शब्द जातीय भाषा में ठूँसकर वे अपना अलगाव कायम रखना चाहते हैं। हिन्दू-उर्दू का मुख्य भेद फारसी शब्दों के कारण नहीं है, अरबी शब्दों को लेकर है। फ़ारसी आर्यपरिवार की भाषा है, इसके सैंकड़ों शब्द संस्कृत के तद्भव रूपों जैसे हैं। किन्तु अरबी सामी परिवार की भाषा है। इसके बहुत से शब्द तुर्की में आ गये थे। कमालपाशा के समय में, और उसके बाद, तुर्की ने अपनी भाषा को अरबी प्रभाव से मुक्त किया। उसी प्रकार नवजाग्रत ईरान के लोग आधुनिक फारसी को अरबीप्रभाव से मुक्त कर रहे हैं। इसलिए मेरा विश्वास है कि हिन्दी प्रदेश में भी अरबी प्रभाव के कारण हिन्दी-उर्दू में जो भेद पैदा हुआ है वह अस्थाई है और कुछ दिनों में समाप्त हो जाएगा।

हिन्दी प्रदेश में विशेष अवसरों पर धार्मिक या सांस्कृतिक कार्यों में संस्कृत, अरबी आदि प्राचीन भाषाओं का व्यवहार होता है। यह व्यवहार क्षेत्र अत्यन्त सीमित है और इससे जातीय भाषा का अस्तित्व खंडित नहीं होता। यूरुप के देशों में जहाँ ईसाइयों का रोमन कैथलिक सम्प्रदाय है, वहाँ गिरजाघर में

लैटिन का व्यवहार होता है। आगरे के एक गिरजाघर में अपने एक हिन्दी-भाषी रोमन कैथलिक बन्धु की बहन के विवाह में मैं उपस्थित था। यहाँ मैंने देखा कि जैसे हिन्दू विवाह में संस्कृत मंत्र पढ़े जाते हैं, वैसे ही यहाँ प्रार्थना या मंत्र पाठ लैटिन में हो रहा है। इंग्लैंड में ईसाइयों का प्रोटेस्टेंट मत फैलने पर अंग्रेज़ी का व्यवहार होने लगा, फिर भी अनेक पवित्र कार्यों के लिए लैटिन का स्थान सुरक्षित रहा। लन्दन का वेस्टमिनिस्टर गिरजाघर बड़ा पवित्र स्थान है। वहाँ देश के महान् पुरुष दफनाये जाते हैं। १८वीं सदी के प्रसिद्ध अंग्रेज़ लेखक डा० जानसन से उनके मित्रों ने मज़ाक किया, उनके सामने एक प्रार्थना-पत्र रखा कि वह कवि गोल्डस्मिथ का समाधि लेख अंग्रेज़ी में लिख दें तो उसे उनकी कब्र पर पत्थर में अंकित कराया जाय। डा० जानसन ने रुष्ट होकर कहा कि समाधि-लेख लैटिन में ही होगा, वेस्टमिनिस्टर गिरजाघर को अंग्रेज़ी के व्यवहार से अपवित्र नहीं किया जा सकता।

अंग्रेज कवि चौसर ने एक पादरी का वर्णन किया है कि जब वह होश में होता था, तब अंग्रेज़ी बोलता था, जब नशे में होता था तब केवल लैटिन बोलता था। नशा कई तरह का होता है। बहुत से लोग अब भी समझते हैं, ईश्वर उनके धर्म-विशेष की भाषा बोलता था और उसका व्यवहार न करने पर धार्मिक-सांस्कृतिक अनुष्ठानों की पवित्रता नष्ट हो जाएगी। जहाँ धर्म में ईश्वर को जगह नहीं मिली, वहाँ उसकी जगह कोई सिद्ध पुरुष प्रतिष्ठित हुआ। उसकी यथार्थ या कल्पित वाणी को लोग धर्म की पवित्र भाषा मानने लगे। स्पष्ट है कि धर्म-भाषाओं का व्यवहार हिन्दी प्रदेश की विशेषता नहीं है। अन्यत्र भी ऐसा होता है और हुआ है किन्तु जातीय भाषाओं से भिन्न ऐसी धर्म-भाषाओं का व्यवहार-क्षेत्र निरन्तर संकुचित होता गया है।

यह बात सही है कि हिन्दी प्रदेश में बहुत सी बोलियों का व्यवहार होता है। यह स्थिति हिन्दी प्रदेश के लिए अनोखी नहीं है। भारत या यूरप की कोई भाषा ऐसी नहीं है जिनकी अनेक बोलियाँ न हों। इंगलैंड में उत्तर और दक्खिन के गाँवों की बोलियों में बड़ा अन्तर है। लन्दन शहर की अपनी बोली है जो परिनिष्ठित अंग्रेज़ी से भिन्न है। कुछ लोग वेल्स और स्काटलैंड की भाषाओं को अंग्रेज़ी की बोली मानते हैं पर वे अंग्रेज़ी से उतना ही भिन्न हैं जितना हिन्दी से तमिल। आधुनिक जातीय प्रदेश पुराने जनपदों के आधार पर बनते हैं, जातीय भाषा का निर्माण और प्रसार इन्हीं जनपदों की भाषाओं के बीच होता है। इस विकास की यह विशेषता होती है कि उद्योग-धन्धों और व्यापार के केन्द्रों में जातीय भाषा का व्यवहार होता है, विभिन्न जनपदों के लोग परस्पर सम्पर्क के लिए उसी जातीय भाषा का व्यवहार करते हैं। हिन्दी प्रदेश में कोई ऐसा नगर नहीं है जहाँ हिन्दी से अलग किसी जनपदीय भाषा का ही व्यवहार होता हो। कानपुर एक बड़ा औद्योगिक नगर है। यहाँ दूर-दूर के जनपदों से आकर मज़दूर काम करते हैं। इनकी सम्पर्क भाषा हिन्दी है, अपने घर में वे चाहे

कनौजी बोलें चाहे बुन्देलखण्डी। ब्रज प्रदेश के नगर आगरे की सामान्य भाषा ब्रज नहीं है बुन्देलखण्ड के नगर झांसी की सामान्य भाषा बुन्देलखण्डी नहीं है, भोजपुरी क्षेत्र के नगर बनारस की सामान्य भाषा भोजपुरी नहीं है। हर जगह मजदूरों व्यापारियों, नौकरीपेशा लोगों की भाषा हिन्दी है। अब मान लीजिए, बनारस के किसी कारखाने में केवल भोजपुरी का व्यवहार हो, कानपुर में केवल कनौजी का व्यवहार हो, दिल्ली में बांगरू का व्यवहार हो, तो सामाजिक विकास की सारी प्रक्रिया ठप हो जाएगी। सामाजिक विकास-प्रक्रिया के अनुरूप सारे प्रदेश में शिक्षा का माध्यम हिन्दी है। यदि शिक्षा के जनपदीय माध्यम बनाये जायें, झाँसी में शिक्षा का माध्यम बुन्देलखण्डी हो, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम भोजपुरी हो, अलीगढ़ विश्वविद्यालय में शिक्षा ब्रजभाषा के माध्यम से दी जाय, लखनऊ-विश्वविद्यालय में अवधी के माध्यम से दी जाय, तो यह समझते देर न लगेगी कि सारा सांस्कृतिक विकास तहसनहस हो जाएगा। इसके अलावा यथार्थ जीवन में भाषाओं की जो स्थिति है, यह कार्य उससे बिलकुल उल्टा होगा।

हिन्दी प्रदेश की एकता, इस प्रदेश में हिन्दी के व्यवहार का प्रश्न, राष्ट्रीय एकता के प्रश्न के साथ जुड़ा हुआ है। जो लोग यह चाहते हैं कि भारत में अंग्रेजी का पुराना गौरवपूर्ण स्थान बना रहे, वे हिन्दी के कृत्रिम होने का शोर सबसे ज्यादा मचाते हैं। वे कहते हैं, देखो, हिन्दी ने ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि आदि स्वतंत्र भाषाओं को दबा रखा है। उत्तर भारत में ही हिन्दी ने अपना साम्राज्यवाद कायम कर रखा है, उसी का प्रसार हिन्दी वाले बंगाल, महाराष्ट्र, दक्षिण के प्रदेशों में भी करना चाहते हैं। इसलिए अंग्रेजी का व्यवहार निरन्तर करते जाना चाहिए।

हिन्दी प्रदेश वैसे ही अनेक राज्यों में बँटा हुआ है। अन्य प्रदेशों में भारत के राजनीतिक दल भाषावार राज्य बनाने का आन्दोलन चला चुके हैं। हिन्दी प्रदेश में राज्य न तो जनपदीय भाषाओं के आधार पर बने हैं और न जातीय भाषा के आधार पर। यहाँ राज्यनिर्माण का कोई भी सिद्धान्त लागू नहीं होता और राजनीति-विशारद इस समस्या की चर्चा भी नहीं करते। इसलिए जनपदों की भाषाएँ हिन्दी से स्वतन्त्र भाषाएँ हैं, यह स्थापना हमारी जातीय एकता को खण्डित करती है, वह राष्ट्रीय एकता को कमजोर करती है, और अंग्रेजी के प्रभुत्व को कायम रखती है। इस स्थापना को दोहराते समय बहुत सतर्क रहना आवश्यक है।

हिन्दी में लिखा हुआ बहुत-सा साहित्य अब गाँवों में किसान पढ़ते हैं। कचहरी अदालत में उनका काम हिन्दी से चलता है। पाठशालाओं में उनके बच्चे हिन्दी पढ़ते हैं। बहुत से किसान गरीबी के कारण गाँव छोड़कर शहर में मजदूरी करने आते हैं। उनका काम हिन्दी में चलता है। इस तरह जिन आर्थिक और सांस्कृतिक सूत्रों से शहर के लोग बँधे हुए हैं, उनमें पूर्णतः नहीं

सामाजिक और सांस्कृतिक विकास करने की पूरी स्वाधीनता होनी चाहिए। बड़े जातीय क्षेत्रों में जहाँ पुराने कबीले या लघुसंख्यक जातियाँ रहती हैं वहाँ उनके सामाजिक विकास की समस्याएँ हल करने में दो तरीके सहायक होते हैं। एक तरीका यह है कि बड़े जातीय क्षेत्रों के अन्तर्गत इन्हें स्वायत्त शासन की सुविधा प्रदान की जाय। दूसरा तरीका यह है कि जहाँ आर्थिक रूप से इनका राज्य आत्मनिर्भर हो सके, वहाँ उनका राज्य बना दिया जाय। मध्य प्रदेश से लेकर बिहार तक आदिवासियों के क्षेत्र फैले हुए हैं। ये लोग सामाजिक विकास की विभिन्न मंजिलों में हैं। इनका प्रदेश किसी एक ही जाति या एक ही भाषा का प्रदेश नहीं है। यहाँ द्रविड और कोल परिवारों की अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। इनके अलावा छोटा नागपुर में आदिवासियों की भाषा से प्रभावित हिन्दी का व्यवहार भी व्यापक रूप से होता है। जैसे शहरों में हिन्दी के अनेक रूप हैं, वैसे ही छोटा नागपुर के आदिवासी क्षेत्र में हिन्दी का अपना बोली रूप है। इससे मिलती-जुलती स्थिति भारत के अन्य प्रदेशों में भी है। केरल, तमिलनाडु आदि के द्रविड प्रदेशों में तो अन्य द्रविड भाषाएँ बोलने वालों के ही विशेष क्षेत्र हैं। इन्हें स्वायत्त शासन का अधिकार मिलना चाहिए। सोवियत संघ में सौ से अधिक भाषाएँ बोली जाती हैं, वहाँ सौ से अधिक जातियाँ निवास करती है। वहाँ केवल सोलह प्रजातंत्र हैं। सोवियत संघ इन्हीं राज्यों का संघ है। प्रत्येक राज्य में अनेक स्वायत्तशासन के क्षेत्र हैं, सबसे अधिक रूसी प्रजातन्त्र में है। ब्रिटेन में एक ही राज्य है परन्तु यहाँ भी वेल्श और गेलिक के अलग क्षेत्र है।

हिन्दी प्रदेश की भाषाई स्थिति के बारे में जो विशेषताएँ बतायी गयी है, उनमें कुछ ऐसी है जो सभी भाषाक्षेत्रों में पाई जाती हैं, कुछ ऐसी हैं जो थोड़े से भाषा-क्षेत्रों में मिलती हैं पर ऐसी कोई विशेषता नहीं है जो कहीं भी न मिलती हो। कहा जा सकता है, दो चार विशेषताएँ इधर-उधर मिल सकती हैं पर ऐसा भाषा क्षेत्र कौन सा है जहाँ ये सभी विशेषताएँ एक साथ मिलती हो? मेरा उत्तर है, ऐसा भाषा क्षेत्र रूस है, वहाँ तथाकथित बहुभाषा भाषी हिन्दी प्रदेश की सभी विशेषताएं प्राप्त हुई है।

सबसे पहले विजातीय भाषा का व्यवहार। हिन्दी प्रदेश में अंग्रेज़ी का व्यवहार होता है, रूस में फ्रांसीसी भाषा का व्यवहार होता था। अब वहाँ नहीं होता क्योंकि समाजवाद की एक उपलब्धि विजातीय भाषा का प्रभाव समाप्त करना है। पूँजीवादी रूस में बीसवीं सदी के प्रथम चरण तक फ्रांसीसी भाषा को गौरव का स्थान प्राप्त था। भाषाई स्थिति का सम्बन्ध समाज-व्यवस्था से बड़ा गहरा है। जब हिन्दी प्रदेश में समाजवादी व्यवस्था कायम होगी, तब अंग्रेजी का यह गौरवपूर्ण स्थान भी समाप्त हो जाएगा। विजातीय भाषा का प्रभाव एक विरल विशेषता है क्योंकि इसका कारण किसी अन्य जाति का राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक प्रभाव है। विरल होने पर भी यह विशेषता बहुत से देशों में मिलती

है क्योंकि विश्वसाम्राज्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत एशिया और अफ्रीका के बीसियों देश इस तरह के प्रभाव में रहे हैं। इसमें यह भी समझना चाहिए कि हिन्दी प्रदेश की यह विशेषता अस्थाई है जैसे कि वह रूस में अस्थाई सिद्ध हो चुकी है। एशिया के देशों में वियतनाम फ्रांस का उपनिवेश रह चुका है। वहाँ कभी फ्रांसीसी भाषा का वैसे ही व्यवहार होता था जैसे भारत में अंग्रेजी का होता है। अब वहाँ सर्वोपरि स्थान वियतनामी भाषा का है।

हिन्दी-उर्दू का भेद हिन्दी प्रदेश की अपनी विशेषता माना जाता है। रूस में यिद्दिश भाषा का व्यवहार वैसे ही होता है जैसे यहाँ उर्दू का। यहूदी एक धर्म है, जाति नहीं है जैसे कि ईसाई एक धर्म है, जाति नहीं है। रूस में यहूदी हीब्रू को अपनी धर्मभाषा मानते हैं, हीब्रू मिश्रित भाषा को अपनी खास भाषा मानते हैं। इस भाषा में जर्मनभाषातत्व इसलिए हैं कि रूस के यहूदी वहाँ जर्मनी से पहुँचे हैं। जैसे आगरे का कोई मुसलमान कलकत्ते में जाकर उर्दू बोले, वैसे ही जर्मनी के यहूदी रूस में जाकर हीब्रू मिश्रित जर्मन अर्थात् यिद्दिश का व्यवहार करते हैं। न तो रूस में सभी यहूदी यिद्दिश का व्यवहार करते हैं, न हिन्दी प्रदेश में सभी मुसलमान उर्दू का व्यवहार करते हैं। कुछ शहरों को छोड़कर गाँवों के मुसलमान, खासकर बिहार और मध्यप्रदेश के मुसलमान, हिन्दी या स्थानीय जनपदीय बोली का व्यवहार करते हैं। रूस के बाहर यिद्दिश का व्यवहार बहुत कम होता है, यद्यपि ब्रिटेन और अमरीका में यहूदी भरे पड़े हैं। वैसे ही हिन्दी प्रदेश के बाहर, कश्मीर, बंगाल या सिन्ध में, धर्म के कारण हिन्दुओं से मुसलमानों की कोई अलग भाषा नहीं है। अतः हिन्दी प्रदेश की इस विशेषता को भी अस्थाई मानना चाहिए।

अब रही परिनिष्ठित भाषा के साथ जनपदीय उपभाषाओं के व्यवहार की बात। यह एक व्यापक विशेषता है जो हर भाषा क्षेत्र में मिलती है। इसका कारण यह है कि जनपदों का अलगाव खत्म होने पर जातीय प्रदेश निर्मित होता है, कोई एक जनपदीय भाषा जातीय भाषा बनती है और अन्य जनपदीय भाषाओं के तत्व अपने भीतर समेटती है। आधुनिक उद्योगधन्धों के विकास के साथ, साक्षरता और शिक्षाप्रसार के कारण, जनपदीय भाषाओं का व्यवहार निरन्तर कम होता जाता है परन्तु पूरी तरह समाप्त नहीं होता। परिनिष्ठित रूसी भाषा की बोलियाँ पूँजीवादी व्यवस्था में थीं, समाजवादी व्यवस्था में भी हैं। हिन्दी प्रदेश में अनेक जनपदीय भाषाओं में विपुल साहित्य-राशि है। ऐसा रूस में नहीं है पर इससे वहाँ जनपदीय भाषाओं का अस्तित्व असिद्ध नहीं होता। -

जनपदीय उपभाषाओं के अलावा परिनिष्ठित भाषा के ही बोली-रूप होते हैं। जनपदीय उपभाषाएँ सामन्ती व्यवस्था के युग की स्वतन्त्र भाषाएं हैं, परिनिष्ठित भाषा के बोली-रूप उन स्वतन्त्र भाषाओं के अवशेष नहीं हैं। ये रूप जातीय भाषा पर जनपदीय उपभाषाओं अथवा अन्य जातीय भाषाओं का प्रभाव

पडने से बनते हैं। जनपदीय उपभाषाओं का मुख्य व्यवहार क्षेत्र गाँव होते हैं; परिनिष्ठित भाषा के मुख्य व्यवहार क्षेत्र शहर होते हैं। ऊपर दिल्ली, बम्बई-कलकत्ता आदि शहरों की जिस हिन्दी का उल्लेख है, उसमें यह तथ्य प्रमाणित होता है। परिनिष्ठित भाषा के बोली रूपों के व्यवहार के व्यापक सामाजिक कारण हैं। अत यह विशेषता चाहे रूसी हो, चाहे अंग्रेजी, चाहे तमिल हो, चाहे बँगला, सर्वत्र दिखाई देती है।

अनेक भाषा-क्षेत्रों म विशेष धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यों में किसी धर्म-भाषा का व्यवहार होता है अथवा ऐसी रिक्थ भाषा का व्यवहार होता है जिसे लोग अपनी सांस्कृतिक विरासत से विशेष रूप में सम्बद्ध मानते हैं। हिन्दीप्रदेश में इस स्तर पर संस्कृत का व्यवहार होता है। रूस म एक धर्मभाषा का व्यवहार होता था जिसे पश्चिम के भाषा वैज्ञानिक चर्चस्लावोनिक कहते हैं। यह गिरजाघरों की पुरोहित-भाषा है जो अब ऐतिहासिक भाषा विज्ञान के लिए महत्वपूर्ण तथ्यों का स्रोत है। वास्तव म यह पुरानी बुल्गर भाषा है। वह रूसी से भिन्न है। आधुनिक रूस में उसका व्यवहार बहुत कम हो गया है किन्तु पुरानी धार्मिक रूढ़ियाँ मानने वाले लोग वहाँ अब भी हैं, इसलिए उसका थोड़ा बहुत व्यवहार वहाँ अब भी होता होगा। पहले होता था, इसमें संदेह नहीं। रूस में ईसाइयों के अनेक सम्प्रदाय हैं। इनमें एक ग्रीक ऑर्थोडोक्स चर्च अथवा सनातनपन्थी यूनानी सम्प्रदाय है जो शायद ग्रीक भाषा का व्यवहार करता होगा। ईसाइयों के अलावा रूस में लाखों मुसलमान हैं। इनमें काफी लोग अभी नमाज पढ़ते हैं और उनकी नमाज अरबी म ही होती है। यहूदियों के अपने उपासना-स्थान हैं। उनमें नि सन्देह हीब्रू का व्यवहार होता होगा। कुछ बौद्ध मंदिर भी हैं। अवश्य ही ये लोग पालि भाषा में धम्मपद का पाठ करते होंगे। कुल मिलाकर धर्मभाषाओं या रिक्थ भाषाओं की स्थिति रूस में वैसी ही है जैसी हिन्दी प्रदेश में। यह विशेषता सर्वत्र समान रूप से व्यापक नहीं है। इसका एक कारण यह है कि सामाजिक जीवन में धार्मिक रूढ़ियों का स्थान निरन्तर गौण होता जाता है। दूसरा कारण यह है कि अनेक देशों में समाज सुधारकों ने धार्मिक कार्यों में जातीय भाषा के व्यवहार पर जोर दिया और इस जातीय भाषा ने पुरानी धर्मभाषा का स्थान ले लिया। धर्म से भिन्न अन्य सांस्कृतिक कार्यों में रिक्थ भाषा का व्यवहार निरन्तर क्षीण होता गया है। कुल मिलाकर जातीय भाषा का स्थान सर्वोपरि होता है, अन्य सभी भाषाएँ गौण स्थान प्राप्त करती हैं। यही स्थिति हिन्दी प्रदेश की है।

जातीय भाषा के साथ विजातीय भाषा का व्यवहार केवल उच्चवर्गों और शिक्षित जनों म होता है जनसाधारण में नहीं। जातीय भाषा के साथ रिक्थ भाषा या धर्म भाषा का व्यवहार पुरोहित वर्ग के लोग विशेष अवसरों पर ही करते हैं। इसका व्यवहार क्षेत्र विजातीय भाषा की तुलना में और भी संकुचित होता है। रिक्थ भाषा या धर्मभाषा के कुछ तत्व जातीय भाषा में मिलाकर

उर्दू या यिद्दिश जैसी मिश्रित भाषा बनती है। इसे जातीय भाषा की एक बोली विशेष कह सकते है। इसका व्यवहार अधिकतर धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय करते हैं। जातीय गठन और विकास के साथ इसके व्यवहार का अल्पसंख्यक क्षेत्र क्रमश जातीय भाषा के वृहत्तर व्यवहार क्षेत्र मे विलीन हो जाता है।

जातीय भाषा के साथ जनपदीय उपभाषाओं का व्यवहार शहरो की अपेक्षा गाँवों मे अधिक होता है। उक्त तीन कोटि की भाषाओं की तुलना मे इनका व्यवहार क्षेत्र अधिक टिकाऊ और व्यापक होता है। साथ ही ये उपभाषाएँ जातीय भाषा को समृद्ध करने का साधन भी हैं। जातीय भाषा के परिनिष्ठित रूपों के साथ उसके बोली-रूपो का व्यवहार और भी टिकाऊ, और भी व्यापक होता है। ये बोली रूप जातीय भाषा के प्रसार के अनिवार्य परिणाम होते हैं।

हिन्दी प्रदेश मे अनेक भाषाओं का प्रयोग इस प्रदेश की विलक्षणता नही है। ऐसा अन्यत्र भी हुआ है और हो रहा है। मुख्य बात यह है कि हिन्दी के माध्यम से एक विशाल प्रदेश मे भारत की एक महान् जाति सुगठित हो गई है और उसके आर्थिक सांस्कृतिक विकास को रोक रखना संभव नही है। बहु-भाषावाद की समस्या पर इसी परिप्रेक्ष्य मे विचार करना उचित है। १९७७

परिशिष्ट-१

१

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उन्नीसवीं सदी में हिन्दी-आन्दोलन

"हिन्दी नई चाल मे ढली, सन् १८७३ ई०।"
इस नई चाल की हिन्दी ने एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की।
उसने हिन्द प्रदेश की जनता को राजनीतिक और सास्कृतिक जागरण की वाणी
दी।

गिलक्राइस्ट और ग्रियर्सन आदि अग्रेज विद्वानों की फैलाई हुई एक भ्रान्त
धारणा अब भी लोगो मे मिल जाती है कि उर्दू से अरबी फारसी के शब्द निकाल-
कर और उनकी जगह सस्कृत शब्द डालकर इस भाषा का निर्माण हुआ।
भारतेन्दु का गद्य देखने से यह धारणा निर्मूल सिद्ध होती है। उनके निबन्धों
मे हुज्जत, जमाना, बयान, सफर, मुर्दे, कलम, रिवाज, तलाश, दरख्त, सबूत,
गरज आदि जैसे शब्द निहायत बेतकल्लुफी से इस्तेमाल किये गए हैं। यही
हाल बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी आदि लेखकों का
भी है। कुछ लेखक ऐसे जरूर थे जो प्रचलित अरबी फारसी के शब्द निकालकर
उनकी जगह सस्कृत-शब्दावली रखकर शुद्ध हिन्दी लिखने के पक्षपाती थे।
लेकिन भाषा की समस्या प्रचलित शब्दो की न थी।
समस्या यह थी कि जहाँ अप्रचलित शब्दो की जरूरत पडे, यानी साधारण
बोलचाल से अलग जहाँ गैर-बुनियादी शब्द-भण्डार की जरूरत पडे, वहाँ अरबी-
फारसी से शब्द लिये जाएँ या सस्कृत से। बोलचाल की भाषा के आधार पर
जिस साहित्यिक उर्दू का विकास हुआ, उसका रुझान गैर-बुनियादी शब्द-
भण्डार के लिए सस्कृत के बदले अरबी फारसी की तरफ जाने का था। उर्दू
की भी दो शैलियाँ थी, एक यह जिसमे बोलचाल की हिन्दी के शब्द निकालकर
उनकी जगह भी अरबी-फारसी के शब्द डाले जाते थे, गैर बुनियादी हिस्से मे
तो उनकी भरमार रहती ही थी। दूसरी शैली वह थी जिसमे बोलचाल की
हिन्दी के शब्दों का बायकाट न किया जाता था और गैर बुनियादी हिस्से मे भी
अरबी-फारसी की बेजा भरमार न की जाती थी।
बोलचाल की भाषा एक ही थी, हिन्दी उर्दू का बुनियादी शब्द-भण्डार एक

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उन्नीसवीं सदी मे हिन्दी आ[illegible] । १०१

ही था। लेकिन साहित्यिक शैली का निर्माण उन लोगो के हाथो हुआ जो अरबी-फारसी के विद्वान् थे ही, संस्कृत के भी विद्वान् थे। इन लोगो ने गैर-बुनियादी शब्द-भण्डार के लिए अरबी-फारसी या संस्कृत का सहारा लिया।

यदि गैर-बुनियादी शब्द-भण्डार के लिए अरबी-फारसी का सहारा लेने की नीति हमारे जातीय विकास की ऐतिहासिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकती तो 'नई हिन्दी' के चलन का सवाल न उठता, सवाल उठने पर भी उसमे सफलता न मिलती। कचहरियो, पुलिस विभाग आदि मे उर्दू चालू थी। जनता का समर्थन मिलने पर उसका प्रचार इतना व्यापक हो जाता कि कोई भाषा-शैली उससे होड करने की जुर्रत न करती। लेकिन गैर-बुनियादी शब्द-भण्डार के लिए सिर्फ अरबी फारसी का सहारा लेने की नीति भारत की किसी भाषा ने न अपनायी थी। कारण यह था कि यहाँ की भाषाओ का जो सम्बन्ध संस्कृत से था, वह अरबी-फारसी से न था। हिन्दी की क्रियाएँ—चलना, लिखना, हँसना, रोना, खाना, पीना, मरना, जीना, आदि आदि—संस्कृत की क्रियाएँ भी हैं। इस तरह अरबी-फारसी की क्रियाएँ बोलचाल की हिन्दी मे बहुत कम हैं। इसलिए इस तरह की क्रियाओ से बननेवाले शब्द भी अरबी-फारसी की क्रियाओ से बननेवाले शब्दो की अपक्षा बोलचाल की हिन्दी मे कही ज्यादा हैं। बोलचाल की हिन्दी मे तद्भवो की भरमार है। उतने तद्भव अरबी-फारसी से नही बने, यद्यपि बोलचाल की भाषा मे आये हुए अरबी-फारसी के शब्दो का रूप और कभी-कभी अर्थ भी एक हद तक बदला है।

बोलचाल की हिन्दी की तरह भारत की अन्य भाषाओ मे भी अरबी-फारसी के सैकडो शब्द घुल-मिल गए। इसका सबब यह नही था कि मुसलमानो की भाषा अरबी-फारसी थी और हिन्दुओ की भाषा संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश थी। बाबर वगैरह की ज़बान दरअसल तुर्की थी। कुछ ईरानियो के अलावा उच्च वर्ग के मुसलमानो के घरो मे भी फारसी न बोली जाती थी। लेकिन सैकडो साल तक फारसी उत्तर भारत की राजभाषा रही थी। सैकडो अरबी के शब्द फारसी के जरिये यहाँ आये। इसके अलावा शिक्षित मुसलमानो के लिए धर्मग्रन्थ की भाषा अरबी थी। बोलचाल की हिन्दी मे फारसी शब्दो के घुलने-मिलने का मुख्य कारण फारसी का राजभाषा होना था।

फिर भी हिन्दी-भाषी प्रदेश की-सी समस्या कश्मीरी, बँगला, मराठी आदि भाषाओ मे नही पैदा हुई। इसके कई कारण थे। राजभाषा फारसी के केन्द्र हिन्द प्रदेश ही मे थे। आगरा और दिल्ली मुगलो की राजधानी रह चुके थे। यहाँ के शिक्षित वर्ग मे फारसी का प्रचार भारत के दूसरे नगरो और प्रान्तो के मुकाबले मे ज्यादा था। १८३६ ई० तक यहाँ राजभाषा फारसी रही और उसके बाद कचहरियो, पुलिस विभाग आदि मे जो भाषा चली, वह अरबी-फारसी शब्दो से लदी हुई थी।

अंग्रेजो ने यहाँ की सामन्तशाही को अपना मित्र और चाकर बनाया।

नवाबो के दरबार जन-संस्कृति के केन्द्र न थे। जनता से उनका अलगाव उनके संरक्षण मे चलनेवाली भाषा-नीति पर भी पडा। लखनऊ, रामपुर, हैदराबाद के दरबार एक खास तरह की शैली और कविता के केन्द्र बन गये। अंग्रेजो ने दो लिपियो और दो शैलियो के चलन को प्रोत्साहन दिया और भाषा-सम्बन्धी विवाद उनकी 'फूट डालो और राज करो' नीति का जरूरी हिस्सा बन गया। लेकिन यह समझना बहुत बडी भूल होगी कि समूचा उर्दू साहित्य सामन्ती संस्कृति से प्रभावित है। उर्दू का एक बहुत बडा हिस्सा सामन्त-विरोधी और राष्ट्रीय है। उससे हिन्दी के लेखक बहुत कुछ सीख सकते है और पिछले हिन्दी लेखको ने बहुत कुछ सीखा है। उसमे बोलचाल की हिन्दी का बहुत ही सुन्दर और सँवारा हुआ रूप मिलता है।

भारतेन्दु के समय तक—और एक हद तक अब भी—शिक्षा पर पंडितो और मौलवियो का इजारा था। इसका एक फल यह हुआ कि हिन्दी-उर्दू की दो लिपियो का चलन हुआ। इससे साहित्य के पाठक दो हिस्सो मे बँट गये और अक्सर उन्हे पता न रहता था कि दूसरी लिपि मे क्या लिखा जा रहा है। जनसाधारण की भाषागत एकता साहित्य की शैली पर अपना असर न डाल पाई। फिर भी लिपि-भेद से ही हिन्दी-उर्दू का भेद इस हद तक नही बढा। जायसी के 'पद्मावत' के फारसी लिपि मे लिखे जाने से वह उर्दू का ग्रन्थ नही हो गया। मूल प्रश्न गैर-बुनियादी शब्द-भण्डार का था। उन्नीसवी सदी के अनेक उर्दू-लेखक अपनी भाषा को सरल करने का प्रयत्न कर रहे थे और उसमे अरबी-फारसी की अनावश्यक भरमार कम कर रहे थे। फिर भी जरूरत पडने पर बोलचाल की शब्दावली से बाहर वे अरबी-फारसी का ही सहारा लेते थे।

भारतेन्दु ने कोई नयी भाषा नही चलाई। उन्होंने प्रचलित खडी बोली को साहित्यिक रूप दिया। उनके पक्ष में तीन बातें महत्वपूर्ण थी। उनकी भाषा-सम्बन्धी नीति वही थी जो अवधी और ब्रज के पुराने हिन्दू-मुसलमान कवियो की थी। उर्दू के कवि—कुछ अपवाद छोडकर—तुलसी, सूर, मीरा, रहीम, रसखान, आलम, शेख, पजनेस, जायसी, पद्माकर, भूषण आदि की परम्परा से अपरिचित थे। इस परम्परा और उसकी भाषानीति को भारतेन्दु ने अपनाया। यह भाषा-नीति यह थी कि तत्सम संस्कृत के मुकाबले मे तद्भव शब्दो का प्रयोग करना, बोलचाल के अरबी फारसी शब्दो का बहिष्कार न करना, गैर-बुनियादी शब्द-भण्डार के लिए संस्कृत का सहारा लेना। दूसरी बात उनके पक्ष मे यह थी कि उन्होने ग्रामीण या जनपदीय बोलियो का स्वभाव पहचाना और अपनी हिन्दी को गाँव के साधारण पढे लिखे लोगो के लिए सुलभ बनाने की कोशिश की। तीसरी बात उनके पक्ष मे नागरी लिपि थी। सैकडों साल तक फारसी के राजभाषा बने रहने पर भी नागरी का लोप न हुआ। गाँव के लोग ज्यादातर नागरी ही काम मे लाते थे। इस लिपि के जरिये भारतेन्दु जनता के

उस तमाम हिस्से को बटोर सके जो उर्दू न जानता था या जिसकी जातीय आवश्यकताएँ उर्दू से पूरी न होती थी।

उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे भाषा-सम्बन्धी बहस मे हिस्सा लेनेवालो ने यह सब विकास-क्रम न समझा था। उर्दू के समर्थकों को हिन्दी प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे दिखाई दी। कुछ मुसलमान लेखको को यह अपनी संस्कृति पर ही हमला दिखाई दिया। अंग्रेजो ने अपनी भाषा-नीति से बहस को बढावा दिया और उसमे दोनो तरफ से ऐसी बातें कही गई जो उचित न थी। इसी बहस की गर्मी मे भारतेन्दु ने 'उर्दू का स्यापा' लिखा था :

है है उर्दू हाय हाय ! कहां सिधारी हाय हाय।।

और आगे चलकर बालमुकुन्द गुप्त ने 'उर्दू को उत्तर' लिखा था :

न बीबी बहुत जी मे घबराइये,
सम्हलिये जरा होश मे आइये।

लेकिन उर्दू सिधारी नही। इसका कारण उसका बुनियादी शब्द-भण्डार था जो बोलचाल की हिन्दी का ही था। वह दूसरी लिपि के माध्यम से—दरबारो और दरबारी साहित्य के अलावा—साधारण जनता के एक हिस्से की सेवा करती रही। इसलिए प्रेमचन्द, पद्मसिंह शर्मा आदि लेखकों का मत था कि क्रमश साहित्य मे एक मिली-जुली शैली का विकास होगा और वह उर्दू को हटाकर या दबाकर न होगा बल्कि उससे बहुत कुछ लेकर होगा।

भारतेन्दु ने बहस के दौरान कुछ तेज बातें जरूर लिखी, लेकिन वह न उर्दू से नफरत करते थे, न उर्दू के प्रचलित शब्दो का बहिष्कार करते थे। यही नही, वह उर्दू मे गद्य-पद्य खुद भी लिखते थे। भारतेन्दु को जब व्याख्यान देने के लिए बलिया बुलाया गया था, तब विज्ञापन मे उन्हे 'शायरे मारूफ बुलबुले हिन्दुस्तान' कहा गया था। वाजिद अली शाह के शायर मिर्जा आबिद ने 'बागे आलम मे मोतदिल है हवा' आदि उन पर कसीदा लिखकर भेजा था।[1] श्री रामशकर व्यास ने लिखा था कि उन्हें वजीर और अनीस का काव्य विशेष प्रिय था। १७ सितम्बर, १८७२ की 'कविवचन-सुधा' मे एक दिलचस्प विज्ञापन छपा था। यह विज्ञापन उर्दू के साप्ताहिक पत्र 'कासिद' के बारे मे था जिसे भारतेन्दु निकालनेवाले थे।

"कासिद !
सातएँ दिन आवैगा !!
नये हितकारी और विचित्र समाचार कहैगा !!!

यह एक साप्ताहिक उरदू पत्र निकलैगा इसमे अनेक हित की, नये उद्‌गार की, साम्प्रत समयानुसार लोक वृद्धि की और अनेक शुभ समाचार की बातें

१ ब्रजरत्नदास 'भारतेन्दु, हरिश्चन्द्र' पृ० ८३।

रहेगी—यह पत्र बहुत उत्तम बड-बड़े पृष्ठो में स्वच्छ अक्षरो मे छपेगा मूल्य—१०) वार्षिक ।

हरिश्चन्द्र
उद्यमकर्त्ता ।"

भारतेन्दु मे उर्दू के प्रति द्वेषभाव होता तो वह 'कासिद' निकालने की बात कभी न सोचते ।

भारतेन्दु ने हिन्दी के माध्यम से जिस जातीय सगठन मे योग दिया, उसमे अवध, ब्रज, बुन्देलखण्ड, भोजपुर आदि जनपदो की जनता शामिल थी । यदि महापडित राहुल साकृत्यायन की यह स्थापना सच मानी जाय कि अवधी, ब्रज, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी बोलनेवाले अलग-अलग जातियो के लोग हैं, तो भारतेन्दु का यह काम इतिहास-विरोधी ठहरेगा । भारतेन्दु भोजपुरी क्षेत्र के निवासी थे । भोजपुरी जानते भी अच्छी तरह थे । लेकिन उन्होने भोजपुरी मे न लिखकर हिन्दी को अपना साहित्यिक माध्यम बनाया जैसे कि आगे प्रेमचन्द और प्रसाद ने किया । इतिहास-विरोधी काम भारतेन्दु का नही था, इतिहास-विरोधी स्थापना महापडित राहुल और उन जैसे विचारको की है । यद्यपि राहुलजी स्वयं हिन्दी के लेखक हैं—और अपना जीवनचरित उन्होंने भोजपुरी मे लिखना उचित नहीं समझा—फिर भी वह हिन्दीभाषी जनता का एक प्रान्त बनाने की माँग करने के बदले बोलियों के आधार पर हिन्द प्रदेश के तेरह टुकडे करने का सुझाव पेश करते हैं । सन् १९५३ की 'आलोचना' (दिल्ली) मे इस आशय का उनका एक लेख छपा था । सोलहवीं सदी के आस पास ही व्यापार के प्रसार के साथ भोजपुरी आदि के क्षेत्रो मे खडी बोली फैलने लगी थी । व्यापार के केन्द्रों में एक ही बोली बोलनेवाले लोग इकट्ठा हों, ऐसा नहीं होता । उद्योग-धन्धे और व्यापार शहरों मे विभिन्न बोलियाँ बोलनेवाले लोगों को बटोरते हैं और उनमे किसी एक बोली का व्यवहार 'शिष्ट' लोग करते हैं । बनारस आदि पूर्वी नगरो में खडी बोली व्यापारी कौमों के साथ आई । २ अक्तूबर, १८७२ को 'कविवचन-सुधा' में भारतेन्दु का 'हिन्दी भाषा' नाम का निबन्ध छपा था । यह निबन्ध ऐतिहासिक महत्त्व का है । इसमे भारतेन्दु ने बनारस की बोलियो का अध्ययन किया है और यह दिखाया है कि शिष्टजनो की भाषा हिन्दी है ।

बनारस के लोगों की बोली के बारे में वह कहते हैं, "इसी बनारस मे जो बनारस के पुराने रहवासी हैं उनके घर मे विचित्र-विचित्र बोलियाँ बोली जाती हैं जैसा पुरबियो की बोली तो आइला जाइला प्रसिद्ध ही है परन्तु यहाँ के पुराने निवासी कसेरे लोग 'बाट' शब्द का बहुत प्रयोग करते हैं जैसा 'आवत हई' के स्थान पर 'आवत बाटी', 'का करत होव:' वा 'का करल:' के स्थान पर "का करत बाट्य' वा 'बाटो' वा 'बाट.' ।"

बनारस मे इन बोलियों के एकत्र होने और उन सबके ऊपर हिन्दी के

चलन का कारण क्या है ? इसका कारण व्यापार का प्रसार, औद्योगिक और व्यापारी केन्द्रों का निर्माण, सामन्ती सम्बन्धों के भीतर पूँजीवादी सम्बन्धों का पनपना और विभिन्न बोलियाँ बोलनेवालों का जातीय गठन है। 'प्रेमजोगिनी' में झपटिया 'मिसरो नहीं आए' कहता है लेकिन जलघरिया 'सुत्तल थोड़े रहलों' और 'कथा छिला जाला' कहता है। और शिष्ट लोग खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं।

बनारस की विभिन्न बोलियों का उल्लेख करने के बाद भारतेन्दु 'हिन्दी भाषा' वाले निबन्ध में कहते हैं, "जो हो यह तो सिद्धान्त है कि जो यहाँ के शिष्ट लोग बोलते हैं यह परदेशी भाषा है और यहाँ पश्चिम से आई है।"

पछाँह से यह बोली किसके साथ आई, इस प्रश्न का उत्तर भारतेन्दु के इस वाक्य से मिलता है. "अब पश्चिमोत्तर देश में घर में बोलने की भाषा कौन है यह निश्चय नहीं होता क्योंकि दिल्ली प्रान्त के वा अन्य नगरों में भी खत्रियों वा पछाँहीं अगरवालों वा और पछाँहीं जातियों के अतिरिक्त घर में हिन्दी कोई नहीं बोलते वरच यहाँ तो कोस-कोस पर भाषा बदलती है।" दिल्ली के अलावा अन्य नगरों में भी खड़ी बोली खत्रियों, पछाँहीं अग्रवालों आदि के जरिये फैली जिनका मुख्य पेशा व्यापार था। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि मुगल-साम्राज्य के ध्वंस के बाद "दिल्ली के आस-पास के प्रदेशों की हिन्दू व्यापारी जातियाँ (अगरवाले, खत्री आदि) जीविका के लिए लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी शहरों में फैलने लगी। उनके साथ-साथ उनकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली भी लगी चलती थी।"[१]

वास्तव में यह क्रम मुगल-साम्राज्य के ध्वंस से पहले ही शुरू हो चुका था। शुक्लजी ने व्यापारियों द्वारा खड़ी बोली के प्रसार का तथ्य बहुत सही दिया है। इन व्यापारियों में मुसलमान भी थे। इसके सिवा सोलहवीं से उन्नीसवीं सदी तक एक बोली बोलनेवालों का दूसरी बोली के क्षेत्र में जाकर बसने का क्रम बराबर चलता रहा। अवध के जो मुसलमान मिथिला में जाकर बस गए और वहाँ एक नये ढंग की हिन्दुस्तानी का व्यवहार करने लगे, वह कार्य भी इसी क्रम के अन्तर्गत हुआ।

जो लोग समझते हैं कि खड़ी बोली केवल सभ्य व्यवहार या साहित्य की भाषा है, उन्हें इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिए कि दिल्ली के अलावा अन्य नगरों में वह बहुत से लोगों की मातृभाषा थी और है। इस सिलसिले में भारतेन्दु ने लिखा था, "ऐसे ही पश्चिमोत्तर देश में अनेक भाषा हैं पर उनमें ऐसे नगर थोड़े हैं जिनमें अबाल-वृद्ध-वनिता सब खड़ी भाषा बोलते हों अतएव यद्यपि काशी इनमें पूर्व्व प्रदेशों की मातृभाषा वा घर के बोलचाल की भाषा हिन्दी है यह तो हम नहीं कह सकते पर हाँ यह कह सकते हैं कि इसी पश्चिमोत्तर

१. रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४८४।

देश मे कई नगर ऐसे हैं जहाँ यही खडी बोली मातृभाषा है।"

इस बोलचाल की भाषा मे हिन्दी उर्दू का भेद न था। यह विभिन्न बोलियाँ बोलनेवाली जनता की नई जातीय भाषा थी जो उसे एक सूत्र मे बाँध रही थी। गिलक्राइस्ट से ही इस बात का सूत्रपात हो चुका था कि मुसलमानो की शिष्ट बोली और होगी और हिन्दुओं की और। लेकिन भारतेन्दु बोलचाल की भाषा मे भेद न मानते थे। हिन्दी-उर्दू का भेद अरबी फारसी या सस्कृत से शब्द लेने के कारण था। ८ सितम्बर, १८७३ की 'कविवचन सुधा' मे हिन्दी-उर्दू के बारे मे एक लेख छपा था जिसका अंग्रेजी मे शीर्षक है, "Hindi Versus Urdu, Philologically हिन्दी और उर्दू।" इसमे हिन्दी उर्दू के भेद के बारे मे यह स्थापना है, "हिन्दी और उर्दू मे अन्तर क्या है हम बिना सकोच के उत्तर देते हैं कि भाषाओ मे कुछ अन्तर नही है क्योकि व्याकरण की विभक्तियाँ और नियम दोनो के एक हैं पर इतना ही अन्तर है कि हिन्दी म जिसके लिए हिन्दी शब्द नही मिलता वहाँ सस्कृत शब्द काम मे आते हैं और उर्दू मे सहज हिन्दी शब्द होने पर भी और जहाँ शब्द नहीं मिलते हैं वहाँ तो अवश्य ही अरबी और फारसी के शब्द लिखे जाते हैं, यही दोनो मे अन्तर है।"

भारतेन्दु ने हिन्दी के नई चाल मे ढलने का वर्ष १८७३ लिखा था। वास्तव मे १८६८ मे ही 'विद्यासुन्दर' के प्रकाशन और 'कविवचन सुधा' के निकलने से हरिश्चन्द्री हिन्दी का चलन शुरू हो गया था। लेकिन हरिश्चन्द्र ने न तो कोई नई भाषा चलाई थी, न व्याकरण आदि मे ही कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन किया था। उनकी हिन्दी की विशेषता उनकी शैली थी। 'विद्यासुन्दर' मे 'समाचार लेने के हेतु', 'यह पौन हमारी प्राणप्यारी त्रिभुवनमोहनी का अग स्पर्श करके आता है', 'पुरस्कार के हेतु', 'बस अब बहुत भई', 'सब काम सिद्ध भया', 'बिना कुछ भए', ऐसी दशा शत्रु की होय', 'और जो वह सन्यासी हमी होयँ', 'जो यह बात सच्च होय' आदि प्रयोग मिलते हैं। 'कर्पूरमजरी' मे "महाराज, कहिये और क्या होय ?" 'मुद्राराक्षस' मे . "जो कोई सुननेवाला और समभनेवाला होय।" 'वैदिकी हिंसा' मे . "बडा आनन्द भया"। 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे "बेटा, साँझ भई", "ठीक है, लेव सोना"। 'विषस्य विषमौषधम्' मे "तो क्या हुआ है, होय।" 'वैष्णवता और भारतवर्ष' मे : "स्नान आदि भी यहीं तक रहैं", 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' मे . "खराबी जो बीच मे भई है।"

भाषा के परिष्कार की दृष्टि से भारतेन्दु का काम युगान्तरकारी नहीं कहा जा सकता। उनके पहले—उर्दू गद्य को छोड भी दें तो— रामप्रसाद निरञ्जनी, सदासुखलाल, राजा लक्ष्मणसिंह आदि समर्थ हिन्दी-लेखक हो चुके थे। लल्लूजी लाल की भाषा की तुलना मे भारतेन्दु की भाषा युगान्तरकारी मालूम हो सकती है लेकिन हिन्दी गद्य के विकास मे लल्लूजीलाल का जो महत्व ग्रियर्सन ने घोषित किया है, वह इतिहास से सिद्ध नही होता।

बोली को माध्यम बनाने के लिए एक लम्बा संघर्ष चला। 'हिन्दी भाषा' वाले निबन्ध मे उन्होने अपना यह मत प्रकट किया है कि "पश्चिमोत्तर देश की कविता की भाषा ब्रजभाषा है यह निर्णीत हो चुकी है।" अपने अनुभव के बारे मे लिखा है : "मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खडी बोली मे कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नही बनी, इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा मे ही कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रजभाषा मे ही उत्तम होती हैं।" खडी बोली मे कविता मीठी क्यो नही होती, इसका "सबसे बडा कारण यह जान पडा कि इसमे क्रिया इत्यादि मे प्राय दीर्घ मात्रा होती हैं इससे कविता अच्छी नही बनती।"

वास्तव मे खडी बोली की कविता मे मिठास के अभाव के लिए कोई वैज्ञानिक कारण नही है। कारण कवियो मे अभ्यास की कमी ही हो सकता है। ब्रजभाषा में पद्य का एक बना-बनाया रास्ता था, कविता की अपनी शब्दावली थी। खडी बोली मे यह सब गढना था।

खडी बोली बनारस और दूसरे पूर्वी जिलो में शिष्ट लोगो की बोलचाल की भाषा के रूप मे फैल रही थी। इसलिए भारतेन्दु जैसे कवि का उससे प्रभावित न होना असम्भव था। उनकी एक तरह की शैली वह है जिसमें ब्रजभाषा खडी बोली के साथ घुलती मिलती दिखाई देती है। जैसे 'प्रेमतरग' के इस गीत मे—

> किन वे रुठाया मेरा यार।
> कहाँ गया, क्यो छोड गया मोहिं, तोड गया क्यो प्यार।

या

> नशीली आँखोवालो सोए रहो अभी है बडी रात।
> सगरी रैन मेरे सग जागत रहे करत रगीली बात॥

दूसरी तरह की शैली उनकी लावनियो की है जिसमे प्रचलित फारसी के शब्द भी आते हैं और जिसकी भाषा आमतौर से शुद्ध खडी बोली होती है। सूफी कवियो के रग मे भारतेन्दु खडी बोली की कितनी सरस कविता कर सकते थे, इसका सबूत इन पक्तियो मे मिलेगा—

> श्री राधा माधव जुगल चरन रस का अपने को मस्त बना।
> पी प्रेम पियाला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मजा॥
> यह वह मै है जिसके पीने से और ध्यान छुट जाता है।
> अपने मे औ दिलवर मे फिर कुछ भेद नही दिखलाता है॥
> इसके सुरूर से मस्त हरेक अपने को नजर बस आता है।
> फिर और हवस रहती न जरा कुछ ऐसा मजा दिखाता है॥
> टुक मान मेरा कहना दिल को इस मैखाने की तर्फ झुका।
> पी प्रेम पियाला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मजा॥

लावनीबाजो ने खडी बोली कविता की एक सजीव परम्परा कायम की थी।

उनके लिए दीर्घ ह्रस्व मात्राओं से खड़ी बोली के मीठे, कड़वे बनाने का सवाल न था। उनके यहाँ खड़ी बोली एक बहुत ही लचीला माध्यम बन गई थी और भारतेन्दु ने जब उस परम्परा का सहारा लिया, तब उन्होंने खड़ी बोली में बहुत ही सरस कविता की। यह सही है कि यह कविता पंत प्रसाद की शैली से बहुत दूर है लेकिन वह जन-काव्य की परम्परा के बहुत निकट है।

जनसाधारण के कवियों ने पद्य में खड़ी बोली की परम्परा बहुत दिन से चला रखी थी। उन्हें यह विश्वास दिलाने की जरूरत न थी कि व्रजभाषा छोड़कर खड़ी बोली में लिखने से साहित्य और जल्दी उन्नति करेगा। कवियों के सामने प्रश्न यह था कि वे इस सजीव परम्परा से नाता जोड़ेंगे या नहीं। भारतेन्दु के नाटकों में खड़ी बोली के गीतों आदि का आना यह साबित करता है कि जनता में खड़ी बोली के पद्य प्रचलित थे। 'वैदिकी हिंसा' में राजा गाता है: 'पीले अवधू के मतवाले प्याला प्रेम हरी रस का रे।" 'सत्य हरिश्चन्द्र' में धर्म कहता है—

हम चौधरी डोम सरदार! अमल हमारा दोनों पार।

और पिशाचों-डाकिनियों का गीत—

हम सजसे बजके बजके चलेंगे चमकेंगे चम चम चम।

'भारत-दुर्दशा' में आलस्य का गीत है—

दुनिया में हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा।

'अंधेर-नगरी' में घासीराम का 'चने ज़ोर गरम' खड़ी बोली की अपनी चना-जोर शैली में है। ऐसे ही चूरनवाले का लटका है—

चूरन अमलबेद का भारी। जिसको खाते कृष्णमुरारी।
मेरा पाचक है पचलोना। जिसको खाता श्याममलोना॥

आम जनता में खड़ी बोली के पद्यों के चलन का मतलब यह था कि कविता में भी खड़ी बोली को माध्यम बनाने की ऐतिहासिक आवश्यकता पैदा हो गई थी।

भारतेन्दु की उपर्युक्त शैलियों के अलावा उनकी उर्दू शैली की रचनाएँ हैं। 'रसा' नाम से वह शायरी करते थे और आमतौर से उनकी भाषा सरल उर्दू होती है। यथा—

दिल मेरा ले गया दगा करके।
बेवफा हो गया वफा करके॥

o o

दोस्तो कौन मेरी तुर्बत पर,
रो रहा है 'रसा रसा' करके।

भारतेन्दु की सम्पूर्ण खड़ी बोली की कविता परिमाण में कम नहीं है। उन्होंने खड़ी बोली की सरल लोकप्रिय कविता से सहायता पाई थी। लेकिन ब्रजभाषा में जिस पुरानी शैली पर वह शृंगार-रस के पद्य बनाते थे, उस शैली

भाषा के परिष्कार की दृष्टि से भारतेन्दु के गद्य में बहुत सी खामियाँ थीं, लेकिन उनका युगान्तरकारी काम यह था कि उन्होंने बोलचाल की भाषा की प्रकृति पहचानी, उसकी मिठास को साहित्य में जगह दी, उस भाषा को सभी तरह के साहित्य का समर्थ माध्यम बनाया। वह समझते थे कि पद्य के लिए ब्रजभाषा ही उपयुक्त है, फिर भी उन्होंने स्वयं खड़ी बोली में कम पद्य नहीं रचा जो उनके ब्रजभाषा में लिखे हुए पद्य से बढ़कर है। जनता में खड़ी बोली कविता की अपनी एक परम्परा कायम हो चुकी थी। भारतेन्दु ने इसे पहचाना और उसके अनुकूल पद्य भी रचे। वास्तव में खड़ी बोली (हिन्दी) में पद्यरचना के लिए ऐतिहासिक आवश्यकता कभी की पैदा हो चुकी थी।

भारतेन्दु ने उन लोगों का विरोध किया जो यह दावा करते थे कि हिन्दी में विज्ञान की किताबें लिखी ही नहीं जा सकती या हिन्दी में विज्ञान की शिक्षा न देनी चाहिए। उनके सामने शिक्षा और विज्ञान का उद्देश्य समूचे देश की उन्नति करना था और यह काम देशी भाषाओं द्वारा ही हो सकता था।

इस तरह भारतेन्दु ने हिन्दी को नई चाल में ही नहीं ढाला वरन् उसके चौमुखी विकास के लिए संघर्ष भी किया। (१६५३)

२

गांधीजी और भाषा-समस्या

अपने राजनीतिक जीवन के आरम्भ से ही गांधीजी ने भाषा-समस्या पर सोचना और लिखना आरम्भ कर दिया था। सत्य, अहिंसा, स्वराज्य, सर्वोदय— किसी भी अन्य विषय पर उनके विचार आज के लिए इतने उपादेय नहीं हैं, जितने भाषा-समस्या पर। अंग्रेजी, भारतीय भाषाओं, राष्ट्रभाषा हिन्दी और हिन्दी-उर्दू की समस्या पर उन्होंने जितनी बातें कही हैं, वे बहुत ही मूल्यवान हैं। किसी राजनीतिक नेता ने इन समस्याओं पर इतनी गहराई से नहीं सोचा, किसी पार्टी और उसके नेताओं ने भाषा-समस्या के सैद्धान्तिक समाधान को अपनी निरन्तर की कार्यवाही में इस तरह अमली जामा नहीं पहनाया, जैसे गांधीजी ने। उनकी नीति के मूल सूत्र छोड़ देने से यह समस्या दिन-पर-दिन उलझती जा रही है। जो लोग उसे उलझा रहे हैं, वे गांधीजी की जय बोलते हुए, गांधीवाद की जय बोलते हुए, गांधीवाद की दुहाई देते हुए ऐसा कर रहे हैं।

गांधीजी की भाषा-नीति का पहला सूत्र है, भाषा-समस्या का समाधान जनता के हित में हो।

नेता अंग्रेजी में भाषण दें, जनता समझे नहीं। ऐसे नेता न तो देश में कोई बड़ा परिवर्तन कर सकते थे, न उनकी राजनीति जनता की राजनीति बन सकती थी। जो नेता अंग्रेजी में ही बोलने की जिद करते थे और हिन्दी सीखने से इन्कार करते थे, उनके लिए गांधीजी ने सन '२७ में लिखा था, "वास्तव में ये अंग्रेजी में बोलनेवाले नेता हैं जो आम जनता में हमारा काम जल्दी आगे बढ़ने नहीं देते। वे हिन्दी सीखने से इन्कार करते हैं जबकि हिन्दी द्रविड प्रदेश में भी तीन महीने के अन्दर सीखी जा सकती है, अगर सीखनेवाले इसके लिए तीन घंटे हर रोज दें।" (थॉट्स ऑन नेशनल लेंग्वेज, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, पृ० २३)।

गांधीजी ने नेताओं का अंग्रेजी बोलना छुड़ाया। उनके संघर्ष के फलस्वरूप कम-से-कम अब अपने प्रदेशों में वे जनता के सामने अंग्रेजी में भाषण नहीं करते।

लेकिन उनका राजनीतिक-सास्कृतिक कार्य अब भी बहुत कुछ अंग्रेजी मे होता है। अब राज्यसत्ता काग्रेसी नेताओ के हाथ मे है। यह राज्यसत्ता, उसे चलानेवाला नौकरशाही वर्ग किसके लिए है? स्वराज्य किसके लिए है? सन् '३१ मे गाधीजी ने लिखा था, "यदि स्वराज्य अंग्रेजी-पढे भारतवासियो का है और केवल उनके लिए है, तो सम्पर्क भाषा अवश्य अंग्रेजी होगी। यदि वह करोडो भूखे लोगो, करोडो निरक्षर लोगो, निरक्षर स्त्रियो, सताये हुए अछूतो के लिए है तो सम्पर्क भाषा केवल हिन्दी हो सकती है।" (उप० पृ० ३१)

इसलिए यदि जनतन्त्र जनता का है और जनता के लिए है तो उसमे अंग्रेजी के लिए जगह न होनी चाहिए। अंग्रेजी को अपनानेवाले वे लोग हैं जो भाषा-समस्या पर जनता के हितो को ध्यान मे रखकर विचार नही करते। उन्होने लिखा था, 'कुछ लोग जो अपने दिमाग से जनता की बात एकदम निकाल देते हैं, वे यही नही कहते कि अंग्रेजी भी सम्पर्क भाषा हो सकती है, वे कहते हैं कि अंग्रेजी ही एकमात्र सम्पर्क भाषा हो सकती है।" (उप० पृ० ३०)

जो राजनीतिज्ञ जनता-जनता सबसे ज्यादा चिल्लाते हैं, वे अपनी राजनीतिक कार्यवाही मे इसी जनता की उपेक्षा करते हैं। गाधीजी मार्क्सवादी-लेनिनवादी नही थे लेकिन लेनिन की भाषा सम्बन्धी नीति का सारतत्व उन्होने ग्रहण कर लिया था। उन्हाने भारतीय वैज्ञानिको द्वारा अंग्रेजी के व्यवहार की आलोचना करते हुए सन् '३७ मे लिखा था, उनके लेख अंग्रेजी न जाननेवालो के लिए गुप्त खजाना (सील्ड बुक) हैं। लेकिन रूस का हाल देखिए। वहाँ क्रान्ति से पहले ही तमाम पाठ्य पुस्तकें (वैज्ञानिक पुस्तको समेत) रूसी म छपती थी। दरअसल इसी बात ने लेनिन की क्रान्ति के लिए मार्ग तैयार किया। हम आम जनता से सच्चा सम्पर्क तब तक कायम नही कर सकते, जब तक काग्रेस यह फैसला नही करती कि उसका सारा विचार-विमर्श हिन्दी मे होगा और उसके प्रान्तीय सगठनो का काम प्रान्तीय भाषाओ मे होगा।" (उप० पृ० ५३)

विभिन्न प्रदेशो के बीच विदेशी भाषा को अपनी सम्पर्क-भाषा बनाकर कोई भी देश जन-क्रान्ति नही कर सकता। क्रान्ति का अर्थ मुट्ठी भर आदमियों द्वारा खूनखराबी करना नही होता। क्रान्ति का अर्थ है, समाज-व्यवस्था मे व्यापक परिवर्तन लाना। इस तरह के परिवर्तन आम जनता के सहयोग के बिना कभी नही लाये जा सकते। जो देश पराधीन हैं, वे आम जनता के सघर्ष के बिना स्वाधीन नही हो सकते, और जो देश स्वाधीन हैं, वे आम जनता की दृढ एकता और समर्थ राजनीतिक कार्यवाही के बिना अपनी स्वाधीनता की रक्षा नही कर सकते।

कुछ लोग समझते है कि सम्पर्क भाषा तो मन्त्रियो, नेताओ, बडे बडे अफसरो वगैरह के लिए ही जरूरी है। आम जनता अपनी प्रादेशिक भाषाएँ बोलती ही है; उसे सम्पर्क भाषा से क्या लेना-देना है? ऐसा सोचनेवाले अपने को शासक और जनता को शासित समझते हैं। उनके लिए नौकरशाह

जनता के नौकर नहीं हैं, वे उसके बादशाह हैं। जिन पार्टियों के हाथ में राज्य-सत्ता नहीं है जिनके नेता निकट भविष्य में मन्त्री बनने के उम्मीदवार हैं, वे भी अनजाने अपने को जनता का सेवक नहीं हुकमरान समझने लगे हैं। इसलिए वे अंग्रेजी को सम्पर्क भाषा बनाकर चैन से अपनी गद्दियों पर बैठे हुए हैं।

इन सबसे भिन्न गांधीजी का मत था कि सम्पर्क नेताओं में ही नहीं, विभिन्न प्रदेशों की आम जनता में होना चाहिए। उन्होंने लिखा था, "आप और हम चाहते हैं कि करोड़ों आदमी अन्तर्प्रान्तीय सम्पर्क कायम करें। स्पष्ट है कि अंग्रेजी के द्वारा, कई पीढ़ियाँ गुजर जाने पर भी वे परस्पर सम्पर्क स्थापित न कर सकेंगे।" (१९२७, उप० पृ० ४८)। यदि हमारे देश के जनवादी, समाजवादी, मार्क्सवादी-लेनिनवादी राजनीतिज्ञ गांधीजी की इस बात को मानें कि करोड़ों जनता को आपस में राष्ट्रीय स्तर पर सम्पर्क कायम करना है, तो वे सबसे आगे बढ़कर हिन्दी प्रचार के काम में हिस्सा बँटाएँ, वे अंग्रेजी की छतरी के नीचे बैठकर दूर से हिन्दी की नुक्ताचीनी न करते रहें।

देशव्यापी सम्पर्क जनता का, स्वराज्य करोड़ों अशिक्षित और निर्धन लोगों के लिए, नेता और जनता के बीच सबसे बड़ी दीवार अंग्रेजी—यह हुआ गांधीजी की भाषानीति का पहला सूत्र।

गांधीजी के लिए भाषा-समस्या कोई शुद्ध भाषा विज्ञान की समस्या नहीं थी। उन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के सन्दर्भ में ही उस पर विचार किया था। अंग्रेजों ने भारतीय जनता को गुलाम बनाने के साथ उसकी भाषाओं का दमन किया उस पर अंग्रेजी लादी। अंग्रेजी का चलन राजनीतिक सांस्कृतिक पराधीनता का अंग था, उसे सम्पर्क भाषा के पद से हटाना राजनीतिक-सांस्कृतिक स्वाधीनता के लिए आवश्यक था। अंग्रेजी की जगह भारतीय भाषाओं का व्यवहार राष्ट्रीय आत्मसम्मान की रक्षा का प्रश्न था।

उनकी भाषा नीति का दूसरा सूत्र है राष्ट्रीय आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अंग्रेजी का प्रभुत्व खत्म करो।

१९०९ में गांधीजी ने लिखा था, 'क्या वे लोग जो अपनी मातृभाषा का अपमान करते हैं, कभी देश का भला कर सकते हैं? मैं इसकी कल्पना नहीं कर सकता कि गुजरात के लोग अपनी मातृभाषा छोड़कर अन्य कोई भाषा अपना लें। ऐसा हो तो यह कहने में जरा भी अतिशयोक्ति न होगी कि जो लोग अपनी भाषा छोड़ देते हैं वे देशद्रोही हैं और जनता के प्रति विश्वासघात करते हैं।" (उप० पृ० १८६)

जो लोग अंग्रेजी में उपन्यास और कहानियाँ लिखकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित करते रहे हैं, वे गांधीजी के इन वाक्यों पर गंभीरता से विचार करें।

गांधीजी ने गुजराती भाषी शिक्षित जनों में मातृभाषा का प्रेम जगाया, अंग्रेजी बोलने पर उनकी लानत मलामत की। गुजरात के नवीन साहित्यिक अभ्युत्थान में उनका योगदान अनुपम है। दिसम्बर, १९१५ में सग्रामपुर, सूरत

के जैन विद्यार्थियों ने गांधीजी को अपने पुस्तकालय का उद्‌घाटन करने के लिए बुलाया। गांधीजी के बोलने की बात सुनकर वहाँ बड़ा जन-समुदाय एकत्र हो गया। एक विद्यार्थी ने अंग्रेज़ी में भाषण किया। दूसरा खड़ा हुआ, उसने अंग्रेज़ी में निबन्ध पढ़ा। गांधीजी ने इन अंग्रेज़ी बोलनेवालों को लक्ष्य करके कहा, "यदि अंग्रेज़ी जाननेवाले मुट्ठीभर लोगों को हम देश मान लें तो कहना होगा कि देश शब्द का अर्थ नहीं समझा।" उन्होंने उन लोगों को फटकारा जो कहते थे कि वे मातृभाषा में अपने विचार अच्छी तरह प्रकट नहीं कर सकते। उन्होंने कहा, "जो युवक यह कहते हैं कि हम अपने विचार मातृभाषा द्वारा नहीं प्रकट कर सकते, उनमें मैं यही निवेदन करूँगा कि आप मातृभाषा के लिए भार-रूप हैं। मातृभाषा की अपूर्णता दूर करने के बदले उसका अनादर करना —उससे हाथ ही धो बैठना—किसी सच्चे सपूत को शोभादायक नहीं।"

यह फैशन अभी तक बना हुआ है कि जिनके पास कहने को कुछ नहीं है वे भी करुण कंठ से क्षमा याचना करते हुए जनता से कहते हैं, हम हिन्दी में अपने विचार 'फ्लुएंटली' प्रकट नहीं कर सकते। मातृभाषा की अपूर्णता दूर करना इनके वश की बात नहीं, वे अंग्रेज़ी के भारवाही बनकर मातृभाषा और मातृभूमि के लिए केवल भार-रूप हैं।

गांधीजी गुजराती थे, समस्त भारतीय भाषाओं के सम्मान के लिए लड़े। उनके इस संघर्ष का आदर करनेवालों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी भी थे। उन्होंने गांधीजी का उपर्युक्त भाषण मार्च, १६१६ की 'सरस्वती' में छापा था। भाषण को हिन्दी में अनुवादित करके भेजा था गुजराती सज्जन श्री मणिभाई व्यास ने।

दिसम्बर, १६१६ में गांधीजी ने देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार पर लखनऊ में भाषण दिया। आठ-दस हज़ार श्रोताओं के बीच उन्होंने यह भाषण हिन्दी में दिया। अपने हिन्दी सीखने और हिन्दी के लिए अपमानित होने के बारे में उन्होंने ये मर्मस्पर्शी शब्द कहे थे—

"जिन प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार कम है वहाँ हिन्दी पढ़नेवालों की बड़ी कमी है। मैं स्वयं हिन्दी सीखना चाहता था। पर अहमदाबाद में कोई हिन्दी-ज्ञाता शिक्षक न मिला। मिला बेचारा एक गुजराती भाषाभाषी, जिसने पन्द्रह-बीस वर्ष काशी में रहकर टूटी-फूटी हिन्दी सीखी थी। उसी से मैंने हिन्दी सीखी। सम्मेलन यदि अन्य भाषा-भाषी प्रान्तों में आदमी भेजे तो बहुत से लोग हिन्दी सीख जाएँ।"

हिन्दी की दरिद्रता के गीत गाते अंग्रेज़ी-प्रेमी भारतवासी थकते नहीं हैं। पता नहीं इनकी संख्या पहले ज्यादा थी या अब है। गांधीजी ने इन लोगों को लक्ष्य करके कहा था, "लोग कहते हैं कि हिन्दी में कुछ नहीं है—हिन्दी साहित्य खोखला है—अतएव अंग्रेज़ी के बिना काम नहीं चल सकता। कभी-कभी तो अंग्रेज़ी न जानने के कारण लोगों को वृथा ही बहुत कष्ट उठाना पड़ता है।

यह मैं भी मानता हूँ। यहाँ तक कि मुझ-जैसे लोगों को, हिन्दी का व्यवहार करने के कारण—हिन्दी बोलने के कारण—रेलवे इत्यादि में धक्के भी खाने पड़ते हैं। अंग्रेजी से हिन्दी कितना ही पीछे क्यों न हो, हमें उसका गौरव बढ़ाना ही पड़ेगा।"

राष्ट्र के जो नेता आज हवाई जहाजों और 'एयर कंडीशन्ड' गाड़ियों में सफर करते हुए अंग्रेजी को सम्पर्क भाषा का गौरव प्रदान करते हैं, क्या वे कभी याद करते हैं कि अंग्रेजी रेलों के यात्री मोहनदास कर्मचन्द गांधी को हिन्दी बोलने के कारण धक्के खाने पड़े थे? वे राष्ट्रपति की जय बोलते हैं, राष्ट्रपिता के नाम पर जनता को अध्यात्मवाद के उपदेश देते हैं, राष्ट्र के नाम पर सन्देश प्रसारित करते हैं, उस भाषा में जिसका व्यवहार गांधीजी राष्ट्र-सम्मान के प्रतिकूल समझते थे।

गांधीजी ने अंग्रेजों के सामने, उच्चतम अंग्रेज पदाधिकारियों के सामने, महाप्रतापी ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिधि वाइसराय के सामने भारतीय भाषाओं के गौरव की रक्षा की। उसी भाषण में उन्होंने कहा था, "सरकारी कौंसिलों में अंग्रेजी की पूछ है—उसी का विशेष आदर है। लोग कहते हैं कि वाइसराय इत्यादि अंग्रेजी के अतिरिक्त और कोई भाषा नहीं समझते। अतएव अंग्रेजी का ही उपयोग करना आवश्यक है। पर मैं कहता हूँ कि यदि मैं बोलना जानता हूँ और मेरे कथन में कोई बात ऐसी है जिससे वाइसराय लाभ उठा सकें तो अवश्य मेरी बातें, हिन्दी में होने पर भी, सुनेंगे। आपको जरा दृढ़ता और मनोयोग से काम लेना चाहिए। आत्मावलम्ब किए बिना कोई काम सिद्ध नहीं होता।"

अब अंग्रेज वाइसराय नहीं हैं। लेकिन मनोवृत्ति वही है। अंग्रेजी बोलने में लोग गौरव का अनुभव करते हैं। इससे राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना क्षीण होती है। अंग्रेज वाइसराय एक बार किसी को हिन्दी में बोलने की अनुमति भी दे दे लेकिन यदि स्वाधीन भारत की लोकसभा में कोई मन्त्री हिन्दी में बोले तो महाक्रान्तिकारी कामरेड गोपालन 'वाक आउट' कर देते हैं! गांधीजी ने केवल दूसरों को वाइसराय के सामने हिन्दी बोलने का उपदेश न दिया था; उन्होंने साहस से अपने उपदेश के अनुसार आचरण भी किया था।

१९३१ में संयुक्त भारत के चेम्बर ऑफ कॉमर्स का अधिवेशन कराची में हुआ। उसमें विभिन्न प्रान्तों के सेठ और व्यापारी मौजूद थे। अंग्रेज भी थे। किन्तु गांधीजी ने अपना भाषण हिन्दी में दिया। इस भाषण में उन्होंने बताया कि सन् '१८ में वाइसराय के सामने वह हिन्दी में बोले थे। सन् '१८! अंग्रेज वाइसराय! अंग्रेज और अंग्रेजियत का वह आतंक! उस वातावरण में वाइसराय के सामने हिन्दी बोलने खड़े हुए कर्मवीर गांधी।

कराचीवाले भाषण में उन्होंने कहा था, "मेरे अंग्रेज मित्र मुझे क्षमा करेंगे कि जो कुछ मुझे कहना है, वह मैं राष्ट्रभाषा में कहूँगा। इस अवसर पर मुझे उस सभा की याद आती है जो यहीं १९१८ में बुलाई गई थी। बहुत बहस-मुबाहसे के

बाद जब मैं इस सभा मे ग्राने को तैयार हुग्रा तो मैंने उनसे प्रार्थना की कि मुझे हिन्दी या हिन्दुस्तानी मे बोलने की ग्रनुमति दी जाय। मैं जानता हूँ कि इसके लिए प्रार्थना करना जरूरी नही था, फिर भी सभ्यता का तकाजा था; वरना वाइसराय को बुरा लगता। उन्होने तुरन्त मुझे ग्रनुमति दे दी ग्रौर तब से इस मामले मे मेरी हिम्मत ग्रौर खुल गई है। ग्रौर ग्राज फिर मैं उसी जगह ग्रपने उस ग्रमल को दोहराने जा रहा हूँ। ग्रौर इस चेम्बर के सदस्यो से मैं विनय करूँगा कि ग्रापका यह कर्तव्य है कि ग्रपना सारा काम राष्ट्रभाषा मे करें। इस सगठन मे ग्रापको ग्रपनी जनता से ही वास्ता पडता है। देश का वातावरण भी इस समय ऐसा है कि उसका प्रभाव ग्राप पर भी जरूर पडेगा।" (उप० पृ० २४)

ग्राज किसी ग्रखिल भारतीय सगठन मे लोगो से कहा जाय कि ग्रपना काम राष्ट्रभाषा मे कीजिए तो बहुत से देशभक्त कह उठेंगे—हम पर हिन्दी लादी जा रही है! उन पर ग्रग्रेजी पहले से लदी हुई है, यह वे भूल जाते हैं। ग्रग्रेजी के लिए स्वेच्छा, हिन्दी के लिए ग्रनिच्छा—यह है उनकी देशभक्ति!

५ जुलाई, १६२८ के 'यग इडिया' मे गाधीजी ने ग्रग्रेजी के प्रभुत्व से होनेवाली देश की हानि के बारे मे लिखा था, हजारो नवयुवक ग्रपना कीमती समय इस विदेशी भाषा को सीखने मे नष्ट करते हैं जब कि उनके दैनिक जीवन मे उसकी कोई उपयोगिता नही है, ग्रग्रेजी सीखने मे समय लगाते हुए वे मातृ-भाषा की उपेक्षा करते है, वे इस ग्रन्धविश्वास के शिकार होते है कि ऊँचे दर्जे के विचार ग्रग्रेजी ही मे प्रकट किए जा सकते हैं, ग्रग्रेजी के लादे जाने से राष्ट्र की शक्ति सूख गई है, विद्यार्थियो की ग्रायु क्षीण हो गई है, ग्राम जनता से वे दूर जा पडे है, शिक्षा पाना बडे खर्च का काम हो गया है। 'यदि यही सिल-सिला जारी रहा तो बहुत सम्भव है कि राष्ट्र की ग्रात्मा का नाश हो जाय।"

ग्रौर सब तरह की हानि तो होती ही है, खर्च ज्यादा होता है, उम्र कम होती है, मातृभाषा की उपेक्षा होती है, गाधीजी के लिए सबसे बडा खतरा यह था कि ग्रग्रेजी का प्रभुत्व राष्ट्र की ग्रात्मा का नाश कर देगा। वह ऐसा क्यो सोचते थे? इसलिए सोचते थे कि वह स्वाधीनता-ग्रान्दोलन के सन्दर्भ मे भाषा-समस्या पर विचार करते थे। उनके लिए प्रश्न यह नही था कि ग्रग्रेजी विश्व-भाषा है ग्रौर हिन्दी दरिद्र है, प्रश्न यह था कि विदेशी भाषा के व्यवहार से राष्ट्रीय चरित्र पर ग्रसर क्या पडता है। इसलिए वह तुरन्त ग्रग्रेजी को विदा करने के पक्ष मे थे। लेकिन जिसे गाधीजी राष्ट्र की ग्रात्मा कहते थे, उसे ग्रग्रेजी-प्रेमी नेता मानसिक सकीर्णता कहते हैं!

गाधीजी ग्रग्रेजी पढने के विरुद्ध नही थे। वह उसे वाणिज्य ग्रौर कूटनीति की भाषा मानते थे। किन्तु वह यह सहन न कर सकते थे कि वह किसी भार-तीय भाषा के हक मारे। वह बहुत ग्रच्छी तरह जानते थे कि ग्रग्रेजी का विश्व-महत्व ब्रिटिश साम्राज्य के कारण है। उन्होने १६१८ मे ही घोषित किया

था, "हमें ऐसी हालत पैदा कर देनी चाहिए कि हमारे राजनीतिक या सामाजिक सम्मेलनों मे, काग्रेस तथा प्रान्तीय सभाओं आदि में अंग्रेज़ी का एक शब्द भी न सुना जाय। अंग्रेज़ी का व्यवहार हमें पूरी तरह बन्द कर देना चाहिए। अंग्रेज़ी ने विश्वभाषा की जगह पा ली है लेकिन यह इसलिए कि अंग्रेज़ सारी दुनिया मे फैल गए है और हर जगह अपने पैर उन्होने जमा लिये हैं। जब उनकी यह स्थिति नही रहेगी, तब अंग्रेज़ी का प्रसार भी सकुचित हो जाएगा।" (उप० पृ० ६)

साम्राज्यवाद के पतन के साथ अंग्रेज़ी के प्रसार का दायरा कम हो गया है। अन्य भाषाएँ विश्व स्तर पर अंग्रेज़ी से स्पर्धा करती हैं। बोलनेवालो की सख्या की दृष्टि से ससार की तीसरी भाषा हिन्दी भी विश्वभाषा के रूप मे अंग्रेज़ी का महत्व कम कर सकती है, विश्वभाषा के रूप मे उससे स्पर्धा कर सकती है यदि अंग्रेज़ी प्रेमी भारतवासी अपने देश को अंग्रेज़ी की गुलामी से आज़ाद कर दें।

सन् '४७ से पहले हर देशभक्त मानता था कि अंग्रेज़ी का व्यवहार, शिक्षा सस्थाओं, राजनीतिक सगठनो आदि मे अंग्रेज़ी का चलन मानसिक पराधीनता का लक्षण है। राजा राममोहन राय जैसे समाज सुधारक समझते थे कि भारत की राष्ट्रभाषा अंग्रेज़ी हो जाएगी। ६ जून, १९६५ के 'न्यू एज' (साप्ताहिक) मे डी० सी० होम नाम के सज्जन ने लिखा है कि उन्नीसवीं सदी के मध्य मे जब भारत मे नया औद्योगिक युग शुरू हो रहा था, तब भारत के प्रमुख नागरिको ने अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए खूब जोरदार आन्दोलन किया। राजा राममोहन राय ने इनका नेतृत्व किया।

दिलचस्प बात है कि जो भी अंग्रेज़ी को भारत की असली राष्ट्रभाषा मानता है, वह किसी-न-किसी रूप मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की प्रगतिशील भूमिका भी मानता है। डी० सी० होम के अनुसार "प्लासी के सतत्तर वर्ष बाद, यानी जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद की वस्तुगत रूप से प्रगतिशील भूमिका का एक चक्कर पूरा हो गया था तब क्या इससे यह पता नही चलता कि समाज मे नये कार्य पूरा करने की उत्सुकता पैदा हो गई थी ?'

जैसे कुछ लोग कहते हैं कि हर देश म समाजवाद अपने ढग से आता है और उसका अपना रूप होता है वैसे ही क्या अजब जो हर देश मे पूँजीवाद भी अपने ढग से आए और उसका अपना रूप हो। भारतीय पूँजीवाद की विशेषताएं क्या हैं ? इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह आरम्भ से ही अंग्रेज़ी बोलता रहा है ! आखिर देश की एकता तो कायम रखनी ही थी, यहाँ सस्कृत राष्ट्रभाषा बन न सकती थी। प्रादेशिक भाषाएँ बोलियाँ थीं नहीं कि वे किसी एक राष्ट्रभाषा के नीचे दब जातीं। द्रविड और सस्कृत भाषा-परिवारो का भेद अलग ! अंग्रेज़ी के सिवा भारतीय पूँजीवाद कौन-सी भाषा बोलता ? इसलिए जिन लोगों ने लार्ड मैकाले के लिए रास्ता साफ किया, जिन्होंने मैकाले

की भाषानीति का समर्थन किया, वे सब प्रगतिशील थे ! जिन्होंने अंग्रेजी का विरोध किया, वे सब दकियानूसी और प्रतिक्रियावादी थे !

संस्कृत और द्रविड़ परिवारों में ऐसी भयानक शत्रुता है तो मलयालम, तेलुगु आदि भाषाओं में संस्कृत के इतने शब्द कैसे पहुँच गए ? द्रविड़ देश के शंकराचार्य ने संस्कृत में अपने विचार क्यों प्रकट किए ? क्या उस समय तक कोई द्रविड़ भाषा उत्पन्न ही न हुई थी ? वह तमिल कहाँ थी जो प्राचीनता में समकक्ष कही जाती है ?

वास्तव में यहाँ तमिल भी थी, अनेक द्रविड़ और गैर द्रविड़ भाषाएँ भी थीं। फिर भी शिक्षितजन संस्कृत का व्यवहार करते थे क्योंकि सामन्ती व्यवस्था के बावजूद, डी० सी० होम सम्प्रदाय की अपेक्षा उनमें राष्ट्रीयता का बोध ज्यादा था।

जनता के दृष्टिकोण से न सोचने पर आज के गुमराह प्रगतिशील विचारक को पूँजीवाद और समाजवाद दोनों के विकास के लिए अंग्रेजी आवश्यक दिखाई देती है।

श्री मोहनकुमार मंगलम ने 'भारत का भाषा-संकट' नामक पुस्तक में लिखा है, "हम यह याद किये बिना नहीं रह सकते कि महान् राजा राममोहन राय उस दिन का स्वप्न देखते थे, जब भारत की भाषाएँ रंगमंच से हट जाएँगी और अंग्रेजी यहाँ की करोड़ों जनता की सामान्य भाषा हो जाएगी।" (पृ० ४)

लार्ड मैकाले और इन महान् समाज सुधारकों का सम्बन्ध इस प्रकार है, "इस तरह इन प्रारम्भिक समाज सुधारकों ने भी अंग्रेजी को उठाने और भारतीय भाषाओं का विकास रोकने में लार्ड मैकाले के प्रयत्न में मदद दी।" (पृ० ५)

भारत की भाषाओं और संस्कृति की हालत उस समय क्या थी ? "भारत और पूर्व की संस्कृति अधिक प्राचीन थी परन्तु इस समय वह ठहराव की हालत में (स्टग्नैन्ट) थी। वह पश्चिम के शक्तिशाली सांस्कृतिक उभार के सम्पर्क में आई।"

भले ही शेली, मैथ्यू आर्नल्ड, येट्स आदि लेखक भारतीय संस्कृति से प्रभावित रहे हों, श्री मोहनकुमार मंगलम के लिए यहाँ की संस्कृति गतिरुद्ध ही थी। इसलिए आज राजभाषा के पद के लिए तमिल को योग्य बनाना उन्हें हिमालय पहाड़ उठाने जैसा लगता है। (उप० पृ० ६८)

होम और मोहन कुमारमंगलम दोनों का मत है कि भारत में संस्कृत के बाद कोई भी सम्पर्क भाषा न थी। इसलिए अंग्रेजी सम्पर्क भाषा के रूप में स्वाधीनता-प्राप्ति के पहले भी जरूरी थी और आज भी जरूरी है। भारतीय इतिहास के ये विशेषज्ञ भूल जाते हैं कि अंग्रेजों का राज कायम होने से पहले यहाँ सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी का प्रचार और प्रसार सर्वत्र था। इसीलिए अंग्रेजों ने अपने अफसरों के लिए हिन्दुस्तानी का ज्ञान अनिवार्य कर दिया था।

दिल्ली के असिस्टेंट रेजिडेंट मेटकाफ ने २६ अगस्त, १८०६ को हिन्दुस्तानी

ने अपने शिक्षक गिलक्रिस्ट के नाम एक पत्र मे लिखा था, "भारत के जिस भाग मे भी मुझे काम करना पड़ा है, कलकत्ता से लेकर लाहौर तक, कुमाऊँ के पहाड़ो से नमदा तक, अफगानो, मराठो, राजपूतो, जाटो, सिखो और उन प्रदेशो के सभी कबीलो मे जहाँ मैंने यात्रा की है, मैंने उस भाषा का आम व्यवहार देखा है जिसकी शिक्षा आपने मुझे दी थी। अपने अनुभव से और दूसरो से सुनी हुई बातों के बल पर मैं कन्याकुमारी से कश्मीर तक या आवा से सिंधु के मुहाने तक इस विश्वास से यात्रा करने की हिम्मत कर सकता हूँ कि मुझे हर जगह ऐसे लोग मिल जाएँग जो हिन्दुस्तानी बोल लेते होगे।" (जे० बी० गिलक्रिस्ट, ए वार्कबुलरी, हिन्दुस्तानी एण्ड इंग्लिश, इंग्लिश एण्ड हिन्दुस्तानी, एडिनबरा मे उद्धत)

राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए मेमोरेंडम पेश किया, होम-सम्प्रदाय को यह तो दिखाई देता है लेकिन जिस भाषा को कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत की करोड़ों जनता अपनी सम्पर्क भाषा बना रही थी, वह उन्हें बहुत आँखें गडाकर देखने पर भी नही दिखाई देती।

गाधीजी न लार्ड मैकाले के गोत्र मे थे, न राजा राममोहन राय के। उन्होंने सन् '२० मे लिखा था, "हम अपने विचार मे अपने राष्ट्रीय जीवन मे प्रादेशिक भाषाओ (वर्नाक्युलर्स) को उनका उचित स्थान दे रहे हैं। भाग्य राजा राममोहन राय की इस भविष्यवाणी का साथ नही दे रहा कि भारत एक दिन अंग्रेजी भाषी देश हो जाएगा। लेकिन उस महान् समाज-सुधारक का भूत अब भी कुछ लोगो पर सवार है। कुछ प्रसिद्ध आदमी बहुत जल्दी यह फैसला दे देते हैं कि राष्ट्र की सम्पर्क भाषा अंग्रेजी होगी।" (थॉट्स ऑन नेशनल लेंग्वेज, पृ० १७)

गाधीजी का सम्बन्ध भी भारतीय पूँजीवाद के विकास से रहा है। उनके स्वदेशी आन्दोलन म भारतीय पूँजीपतियो को अपने उद्योग-धन्धे विकसित करने मे सहायता मिली। बिड़ला जैसे उद्योगपति गाधीजी के नजदीकी लोगो मे थे। होम महाशय को सन् बीस के बाद का पूँजीवादी विकास नही दिखाई देता क्योंकि तब अंग्रेजी का विरोध और भारतीय भाषाओ का समर्थन होने लगा था।

गाधीजी को जरूर मैकाले-भक्तो से बराबर साबका पड़ा होगा। ये लोग सीधे मैकाले का नाम न लेकर राजा राममोहन राय की दुहाई देते रहे होगे। इसीलिए राममोहन राय का नाम अक्सर उनके लेखो मे आता है। सन् २१ मे उन्होंने इस बात पर दुःख प्रकट किया था कि अंग्रेजी ने प्रान्तीय भाषाओ की जगह ले ली है। उन्होंने कहा था कि राजा राममोहन राय और भी बड़े समाज-सुधारक होते यदि उन्हें अंग्रेजी मे सोचने और उसी मे अपने विचार प्रकट करने की अस्वाभाविक क्रिया न करनी पड़ती। (उप० पृ० २०१)

अंग्रेजो ने आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, दक्षिणी अफ्रीका, उत्तरी अमरीका आदि

भरसक वहाँ की भाषाओं का नाश किया। लाखों नीग्रोजन अपनी भाषाएँ छोड़कर—गुलाम बनाए जाकर—अंग्रेज़ी-भाषी हो गए। भारतीय जनता ने १८५७ में अंग्रेजों को इस जन-घाती, भाषा घाती नीति पर चलने का मज़ा चखा दिया। सन् १८५७ से पहले भी महाराष्ट्र के शिक्षा-शास्त्रियों ने जमकर मैकाले की भाषा नीति का विरोध किया। वहाँ के समाज-सुधारक डी० सी० होम एण्ड कम्पनी को नहीं दिखाई देते। 'दियें लोभ चसमा चखनि लघु पुनि बड़ो दिखाय।" अंग्रेजियत के चश्मे से अंग्रेज़ी परस्त तो बहुत बड़े समाज-सुधारक मालूम होते हैं, अंग्रेज़ी के विरोधी इतने छोटे हो जाते हैं कि उनके अस्तित्व का उल्लेख भी आवश्यक नहीं होता।

गांधीजी ने राजा राममोहन राय के साथ लोकमान्य तिलक का नाम भी लिया था और कहा था कि यदि उनकी शिक्षा-दीक्षा कम अस्वाभाविक व्यवस्था में हुई होती तो जनता पर उनका प्रभाव और भी गहरा पड़ा होता।

लोकमान्य तिलक मराठी के समर्थ लेखक थे। वह भारतीय भाषाओं का स्थान अंग्रेज़ी को देने के पक्ष में नहीं थे। इसके अलावा राजा राममोहन राय के विपरीत वह हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानते थे। कानपुर में जनता ने उनका स्वागत किया तो उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि वह हिन्दी में भाषण नहीं कर सकते। "यद्यपि मैं उन लोगों में से हूँ जो चाहते हैं और जिनका विचार है कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है। मैं हिन्दी समझ सकता हूँ और टूटी फूटी बोल भी सकता हूँ, व्याख्यान नहीं दे सकता।" ('सरस्वती', फरवरी, १९१७)

इस विचार को अमली रूप देने के लिए उन्होंने 'केसरी' का एक हिस्सा हिन्दी में प्रकाशित करना शुरू कर दिया था।

लोकमान्य तिलक जैसे समाज सुधारक होम-जैसे अंग्रेज़ी प्रेमियों की दृष्टि से ओझल रहते हैं।

स्वाधीनता प्राप्ति से साल भर पहले गांधीजी ने उस दिमागी गुलामी की निन्दा की थी जो अंग्रेज़ी को अपनी राजभाषा बनाने के लिए नेताओं को मजबूर करती है। सोवियत संघ की मिसाल देते हुए उन्होंने लिखा था, "रूस ने अपनी सारी वैज्ञानिक प्रगति अंग्रेज़ी के बिना ही की है। यह हमारी दिमागी गुलामी है जो हम कहते हैं कि अंग्रेज़ी के बिना काम नहीं चल सकता। मैं इस पराजयवादी मत को कभी स्वीकार नहीं कर सकता।" (उप० पृ० २०१)

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद गांधीजी ने २१ सितम्बर, १९४७ के 'हरिजन' में 'दिमागी काहिली' की निन्दा की जिससे प्रेरित होकर अफसर और नेता कहते थे कि शिक्षा और शासन में अंग्रेज़ी ही चलेगी।

गांधीजी ने अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ से लेकर भारत के स्वाधीन होने के बाद तक, अपने जीवन की आखिरी घड़ियों तक अंग्रेज़ी का विरोध किया, अंग्रेज़ी के ऊपर निर्भर रहने की आदत को राष्ट्र के लिए हानिकर

बताया, अंग्रेजी की हिमायत को राष्ट्रीय चरित्र के लिए घातक बताया। जो लोग अंग्रेजी कायम रखकर भाषा-समस्या का समाधान खोजते रहे हैं, उनमे राष्ट्रीय आत्मसम्मान की कमी है।

राष्ट्रभाषा की समस्या राष्ट्रीय चेतना के आधार पर ही हल हो सकती है। जो लोग भाषा-समस्या को साम्राज्य-विरोधी संघर्ष के सन्दर्भ से अलग हटाकर हल करना चाहते हैं, वे समस्या को बराबर उलझाते जाएँगे, उसे सुलझाना उनके लिए सम्भव न होगा। यह गांधीजी का दूसरा सूत्र हुआ।

गांधीजी का तीसरा सूत्र है—भारतीय जनता की असली राष्ट्रभाषा हिन्दी है।

यदि राजनीतिज्ञ जनता के व्यवहार को देखें, इस बात को समझें कि अंग्रेजी न जाननेवाले साधारण जनो को भी परस्पर सम्पर्क के लिए एक सामान्य भाषा की जरूरत होती है, तो उन्हें यह दिखाई देने लगे कि जनता के अन्तर्प्रादेशिक सम्पर्क की भाषा कौन-सी है। महाराष्ट्र-गुजरात पजाब के लोग आपस मे हिन्दी को सम्पर्क भाषा के तौर पर इस्तेमाल करते हैं, इसे बहुत से लोग मानते हैं। सवाल है दक्षिण भारत का। क्या वहाँ के साधारण लोग भी हिन्दी को सम्पर्क भाषा के रूप मे अपनाते हैं?

गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका के अपने इस अनुभव का उल्लेख किया था कि वहाँ तमिल और तेलुगु बोलनेवाले लोग परस्पर सम्पर्क के लिए हिन्दी काम मे लाते हैं। जो कार्य वे दक्षिण अफ्रीका मे करते थे, उसे वे दक्षिण भारत मे भी अवश्य करते रहे होंगे। वास्तव मे तमिल-तेलुगु-भाषियो को उत्तर भारत से सम्पर्क कायम करने के लिए ही हिन्दी की जरूरत नही होती, उन्हे आपस मे सम्पर्क-भाषा के लिए भी जरूरत हिन्दी की होती है।

एक मित्र ने अडमान से मुझे वहाँ की भाषा-स्थिति के बारे मे यह लिखा है, "अधिकतर यहाँ बँगला, तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम बोली जाती है। आपस में व्यवहार की भाषा हिन्दी है जो 'हम बोलता है, आप करना माँगता है' पद्धति से बोली जाती है। हिन्दी ही राष्ट्रभाषा है यहाँ स्वत सिद्ध हो जाता है। तमिल तेलुगु से हिन्दी मे ही बात कर पाता है। इसी प्रकार अन्य भाषा-भाषी।"

दक्षिण भारत मे गांधीजी का अनुभव ऐसा ही था, "यह कहना सही नहीं है कि मद्रास मे अंग्रेजी के बिना काम नही चलता। मैंने अपने सारे कामो के लिए वहाँ सफलतापूर्वक हिन्दी का व्यवहार किया है। मैंने रेल मे मद्रासी मुसाफिरों को दूसरो से हिन्दी मे बातें करते सुना है।" (उप० पृ० ६)

सी० एफ० एण्ड्रूज का अनुभव भी यही था। उनकी मातृभाषा अंग्रेजी थी लेकिन उन्हें हिन्दी बोलने मे उतना कष्ट न होता था जितना राज्यसभा या लोकसभा के कुछ भारतीय सदस्यों को। 'द टू इंडिया (१६३६) पुस्तक मे उन्होंने लिखा था, "कल एक व्यक्ति मुझसे मिलने आया था, उससे जब मैंने

अंग्रेजी में बातचीत करने की कोशिश की तो उसने कहा, 'कृपा करके हिन्दुस्तानी में बातचीत कीजिए।' और जब मैं उस भाषा में बोला तो वह मेरी बात आसानी से समझ गया।"

राजनीतिज्ञों को उत्तर-दक्षिण में सम्पर्क के लिए नई भाषा गढ़ना नहीं है, वह भाषा जनता में पहले से प्रचलित है, उसे केवल सरकारी स्तर पर सम्पर्क-भाषा के रूप में स्वीकार करना है। जहाँ तक बंगाल का सम्बन्ध है, वहाँ की भाषा हिन्दी के बहुत ही नजदीक है। इस नजदीकीपन के अलावा कलकत्ता की लगभग आधी आबादी हिन्दुस्तानी है। इस आबादी में ज्यादातर लोग मेहनत-मजूरी करके गुजर करनेवाले हैं। उनके मालिकों का उनसे हिन्दी में ही बात करनी होती है। गांधीजी ने लिखा था कि "उत्तर भारत का जो भैया बम्बई के सेठ के यहाँ दरबानगीरी करता है, वह गुजराती नहीं बोलता, उसका मालिक सेठ ही मजबूर होकर उससे टूटी-फूटी हिन्दी में बातचीत करता है" (उप० पृ० ६)। यही स्थिति बंगाल की है। वहाँ न जाने कितने 'हिन्दुस्तानी' दरबान का काम करते रहे हैं। उनके मालिक उनसे टूटी-फूटी हिन्दी में ही बातें करने को बाध्य हुए हैं।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने पहले हिन्दी इसी तरह के लोगों से सीखी थी। "कलकत्ता में अपने बचपन में ही लेखक ने हाट बाजारों में तथा घर के बिहारी नौकरों से बंगाल में प्रयुक्त 'बाजारू हिन्दी' कहलाने योग्य भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया था।' (भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० २४५)। यद्यपि डॉ० सुनीतिकुमार भाषा को धर्म से और धर्म को संस्कृति से जोड़कर यह नतीजा निकालते हैं कि 'हिन्दी के संस्कृत उपादान को क्रमशः कम करने की प्रवृत्ति भारतीय परम्परा एवं भारतीय संस्कृति पर प्रत्यक्ष आघात-सा है" (उप० पृ० २३८), फिर भी वह मानते हैं कि "हिन्दी (हिन्दुस्तानी) के साढ़े चौबीस करोड़ बोलने या समझनेवालों में से लगभग बीस करोड़ हिन्दुस्तानी का यही सहज रूप बोलते हैं' (उप० पृ० २०६), मौलवी, मुंशी और मुल्ला लोग "फारसी भरी उर्दू का निर्माण एवं वर्द्धन करते रहे। उसी प्रकार पंडित लोग तथा अन्य लेखक लोग संस्कृत भरी हिन्दी का निर्माण करते रहे। परन्तु साधारण जनों का हिन्दुस्तानी के विषय में एक ही रुख रहा, इनमें पश्चिमी पंजाब से लगाकर पूर्वी बंगाल तक के हिन्दू मुसलमान सभी थे। वे अब भी, साधारण जीवन में अपने से भिन्न भाषावालों से बातचीत करना चाहते हैं तो प्रचलित हिन्दुस्थानी का ही व्यवहार करते हैं।" (उप० पृ० २०६)

पश्चिमी पंजाब से पूर्वी बंगाल तक, जैसे कश्मीर से कन्याकुमारी तक, जन-सम्पर्क की भाषा बोलचाल की हिन्दी है। व्याकरण के अनुसार शुद्ध रूप में, संस्कृत शब्दों से सजाकर जनता इसे नहीं बोलती। उसके स्थानीय भेद हैं जैसे ब्रिटेन, अमरीका और आस्ट्रेलिया की अंग्रेजी में भेद हैं। बोलचाल की हिन्दी बंगाल में भी समझी जाती है और जनता के व्यवहार में आती है। फिर भी

बगाल मे हिन्दी का तीव्र विरोध है, सभी लोगो मे नही किन्तु मध्यवर्ग और पढे-लिखे लोगो मे है इसमे कोई सन्देह नही।

गाधीजी ने सन्' २१ मे 'यग इडिया' मे लिखा था कि बँगाल के लोग अपने पूर्वाग्रह के कारण भारत की और कोई भाषा सीखना नही चाहते (थॉट्स ऑन नेशनल लैंग्वेज, पृ० १६)। हिन्दी-प्रचार के काम मे बगाली विद्वानो ने महत्वपूर्ण योग दिया है। हिन्दी के समर्थको मे डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी जैसे भाषाविद् रहे हैं। उन्होने भारतीय भाषाओ के लिए—विशेषकर बँगला और हिन्दी के लिए—बहुत काम किया है। आज वह हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओ के विरुद्ध अंग्रेजी का समर्थन करते हैं, इससे उनका पहले किया हुआ काम निरर्थक नही हो जाता। उसके लिए कृतज्ञता प्रकट करना धर्म है। उनमे पहले बकिमचन्द्र चटर्जी के समय मे 'बगदर्शन' पत्र ने लिखा था, "हिन्दी भाषार साहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्य जाहारा ऐक्यबन्धन सस्थापन करिते पारिबेन ताहाराई प्रकृत भारतबन्धु नामे अभिहित हइबार योग्य।" (बालमुकुन्द गुप्त द्वारा उद्धृत, बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली, कलकत्ता, पृ० १५६)

फिर भी बगाल मे ऐसे बुद्धिजीवी बहुतायत से हैं जो किसी भी भारतीय भाषा को सीखना अपने लिए हेठी की बात समझते हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ही लिखा है, "कोई भी महाराष्ट्रीय या बगाली व्यक्ति इस बात का अनुभव नही करता कि अपनी मातृभाषा की अपेक्षा नागरी हिन्दी या उर्दू के माध्यम द्वारा उच्चतर सस्कृति की प्राप्ति हो सकती है, बाजारू हिन्दी का तो प्रश्न ही दूर है।" (भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० २१५)

इसी तरह तमिलनाडु के श्री मोहनकुमार मगलम ने यह राय जाहिर की है कि "स्वाधीनता-प्राप्ति के समय हिन्दी शायद सबसे कम विकसित भाषा थी।" (भारत का भाषा-सकट, पृ० ३१)। वाक्य मे 'शायद' उन्होंने शालीनतावश लगा दिया है, वरना हिन्दी को पिछडी हुई भाषा कहना प्रत्येक भारतवासी का सवैधानिक अधिकार है।

तमिलनाडु और बगाल के अंग्रेजी प्रेमी बुद्धिजीवियो की एक विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति ध्यान में रखनी चाहिए। किसी समय असम, उडीसा, बिहार आदि प्रदेश सयुक्त बगाल के अन्तर्गत थे। इसी प्रकार केरल और आध्र तमिलनाडु के साथ जुडे हुए थे। इन बडे बडे प्रान्तो मे तमिल और बगाली बुद्धिजीवी अंग्रेजी के कारण सरकारी नौकरियाँ पाते थे, अफसर बनकर दूसरो पर हुकूमत करते थे, वकील, डॉक्टर, इजीनियर आदि के पेशो मे इन्ही का बोलबाला था। मद्रास प्रेसीडेन्सी टूट गई, रह गया तमिलनाडु। उडीसा, असम और बिहार अलग हो गए, रह गया विभाजित बगाल। असम मे बगालियो और असमियो के बीच दगे हुए। औरो कारणो के अलावा दगो के पीछे दोनों जातियो के बीच पुराना तनाव भी काम कर रहा था। तमिलनाडु और आध्र के शिक्षितजनो मे इससे

कार्यवाही की भाषा हिन्दी होनी चाहिए।

यह बात देखने मे बहुत साधारण मालूम होती है लेकिन वास्तव मे है सबसे महत्वपूर्ण। भारत की राजनीतिक पार्टियाँ भाषा-समस्या पर प्रस्ताव करके दूसरो को सिखाती रही हैं कि उन्हे क्या करना चाहिए। वे स्वय अंग्रेजी हटाने के लिए क्या करने जा रही हैं, इसकी सूचना वे दूसरो को कम देती हैं। आप कल्पना कीजिए, यदि काग्रेस का सारा राजकाज हिन्दी मे हुआ करता तो क्या हुकूमत की बागडोर सँभालते ही अंग्रेज़ी हटाने मे काग्रेसी नेताओ को साल-भर से ज्यादा देर लगती ? ये कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट नेता जो पहले काग्रेस के ही सदस्य थे, स्वाधीनता-प्राप्ति के दो साल पहले तक जो काग्रेस मे थे, क्या उससे अलग होने पर अपने यहाँ भी हिन्दी का व्यवहार न करते ? यदि ये विभिन्न पार्टियो के नेता अंग्रेज़ी के बिना अपना काम चलाने के आदी होते, तो क्या सविधान सभा मे हिन्दी अंग्रेजी को लेकर इतनी बहस होती ? क्या सविधान सभा हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने के बाद पन्द्रह साल तक अंग्रेज़ी को चालू रखने का नियम बनाती ? क्या पन्द्रह साल बीतने से पहले अंग्रेज़ी को आगे भी सह-राजभाषा—अमल मे एकमात्र केन्द्रीय राजभाषा—बनाए रखने का कानून पास होता ? क्या पन्द्रह साल बीतने पर अंग्रेजी को अनिश्चित काल तक कायम रखने की नौबत आती ?

इससे आप समझ लीजिए कि काग्रेस के अन्दर से अंग्रेजी हटाने का सघर्ष कितना महत्वपूर्ण था और यह सघर्ष चलाकर गांधीजी ने कितनी बड़ी वीरता और बुद्धिमत्ता का परिचय दिया था। उन्हें अपने सघर्ष मे सफलता नही मिली, इससे यह भी समझ लीजिए कि अंग्रेज़ी के हिमायती इस देश मे कितने शक्तिशाली हैं। गाधीजी को हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायवाद खत्म करने मे सफलता नही मिली, उन्हे देश का विभाजन रोकने मे सफलता नही मिली, उन्हें सरकार और काग्रेस के अन्दर मे अंग्रेज़ी हटाने मे सफलता नही मिली। इन तमाम असफलताओ को लिए हुए वह भारतीय प्रतिक्रियावाद की गोली खाकर ससार से चले गए। लेकिन रास्ता वही है जिस पर वह चले थे और उस रास्ते पर चलकर भारत एक दिन अवश्य विजयी होगा।

दिसम्बर, १९१६। लखनऊ मे काग्रेस का इकत्तीसवाँ अधिवेशन। गाधीजी हिन्दी मे बोलना शुरू करते हैं। 'इग्लिश प्लीज़' की आवाजें आती हैं। वह सदस्यो से कहते हैं—साल-भर मे हिन्दी अवश्य सीख लीजिए। अगले साल की काग्रेस मे अंग्रेज़ी न चलनी चाहिए।

१९१८ · वह कहते हैं, "हमारी राष्ट्रीय सस्थाओ मे हिन्दी का ही व्यवहार होना चाहिए। काग्रेस के नेता और कार्यकर्ता इस दिशा मे बहुत-कुछ कर सकते हैं और उन्हे करना चाहिए। मैं चाहता हूँ कि यह सम्मेलन (हिन्दी साहित्य-सम्मेलन) काग्रेस के दूसरे अधिवेशन के समय उसके सामने इस आशय का प्रस्ताव रखे।" (यंग्, पृ० १२)

१९२१ वह बंगाल और दक्षिण के लोगों से खास तौर से कहते हैं, "मैं आशा करता हूँ कि बंगाली और द्रविड़ लोग दूसरी कांग्रेस में (यानी कांग्रेस के अगले अधिवेशन में) काम लायक हिन्दी सीखकर आएँगे। हमारी यह महान् सभा जनता की शिक्षक तब तक नहीं बन सकती जब तक वह ऐसी भाषा में न बोले, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा जनता समझती हो।" (उप०, पृ० १६)

१९२५ . कांग्रेस का नया विधान धारा ३३—"जहाँ तक सम्भव होगा कांग्रेस की कार्यवाही हिन्दुस्तानी में होगी। यदि कोई हिन्दुस्तानी न बोल सके या जरूरत पड़े तो अंग्रेजी तथा प्रान्तीय भाषा का व्यवहार भी किया जा सकेगा।" इस प्रस्ताव में अंग्रेजी-प्रेमियों पर लगड़ी पाबन्दी न लगाई गई थी, फिर भी जो लोग हिन्दी-हिन्दुस्तानी का व्यवहार करना चाहें, उनके लिए छूट थी।

१९२८ : गांधीजी ने श्री विजयराघवाचारी के इस कथन का उल्लेख किया कि "हम लोग उत्सुकता से उस दिन की राह देख रहे हैं जब हम हिन्दुस्तानी पहले होंगे, मद्रासी या बंगाली बाद को। वह दिन जल्दी आएगा यदि मद्रासी, जो इस मामले में सबसे ज्यादा गाफिल हैं, बड़ी तादाद में हिन्दी सीखने लगें।" इसके बाद गांधीजी ने 'यंग इंडिया' में लिखा, "दक्षिण के लोगों को हिन्दी-प्रचार सभा के कारण हिन्दी सीखने के लिए हर तरह की सुविधा है। यदि भारत के लिए हमारे हृदय में वैसे ही सच्चा प्यार है जैसे अपने प्रान्तों के लिए है तो हम अवश्य ही जल्दी सीख लेंगे और हमें यह अपमानजनक दृश्य न देखना पड़ेगा कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की कार्यवाही—पूरी-की-पूरी नहीं तो अधिकांश—अंग्रेजी में हो रही है।" (उप०, पृ० २६)

१९३१ : "दक्षिण के लोग वादा कर चुके हैं कि अगले साल की कांग्रेस के लिए वे ऐसे प्रतिनिधि भेजेंगे जो हिन्दी में बोलेंगे और हिन्दी समझेंगे। हम अस्वाभाविक परिस्थितियों में न रहते होते तो दक्षिण के लोगों को हिन्दी सीखना बोझ न मालूम होता, व्यर्थ की बात तो और भी नहीं।" (उप०, पृ० ३०)

१९३७ : मद्रास में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के मंच से उन्होंने यह प्रस्ताव पेश किया कि सम्मेलन कांग्रेस से हिन्दी का व्यवहार करने की प्रार्थना करता है। उन्होंने प्रस्ताव पर बोलते हुए कहा, "हम राष्ट्रभाषा हिन्दी के समर्थन में प्रस्ताव पास करते रहें और कांग्रेस पुरानी लीक पर चलती रहे तो हमारे काम की रफ्तार बहुत धीमी होगी। इस प्रस्ताव में कांग्रेस से अपील की गई है कि वह अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप में अंग्रेजी का बहिष्कार करे। इसके अनुसार अंग्रेजी को न तो प्रान्तीय भाषा, न हिन्दी की जगह देनी चाहिए।" (उप०, पृ० ४२)

अन्त में अपने और अन्य सहयोगियों के सुदीर्घ प्रयत्नों का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम चरण में लिखा।

गांधीजी

ने अपने कानपुर-अधिवेशन के प्रसिद्ध प्रस्ताव में इस अखिल भारतीय भाषा को हिन्दुस्तानी कहा। तब से कम से-कम कहने-भर को हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा हो गई है। कहने-भर को इसलिए कि कांग्रेसियों ने भी उस प्रस्ताव पर उस तरह अमल नहीं किया जैसे उन्हें करना चाहिए था। १६२० में जमकर यह कोशिश शुरू हुई कि आम जनता की राजनीतिक शिक्षा के लिए भारतीय भाषाओं का महत्व पहचाना जाय, साथ ही एक अखिल भारतीय सामान्य भाषा का महत्व पहचाना जाय, जिसे राजनीति में प्रबुद्ध भारत आसानी से बोल सके और जिसे विभिन्न प्रान्तों के सदस्य कांग्रेस के अखिल भारतीय अधिवेशनों में समझ सकें। मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि बहुत से कांग्रेसी जनों ने उस प्रस्ताव पर अमल नहीं किया। और इसलिए यह दृश्य उपस्थित होता है जो मेरी समझ में शर्मनाक है कि कांग्रेसमैन अंग्रेज़ी बोलने की ज़िद करते हैं और दूसरों को भी अपनी खातिर अंग्रेज़ी बोलने पर मजबूर करते हैं। अंग्रेज़ी का जादू अभी खत्म नहीं हुआ। उस जादू के असर से हम देश को अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने से रोकते हैं। जनता के लिए हमारा प्रेम एकदम सतही है यदि हम हिन्दुस्तानी सीखने के लिए उतने महीने भी नहीं देना चाहते जितने साल हम अंग्रेज़ी सीखने में लगाते हैं।" (उप०, पृ० ६२)

भारत स्वाधीन हुआ। गांधीजी ने चेतावनी दी कि "सरकार और सेक्रेटेरियट सावधान न रहे तो सम्भव है कि अंग्रेज़ी हिन्दुस्तानी की जगह ले ले। इससे भारत की करोड़ों जनता का बेहद नुक्सान होगा जो अंग्रेज़ी समझ न पाएगी।" (उप०, पृ० १६८)। उन्होंने प्रान्तीय भाषाओं को पुनर्जीवित करने की सलाह दी, साथ ही यह सुझाव रखा कि प्रान्तीय सरकारें ऐसे कर्मचारी रखें जो प्रान्तीय भाषा के साथ अन्तर्प्रान्तीय भाषा हिन्दुस्तानी भी जानते हों।

यह सब न हुआ क्योंकि जिन लोगों के हाथ में शासन की बागडोर थी, वे अपने राजनीतिक संगठन में अंग्रेज़ी का व्यवहार करते थे। जो विरोधी दल संसद् में भारतीय लोकतन्त्र के संचालन में शामिल हुए, वे भी अखिल भारतीय सम्पर्क के लिए अंग्रेज़ी का ही व्यवहार करते थे।

इसलिए जो लोग चाहते हैं कि स्वाधीन भारत में अंग्रेज़ी का प्रभुत्व खत्म हो, उन्हें पहला कदम यह उठाना चाहिए कि भारत के राजनीतिक दलों के केन्द्रीय दफ्तरों से अंग्रेज़ी निकालें, इनके अखिल भारतीय अधिवेशनों में अंग्रेज़ी का व्यवहार बन्द कराएँ, उनका अखिल भारतीय प्रचार कार्य अंग्रेज़ी के माध्यम से बन्द कराएँ। सबसे मुश्किल यह पहला कदम ही है। यदि एक बार भारतीय जनता यह कदम उठाने के लिए पार्टियों के नेताओं को बाध्य करे तो दूसरे क़दम उठाना बहुत आसान हो जाएगा।

पहले पार्टियों के अन्दर से अंग्रेज़ी की जड़ काटिए।

फिर लोकसभा में अपने प्रतिनिधियों को भारतीय भाषाओं में बोलने—और अंग्रेज़ी छोड़ने—पर मजबूर कीजिए।

इसके बाद नौकरशाही पर दबाव डालिए कि वे दफ्तरों से अंग्रेजी निकालें। जब नेता लोग अंग्रेजी का बहिष्कार कर देंगे तब मन्त्रीजी के सामने कोई फाइल अंग्रेजी में न आएगी। अफसर लोग लोकसभा का अनुसरण करेंगे। इस समय विश्वविद्यालय अखिल भारतीय सेवाओं से नत्थी हैं। शिक्षा का एक उद्देश्य और मुख्य उद्देश्य अफसर तैयार करना है। जब आई० ए० एस० में अंग्रेजी का चलन न होगा, तब विश्वविद्यालयों में भी अंग्रेजी का प्रभुत्व न रहेगा।

पार्टी—लोकसभा—नौकरशाही—युनिवर्सिटियाँ, इस क्रम से अंग्रेजी के क़िलों पर हमला करना चाहिए।

गांधीजी की भाषा-नीति का पाँचवाँ सूत्र है—भारत का विकास और राष्ट्रीय एकता की रक्षा प्रादेशिक भाषाओं को दबाकर नहीं, उनके पूर्ण विकास से ही सम्भव है।

गांधीजी ने अपने राजनीतिक जीवन के आरम्भ से ही अंग्रेजी का विरोध किया और प्रान्तीय भाषाओं की हिमायत की। १६०६ में ही उन्होंने प्रान्तीय भाषाओं और राष्ट्रभाषा का सम्बन्ध अच्छी तरह समझ लिया था। उन्होंने लिखा था, "हिन्दुस्तान में आजकल हिन्दू, मुसलमान, पारसी वगैरह 'अपने देश' की बात करने लगे हैं। इस समय मैं इस बात पर राजनीतिक दृष्टि से विचार नहीं कर रहा हूँ। भाषा की दृष्टि से यह जरूरी है कि इसके पहले कि हम अपने देश को अपना कहें, हमारे दिलों में अपनी भाषाओं के लिए प्रेम और आदर पैदा होना चाहिए। ऐसा मालूम होता है कि सारे भारत में लोग अपनी भाषाओं की ओर ध्यान देने लगे हैं। यह प्रसन्नता की बात है।" (उप०, पृ० १-८)

इस लेख में गुजरातियों को अंग्रेजी बोलने पर उन्होंने फटकारा। उन्होंने इस बात पर हर्ष प्रकट किया कि लोग गुजराती, मराठी, बँगला, उर्दू आदि की प्रगति के लिए संस्थाएँ बना रहे हैं।

सन् '१५ में भागलपुर के विद्यार्थियों के सामने भाषण (जिसका उल्लेख पहले हो चुका है) करते हुए उन्होंने मातृभाषा की अवज्ञा करनेवालों की निन्दा की।

सन '२७ में जब हिन्दी प्रचार आन्दोलन शक्तिशाली होने लगा था, उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि "हिन्दी या हिन्दुस्तानी का उद्देश्य यह नहीं है कि वह प्रान्तीय भाषाओं की जगह ले ले। वह अतिरिक्त भाषा होगी और अन्तर्प्रान्तीय सम्पर्क के काम आएगी।" (उप०, पृ० २६)

१६३५ में जब काका कालेलकर ने गांधीजी को बताया कि लोग यह कहते हैं कि हिन्दी प्रचार का उद्देश्य प्रान्तीय भाषाओं का दमन है तब गांधीजी ने साहित्य-सम्मेलन के मंच से घोषित किया, 'मैं कहना बराबर यही रहा हूँ कि प्रान्तीय भाषाओं का जरा भी अहित हम नहीं करना चाहते, उनका दमन या

नाश करना तो दूर की बात है।" (उप०, पृ० ३८)

गाधीजी स्वय गुजराती मे श्रेष्ठ लेखक थे। उनकी प्रेरणा से गुजराती बुद्धिजीवियो ने अग्रेजी का मोह छोडा और मातृभाषा की सेवा की। गुजराती भाषा के सेवक अग्रेजी की गुलामी से मुक्त होने के कारण हिन्दी के समर्थक हुए। हिन्दी भाषी प्रदेशो के नेता, विशेषकर उत्तर प्रदेश (भूतपूर्व सयुक्त प्रान्त) के अधिकाश काग्रेसी और कम्युनिस्ट नेता गाधीजी की तरह मातृभाषा के सेवक नही थे। अग्रेजी का प्रभुत्व कायम रखने मे उनका बहुत हाथ रहा है। गाधीजी स्वय गुजराती के समर्थ लेखक थे, इसलिए वह प्रान्तीय भाषाओ और हिन्दी का सम्बन्ध अच्छी तरह समझते थे।

सन '३६ मे उन्होने बगलोर मे कहा था, "लोगो ने एक हौवा खडा कर रखा है जिसे मैं आप लोगो के दिमाग से निकाल देना चाहता हूँ। क्या हिन्दी की शिक्षा कन्नड को हटाकर दी जाएगी ? क्या यह सम्भावना है कि वह कन्नड की जगह ले ले ? इसके विपरीत मेरा कहना है कि हम जितना ही हिन्दी प्रचार करेंगे उतना ही अपनी मातृभाषाओ के अध्ययन का और सशक्त बनाएँगे, इन भाषाओ की शक्ति और सामर्थ्य को और भी बढा सकेंगे। मैं विभिन्न प्रान्तो मे अपने अनुभव के आधार पर यह कहता हूँ।"(उप०, पृ०५०)

गाधीजी खूब जानते थे कि प्रादेशिक भाषाओं का मुख्य अन्तर्विरोध अग्रेजी से है, न कि हिन्दी से। उन्होने मद्रास मे कहा था, 'अगर अग्रेजी ने जनता की भाषाओ की जगह न ले ली होती तो आज वे अत्यन्त समृद्ध अवस्था मे होती।' (१९३७, पृ० ५२)

गाधीजी की नीति स्पष्ट थी किन्तु काग्रेस के कुछ नेता, विशेषकर उत्तर प्रदेश के नेता, यह कहते थे कि उच्च शिक्षा और शासन व्यवस्था मे अग्रेजी की तरह हिन्दी भी प्रादेशिक भाषाओं की जगह लेगी। इससे अग्रेजी और भारतीय भाषाओ का मुख्य अन्तर्विरोध गौण हो जाता था, और हिन्दी अहिन्दी भाषाओ का नया अन्तर्विरोध सामने आ जाता था। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के जो हिमायती प्रादेशिक भाषाओ के हक मारकर उसे अग्रेजी की जगह देने की बात कहते रहे है, वे हिन्दी के मार्ग मे काँटे बिछाते रहे हैं और इससे लाभ हुआ है अग्रेजी को।

गाधीजी जानते थे कि भारत ऐसा राष्ट्र है जिसमें अनेक भाषाएँ बोली जाती है। वह ब्रिटेन या फ्रास की तरह एक भाषावाला राष्ट्र नही है। इसलिए वह इस पक्ष मे थे कि भाषाओ के आधार पर राज्यो का पुनर्गठन हो जिससे प्रदेशो का राजकाज वहाँ की भाषाओ मे हो सके। गाधीजी के कहने से जातीय इलाको के आधार पर काग्रेस कमेटियो का सगठन किया गया था। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद गाधीजी ने लिखा, 'प्रान्तीय भाषाओ को अपना पूर्ण विकास करना है तो भाषा के आधार पर प्रान्तो का पुनर्गठन आवश्यक है। हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा होगी लेकिन वह प्रान्तीय भाषाओ की जगह न लेगी। वह प्रान्तो मे

शिक्षा का माध्यम न होगी—अंग्रेज़ी शिक्षा का माध्यम हो, इसका सवाल नहीं है। हिन्दुस्तानी का उद्देश्य यह होगा कि वह लोगों को महसूस कराए कि वे भारत के अभिन्न अंग हैं। बाहर के लोग हमें गुजराती, महाराष्ट्री, तमिल आदि कहकर नहीं जानते हैं। उनके लिए हम सब हिन्दुस्तानी हैं। इसलिए हमें सभी विघटनकारी प्रवृत्तियों को दृढ़ता से रोकना चाहिए। इस मुख्य बात को ध्यान में रखते हुए हम मानेंगे कि भाषावार प्रान्त बनाने से शिक्षा और व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा।" (१९४८, उ१०, पृ० २०२)

केन्द्रीय सरकार ने भाषावार प्रान्त बनाने का प्रबल विरोध किया। तमिलनाडु और गुजरात के बड़े पूंजीपति यह नहीं चाहते थे कि उनके विशाल प्रान्त खंडित हों। इनके अंग्रेज़ी अखबारों ने भाषावार प्रान्त-निर्माण का ज़ोरों से विरोध किया। गांधीजी ने कहा था कि भाषावार प्रान्त बनाने से शिक्षा और व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा। गांधीजी की निगाह छोटे व्यापारियों और पूंजीपतियों पर थी जो बड़े प्रान्तों में उदीयमान इजारेदारों से पीड़ित थे। लेकिन दिल्ली की सरकार इन इजारेदारों की बात ज़्यादा सुनती थी, गांधीजी और मध्यम पूंजीपतियों की कम। यही कारण है कि उसने प्राणपन से महाराष्ट्र और आंध्र के नये प्रान्त बनाने के आन्दोलन का विरोध किया।

गांधीजी के नाम पर जनता से वोट लेनेवाला, गांधीवाद विरोधी दिल्ली का सरकारी कांग्रेस-नेतृत्व भाषावार प्रान्त-निर्माण का विरोध करके हिन्दी का अहित और अंग्रेज़ी का हित कर रहा था। कुछ अहिन्दी-भाषियों में यह भय उत्पन्न हुआ कि उनकी भाषाओं का दमन किया जाएगा और उन पर हिन्दी लादी जाएगी। इधर दिल्ली सरकार के नेता जानते थे कि अंग्रेज़ी न आज जानेवाली है न कल। फिर भी वे बराबर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का दावा करते जाते थे क्योंकि इसके बिना विशाल हिन्दी-भाषी क्षेत्र से उन्हें वोट न मिल सकते थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषावार प्रान्त-निर्माण का विरोध करने में दिल्ली सरकार ने बड़े पूंजीपतियों के दबाव में आकर अपनी नीति निर्धारित की। इन बड़े पूंजीपतियों की सांठ गांठ ब्रिटेन के इजारेदारों से भी थी। दिल्ली सरकार भारत के बड़े पूंजीपतियों के अलावा जब-तब ब्रिटेन के इजारेदारों का रुख देखकर भी काम करती थी। ब्रिटिश पूंजीपति चाहते थे कि भारत में अंग्रेज़ी रहे। इससे एक तो भारत सांस्कृतिक रूप से ब्रिटेन के साथ नत्थी रहता है, दूसरे अंग्रेज़ी किताबों की बिक्री के लिए इतना बड़ा बाज़ार ब्रिटिश प्रकाशकों के हाथ में बना रहता है। इसीलिए जो लोग भाषावार प्रान्त बनाने के विरोधी थे, वे अंग्रेज़ी के बहुत बड़े समर्थक थे। दिल्ली सरकार न तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की दलाल थी, न वह केवल भारत के बड़े पूंजीपतियों की प्रतिनिधि थी। उसने भारत के उद्योगीकरण में, विशेषकर सरकारी उद्योग-धन्धों के निर्माण में, भारत की स्वतन्त्र विदेश-नीति निर्धारित करने में और

समाजवादी देशो से मैत्री-सम्बन्ध कायम करने मे बहुत बडा योग दिया। फिर भी उसने भारत और ब्रिटेन के बडे पूंजीपतियो के हित मे कुछ गलत कदम उठाए।

कुछ प्रगतिशील विचारक भाषावार प्रान्त-निर्माण के पक्ष मे गाधीजी के विचार बडे गर्व से उद्धृत करते हैं किन्तु गाधीजी ने अग्रेजी हटाने के बारे मे जो कुछ कहा था, उसे वे बडे प्रेम से नजरअन्दाज कर देते हैं। ये विचारक उन मध्यवर्गी बुद्धिजीवियो के प्रतिनिधि हैं जो केन्द्र मे अग्रेजी चालू रखकर अखिल भारतीय नौकरियो के उम्मीदवार हैं।

गाधीजी के नाम की दुहाई देकर केन्द्र मे 'फिलहाल' अग्रेजी चलाते रहने की बात करना हास्यास्पद है।

प्रान्तीय भाषाओ के सम्बन्ध मे गाधीजी का यह उदार दृष्टिकोण ध्यान देने योग्य है कि अग्रेजी की जगह जहाँ अन्तर्प्रान्तीय सम्पर्क के लिए लोग हिन्दी न बोल सकें, वहाँ वे प्रान्तीय भाषा का ही व्यवहार करें।

१९४२ मे बनारस विश्वविद्यालय मे गाधीजी ने हिन्दी मे भाषण करते हुए कहा था, 'यहाँ मच पर एक के बाद दूसरा वक्ता आया और मैं अधीरता से राह देखता रहा कि कोई हिन्दी या उर्दू या हिन्दुस्तानी मे, या सस्कृत मे ही भाषण करे, यह न सही तो मराठी मे या और किसी भारतीय भाषा मे बोले। लेकिन मुझे यह सौभाग्य प्राप्त न हुआ। क्यो? इसलिए कि हम गुलाम है और उन्ही की भाषा को छाती से चिपकाये हुए है जिन्होने हमे गुलाम बना रखा है।"

विद्यार्थियो को लक्ष्य करके उन्होने कहा, "ये जरा-जरा-सी बात पर हडताल कर देते हैं, भूख हडताल कर देते हैं। ये राष्ट्रभाषा मे शिक्षा पाने के लिए क्यो नही लडते? मुझे बताया गया है कि आध्र प्रदेश के ढाई सौ विद्यार्थी हैं। उन्हे सर राधाकृष्णन् के पास जाना चाहिए और कहना चाहिए कि विश्व-विद्यालय मे एक आन्ध्र विभाग खोला जाय। वे राष्ट्रभाषा नही सीखना चाहते तो तेलुगु के माध्यम से शिक्षा पाने की मांग करें।" (उप० पृ० ९२-९३)

"राष्ट्रभाषा नही सीखना चाहते तो तेलुगु के माध्यम से शिक्षा पाने की मांग करें", इस सूत्र को आज की परिस्थितियो मे लागू करें तो हम नेताओ से कहेगे कि आप हिन्दी नही बोल सकते तो अपनी मातृभाषा मे भाषण कीजिए। श्री कामराज नाडार इसी नीति का पालन करते हैं और तमिल में बोलते हैं। अनुवाद की व्यवस्था करके उन लोगो की कठिनाई दूर की जा सकती है जो हिन्दी का व्यवहार नही कर सकते या जान बूझकर नही करना चाहते।

गाधीजी झरिया गए। सभा मे हजारो मजदूर थे। गाधीजी का अभिनन्दन अग्रेजी मे किया गया। इस पर उन्होने 'यग इडिया' मे लिखा, 'अधिकाश श्रोता आसानी से हिन्दी समझ लेते और काफी लोग बँगला समझ लेते। उस सब के

पदाधिकारी बंगाली थे। मगर उन्होंने अंग्रेज़ी का व्यवहार मेरे लिए किया तो बिलकुल अनावश्यक था। वे अभिनन्दन (या भाषण) बँगला में लिख सकते थे और मुझे उसका हिन्दी-अनुवाद दे देते। अंग्रेज़ी में भी अनुवाद करके दे सकते थे। लेकिन उतनी बड़ी सभा पर अंग्रेज़ी थोपना उसका अपमान करना था।"

इसके आगे दक्षिण भारत को लक्ष्य करके उन्होंने लिखा, "यह घटना सभाएँ संगठित करनेवालों के लिए हर जगह चेतावनी का काम करे, खास तौर से आन्ध्र, तमिलनाडु, केरल और कर्नाटक के सभा-संयोजकों को सावधान कर दे, यह मैं चाहता हूँ। मैं उनकी कठिनाई समझता हूँ। लेकिन छह साल से उनके बीच हिन्दी-प्रचार सभा जोरों से काम कर रही है। उनके भाषण प्रान्तीय भाषाओं में होने चाहिए और मेरी सुविधा के लिए उनके हिन्दी अनुवाद दे देने चाहिए।" (उप०, पृ० २२-२३)

गांधीजी ने यह सब सन् '२७ में लिखा। तब से अब तक हिन्दी-प्रचार सभा लाखों आदमियों को हिन्दी सिखा चुकी है। फिर भी वे या अन्य अहिन्दी-भाषी राष्ट्रभाषा का व्यवहार न कर सकें या न करना चाहें तो उन्हें अपनी मातृभाषा में बोलना चाहिए और उनके भाषण के अनुवाद की व्यवस्था होनी चाहिए।

२७-२८ जून को इस साल बरेली में साहित्य-सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ, उसके प्रस्ताव में कहा गया है, "केन्द्रीय सरकार और हिन्दी-भाषी राज्य-सरकारों से उत्तर प्रदेश सरकार केवल हिन्दी में सम्पूर्ण पत्र-व्यवहार करे तथा इतर भाषी राज्य सरकारों से पत्र-व्यवहार मूल रूप से हिन्दी में करे और साथ में तत्क्षेत्रीय भाषा में रूपान्तर संलग्न कर दिया करे।" (राष्ट्रभाषा सन्देश, इलाहाबाद, ८ जुलाई, १९६५)

गांधीजी की नीति को वर्तमान परिस्थिति में कैसे अमली रूप दिया जाय, सम्मेलन का सुझाव इसकी बहुत अच्छी मिसाल है। प्रस्ताव में यह नहीं कहा गया कि उत्तर प्रदेश की सरकार अन्य प्रदेशों की सरकार से केवल हिन्दी में पत्र-व्यवहार करे, या हिन्दी के साथ अंग्रेज़ी में अनुवाद भेजे, प्रस्ताव में अंग्रेज़ी के मुकाबले प्रान्तीय भाषाओं को ऊँचा आसन दिया गया है। इस प्रकार अनुवाद की व्यवस्था करके अन्य प्रदेशों की सुविधा का ध्यान रखते हुए अंग्रेज़ी को हटाया जा सकता है।

गांधीजी ने कहा था कि आन्ध्र के विद्यार्थी राष्ट्रभाषा के माध्यम से शिक्षा पाना नहीं चाहते तो वे तेलुगु में शिक्षा पाने की माँग करें। वे उत्तर प्रदेश के सांस्कृतिक केन्द्र काशी में प्रादेशिक भाषा तेलुगु और हिन्दी को समान अधिकार देने के लिए तैयार थे। पाठक विचार करें, संयुक्त राष्ट्र संघ का काम कैसे चलता है। वह विश्व संस्था है। उसके सेक्रेटेरियट में न जाने कितनी भाषाओं में बोलनेवालों की बातों का हिसाब-किताब रखना पड़ता है। सेक्रेटेरियट में

दुनिया की सभी भाषाओं में कार्रवाई नहीं दर्ज की जाती; न संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अंग्रेजी को विश्व-भाषा मानकर केवल उसी में दफ्तर चलाने का नियम बनाया है। उसने अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी, चीनी और स्पेनी को बराबर अधिकार देकर उन्हें अपने काम-काज की भाषा बनाया है। हर भाषण का अनुवाद इन भाषाओं में एक साथ किया जाता है।

भारत में जब तक अहिन्दी प्रदेशों के नेता स्वेच्छा से हिन्दी स्वीकार नहीं करते, तब तक यदि हिन्दी, बँगला, तमिल, तेलुगु और मराठी को समान रूप से केन्द्रीय भाषा मान लिया जाय, तो क्या यह समाधान हिन्दी-अहिन्दी नेताओं को मान्य न होना चाहिए ?

यदि विश्व-संस्था का दफ्तर एक से अधिक भाषाओं में चल सकता है तो क्या हम लोकसभा में एक से अधिक भाषाओं में बोलने और पाँच स्वीकृत भाषाओं में भाषण के अनुवाद की व्यवस्था नहीं कर सकते ? इसी तरह केन्द्रीय सरकारी दफ्तरों का काम एक से अधिक भाषाओं में हो सकता है।

गांधीजी ने लिखा था, 'दक्षिण अफ्रीका जैसे देश में अंग्रेजी और डच भाषाओं की टक्कर थी। अन्त में फैसला यह हुआ कि दोनों भाषाओं को बराबरी का दर्जा देना चाहिए।" (थॉट्स, पृ० २४)

इसी तरह कनाडा में अंग्रेजी-फ्रांसीसी, बेल्जियम में फ्रांसीसी-फ्लेमिश, पाकिस्तान में उर्दू-बंगला, लंका में सिंहली-तमिल भाषाओं की टक्कर है। इन देशों में भाषा-समस्या का एक ही समाधान है कि दो भाषाओं को बराबर अधिकार देकर उन्हें केन्द्रीय भाषाएँ माना जाय।

जो लोग यह समझते हैं कि अंग्रेजी हटाने की माँग दूसरी भाषाओं पर जबर्दस्ती हिन्दी लादने की माँग है, उनके विचार और चिन्तन के लिए मेरा उपर्युक्त प्रस्ताव है। इसमें न तो केन्द्रीय सेवाओं के लिए सभी से एक भाषा सीखने का आग्रह है, न भारत की सभी भाषाओं को केन्द्रीय भाषा बना देने की माँग है। यह मध्यमार्गी प्रस्ताव है और अमल में लाया जा सकता है बशर्ते कि पहले कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी तथा अन्य दल अपने केन्द्रीय दफ्तरों से अंग्रेजी निकाल दें।

गांधीजी की भाषा-नीति का अन्तिम सूत्र है—हिन्दी-उर्दू बुनियादी तौर से एक ही भाषा है और आगे चलकर उनका एक ही सम्मिलित साहित्यिक रूप होगा।

हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता के बारे में उन्होंने लिखा था, 'हिन्दी और उर्दू या हिन्दुस्तानी में कोई भी फर्क नहीं है। दोनों का व्याकरण एक है। फर्क केवल लिपि का है। विचार कीजिए तो मालूम होगा कि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी—इन तीन शब्दों से एक ही भाषा का बोध होता है। इनके शब्दकोश देखें तो पता चलेगा कि अधिकांश शब्द एक-से हैं।" (उप०, पृ० ५०)

गांधीजी ने जो कुछ लिखा था, वह बोलचाल की भाषा की दृष्टि से सही

था। हिन्दी-उर्दू मूलतः एक ही भाषा है और आम जनता उनके व्यवहार में कोई भेद नहीं करती।

गांधीजी ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि उर्दू भाषा और लिपि केवल मुसलमानों की सम्पत्ति नहीं है। "ऐसे काफी हिन्दू और अन्य धर्मों के लोग भी हैं जिनकी मातृभाषा उर्दू है और जो केवल उर्दू लिपि जानते हैं।" (उप०, पृ० १७५)

इससे जो नतीजा निकलता है, वह यह कि उर्दू धार्मिक अल्पसंख्यकों की भाषा न होकर सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों की भाषा है। वह स्वतन्त्र भाषा नहीं, इसलिए उसकी तब तक रक्षा करनी चाहिए जब तक एक ही बोलचाल की भाषा के दोनों शिष्ट रूप घुल-मिलकर एक न हो जाएँ।

देश में हिन्दू-मुस्लिम समस्या अंग्रेजों के हाथ में बहुत बड़ा हथियार थी जिसे वे राष्ट्रीय आन्दोलन को तोड़ने के लिए इस्तेमाल करते थे। उर्दू का सम्बन्ध मुसलमानों के विशेषाधिकारों से जुड़ गया। उर्दू की रक्षा का प्रश्न—विशेष रूप से उसकी लिपि की रक्षा का प्रश्न—धार्मिक अल्पसंख्यकों की रक्षा का प्रश्न बन गया। गांधीजी ने हिन्दी-हिन्दुस्तानी का नारा देकर हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने का भगीरथ प्रयत्न किया। किन्तु भाषा केवल बहाना थी; अलगाव के कारण दूसरे थे। बंगाल में उर्दू लिपि की रक्षा का प्रश्न न था; फिर उसका विभाजन हुआ। सिन्धी भाषा के लिए फारसी लिपि का ही संशोधित रूप काम में आता था। फिर भी सिन्ध पाकिस्तान में गया। जिनकी भाषा उर्दू थी, वे यहीं रहे। उर्दू के दमन का नारा लगाकर मुस्लिम जनता को भड़काया गया, साम्राज्यवादियों और उनके साम्प्रदायिक सहायकों ने भाषा समस्या में आग उठाकर राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर किया।

इस परिस्थिति को बदलने का एक ही तरीका था, साम्राज्यवाद के खिलाफ आम जनता का संगठन किया जाय। उत्तर भारत में किसान-सभाओं और मजदूर-संघों में एक ही भाषा का व्यवहार किया जाय, इन जन-संगठनों में फारसी, संस्कृत शब्दों के व्यवहार पर रोक न लगाकर एक ही लिपि देवनागरी के व्यवहार पर जोर दिया जाय। एक लिपि के माध्यम से जो किसान-मजदूर जनता राजनीतिक-सांस्कृतिक काम करते, वे अरबी-संस्कृत के शब्दों की छँटाई खुद कर लेते। वे लेखक जो मार्क्सवाद से प्रभावित थे, हिन्दी-उर्दू साहित्य का प्रकाशन एक ही लिपि देवनागरी में करके दोनों के बीच का फासला कम करने में मदद दे सकते थे। गांधीजी गुजराती थे। वह आधुनिक हिन्दी साहित्य से बहुत कम परिचित थे, उर्दू-साहित्य के विकास से और भी कम परिचित थे। उत्तर प्रदेश के प्रगतिशील लेखक गांधीजी की बहुत बड़ी मदद कर सकते थे। लेकिन इन लेखकों की भाषा-नीति में खामियाँ थीं जिनकी चर्चा अन्य निबन्ध में है।

हिन्दी उर्दू का भेद सगस्य नहीं था। पण्डिताऊ हिन्दी और मौलवियाना उर्दू

की लिखा करके यह भेद समाप्त न किया जा सकता था। दोनों के शब्द चुन-कर साथ-ही साथ में एक सामान्य लिपि काम भी न आ सकती थी। गांधीजी भारत की समस्त भाषाओं के लिए एक लिपि के व्यवहार पर जोर देते थे। किन्तु राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी के लिए वह दोनों लिपियों का व्यवहार आवश्यक बताते थे। वह जानते थे और कहते थे कि देवनागरी लिपि अधिक वैज्ञानिक है और आगे चलकर वही रहेगी। उर्दू लिपि और उर्दू-साहित्य को सुरक्षित रखने की बात नहीं थी। किन्तु यदि एक ही किसान-सभा में पचास आदमी हिन्दी में अपना काम करते हैं और दस आदमी उर्दू में, तो इससे किसानों का वर्ग-संगठन कमजोर होता है। सारे देश में राष्ट्रभाषा की दो लिपियाँ हों, तो इससे सारे देश का काम कठिन हो जाता है। सारे देश के शिक्षित लोग दोनों लिपियाँ सीखें, राष्ट्रभाषा दोनों ही लिपियों में लिखी जाय, यह बात अव्याव-हारिक थी।

व्यावहारिक बात यह थी कि हिन्दी-उर्दू की लिपियों को बराबरी का दर्जा न देकर एक को प्रधान और प्रादेशिक व्यवहार के लिए स्वीकार किया जाय और दूसरी को अल्पसंख्यकों के लिए आवश्यक संरक्षण प्रदान किया जाय। यदि उर्दू को मुसलमानों की लिपि मान ही लिया जाय तो भी वह अल्पसंख्यकों की लिपि होगी, उसे देवनागरी का दर्जा देना गलत था।

हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायवादियों से भिन्न गांधीजी हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता में विश्वास करते थे और समझते थे कि जब साम्प्रदायिक तनाव कम हो जाएगा, तब दोनों शैलियाँ घुल मिलकर एक हो जाएँगी। उन्होंने सन् '२७ में लिखा था, "जब तक हिन्दू-मुस्लिम तनाव बना हुआ है, तब तक वह कभी फारसी-अरबी शब्दों से लदी हुई फारसी लिपि में लिखी जानेवाली उर्दू का रूप लेता है, कभी संस्कृत शब्दों से लदी हुई देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दी का रूप लेता है। जब दोनों के दिल मिलेंगे तब एक ही भाषा के ये दो रूप घुल मिलकर एक हो जाएँगे और इस भाषा में संस्कृत, फारसी, अरबी या अन्य भाषाओं के उतने ही शब्द होंगे जितने उसके पूर्ण विकास और पूर्ण व्यंजना-शक्ति के लिए दरकार होंगे।" (उ०, पृ० २६-२७)

इन वाक्यों में जोर भाषा की मूल प्रकृति पर है। कितने शब्द किस भाषा से लिये जाएँगे, यह भाषा के अपने विकास पर, उसके बोलनेवालों के विकास पर निर्भर है, इसका फैसला कोशकार नहीं कर सकते। लेकिन दोनों मिलेंगी जरूर, गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास था। उनका यह विश्वास बिलकुल सही था। बंगाल के विभाजन से बँगला के दो रूप नहीं हो गए, पंजाब के बँटवारे से दो पंजाबी भाषाएँ नहीं बन गईं। भाषाओं के विकास के नियम साम्राज्यवादी योजनाओं से ज्यादा शक्तिशाली हैं। उर्दू पाकिस्तान की नहीं हिन्दुस्तान की है। हम उसका संरक्षण करेंगे, साथ ही हिन्दी-उर्दू का भेद मिटाने का भी करेंगे। हिन्दी-उर्दू लिखने बोलनेवालों का प्रदेश एक, जाति एक,

ग्रार्थिक सम्बन्ध एक। बोलचाल की भाषा के दोनो साहित्यिक रूपो को एक दिन मिलना ही होगा।

गाधीजी की भाषा-नीति के ये छह महत्वपूर्ण सूत्र हैं जिन्हें ग्राज की परिस्थितियो मे विवेक से लागू करके हम भाषा-समस्या के सही समाधान की ग्रोर बढ़ सकते हैं। (१९६५)

सकता है।

अन्य भाषा-भाषियों की सुगमता के लिए वह हिन्दी का [illegible] बढ़ाना चाहते थे परन्तु वह ऐसे शब्द लेने के पक्ष में न थे जिनसे हिन्दी हिन्दी न रहे। नवम्बर, '३५ के 'हंस' में उन्होंने लिखा था, "[illegible] अपना शब्द-कोष बढ़ाने की धुन में वह अपना रूप ही न खो बैठे [illegible] हिन्दी की एक मर्यादा है, और उसका चाहे जितना भी विस्तार हो, उसकी इस मर्यादा की रक्षा होनी आवश्यक है।" इन शब्दों में उन्होंने अपने [illegible] के अनुभव और चिन्तन का सार रख दिया है।

सरल भाषा लिखने के पक्षपाती होते हुए भी [illegible] कठिनाइयों को जानते थे। उन्होंने स्वीकार किया है, दर्शन, विज्ञान आदि में और कथा-साहित्य में भी जहाँ वह विवेचनात्मक हो जाता है, जन-साधारण की भाषा से अलग कठिन शब्द अपनाने पड़ते हैं। भाषा-काठिन्य के विरुद्ध कुछ लोगों की तरह आवाज़ न उठाकर प्रेमचन्द ने जन-साधारण में ही अधिकाधिक भाषा और साहित्य के प्रचार पर ज़ोर दिया है। जो लोग उच्चकोटि का गम्भीर साहित्य रचनेवालों की भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयों को न समझकर उस पर तुरन्त ही दुरूहता, अस्वाभाविकता आदि का आक्षेप कर बैठते हैं, उन्हें प्रेमचन्द के इन शब्दों को ध्यान में रखना चाहिए— 'जब तक जनता में शिक्षा का अच्छा प्रचार नहीं हो जाता, उसकी व्यावहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम उसके समझने लायक भाषा में तात्त्विक विवेचनाएँ नहीं लिख सकते।" शिक्षा का प्रचार होने पर वही कठिन शब्द "जिन्हें देखकर आज हम भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जाएँगे तो उनका हौवापन जाता रहेगा।" ('हंस, जनवरी, १९३५)

राष्ट्रभाषा के राजनीतिक महत्त्व को वह पूरी तरह स्वीकार करते थे और इसके लिए उन्होंने नेताओं पर यह दोष भी लगाया है कि वे इस सम्बन्ध में अधिक सचेष्ट नहीं रहे। "जब हमारे नेता हिन्दी-साहित्य से बेखबर से हैं, जब हम लोग थोड़ी-सी अंग्रेज़ी लिखने की सामर्थ्य होते ही हिन्दी को तुच्छ और ग्रामीणों की भाषा समझने लगते हैं, तब यह कैसे आशा की जा सकती है कि हिन्दी में ऊँचे दर्जे के साहित्य का निर्माण हो।" ('हंस', जनवरी, १९३६)

फिर भी उनका विचार था देश का साहित्य यदि उन्नति कर सकता है तो राष्ट्रभाषा के द्वारा ही, अन्य उपभाषाओं से नहीं, राष्ट्रभाषा का साहित्य अन्त- में ठहर सकेगा, दूसरा नहीं। "यह स्वप्न देखना कि भारत की समुन्नत भाषाओं के बराबर हो सकती है, लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सघों के सामने खड़ा

प्रेमचन्द कितना महत्त्वपूर्ण

१

प्रेमचन्द और भाषा-समस्या

प्रेमचन्द ने भाषा के सम्बन्ध मे काफी विचार किया था और उसके सम्बन्ध मे लिखा भी काफी है। जब उन्होने उर्दू छोड़कर हिन्दी में लिखना शुरू किया था तब भी उनके सामने भाषा का प्रश्न महत्वपूर्ण होकर आया था। इसी-लिए 'सेवासदन' में भी हम उन्हे इस विषय पर सोचते-विचारते देखते हैं। डॉ० श्यामाचरण मोटर से उतरकर अंग्रेजी में अपने देर होने की क्षमा चाहते हैं, तब कुँवर साहब उन्हें याद दिलाते हैं, "डॉक्टर साहब, आप भूलते हैं, यह काले आदमियों का समाज है।" डॉक्टर साहब अंग्रेजी को देश की सिगुणा काफी मानते हैं, परन्तु कुँवर साहब इसका कारण देश के कुछ अंग्रेजी-भक्तों को बताते हैं। अंग्रेजी से कुँवर साहब को "ऐसी ही घृणा होती है जैसी किसी अंग्रेज के उतारे कपड़े पहनने से।"

उर्दू और हिन्दी का प्रश्न प्रेमचन्द के सामने ताजा था। उसके बारे में कुँवर साहब कहते हैं—"फारस और काबुल के मूर्ख सिपाहियों और हिन्दू व्या-पारियों के समागम से उर्दू जैसी भाषा का प्रादुर्भाव हो गया। अगर हमारे देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विद्वज्जन अपनी ही भाषा में सम्भाषण करते तो अब तक कभी एक सार्वदेशिक भाषा बन गई होती।" दिसम्बर, १९३१ के 'हंस' में एक पुस्तक की आलोचना करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था, "साहित्य-मंडल ने उर्दू के केन्द्र दिल्ली में हिन्दी-प्रकाशन का भार उठाया है, यह उद्योग प्रशंसनीय है।" प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू का भेद मिटाने के पक्ष में थे क्योंकि वास्तव में भाषाएँ दोनों एक हैं। इसके लिए वह काफ़ी उदारता से काम लेना चाहते थे, भाषा शुद्ध ही हो, इसके वह कायल न थे। परन्तु राष्ट्रभाषा को कुछ गिने-चुने आदमियों की न होकर देश के समूह की समझ में आनेवाली होना चाहिए। जैसा उन्होंने 'हंस' में लिखा था, "राष्ट्रभाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मजदूरों की भाषा बनना पड़ेगा।" कौन-सी भाषा किसानों और मजदूरों की भाषा बन सक[illegible]
कहानियों और उपन्यासों में ही किसान-मजदूरों की भाषा [illegible]

सकता है।

अन्य भाषा-भाषियों की सुगमता के लिए वह हिन्दी का शब्दकोश बढ़ाना चाहते थे परन्तु वह ऐसे शब्द लेने के पक्ष में न थे जिनसे हिन्दी हिन्दी न रहे। नवम्बर, '३५ के 'हंस' में उन्होंने लिखा था, "इसका ध्यान रखना पड़ेगा कि अपना कोष बढ़ाने की धुन में वह अपना रूप ही न खो बैठे...हिन्दी की एक *मर्यादा है, और उसका चाहे जितना भी विस्तार हो, उसकी इस मर्यादा की रक्षा* होनी आवश्यक है।" इन शब्दों में उन्होंने अपने जीवन-पर्यन्त के अनुभव और चिन्तन का सार रख दिया है।

सरल भाषा लिखने के पक्षपाती होते हुए भी प्रेमचन्द साहित्यिक की कठिनाइयों को जानते थे। उन्होंने स्वीकार किया है, दर्शन, विज्ञान आदि में और कथा-साहित्य में भी जहाँ वह विवेचनात्मक हो जाता है, जन-साधारण की भाषा से अलग कठिन शब्द अपनाने पड़ते हैं। भाषा-काठिन्य के विरुद्ध कुछ *लोगों की तरह आवाज़ न उठाकर प्रेमचन्द ने जन-साधारण में ही अधिकाधिक* भाषा और साहित्य के प्रचार पर जोर दिया है। जो लोग उच्चकोटि का गम्भीर साहित्य रचनेवालों की भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयों को न समझकर उस पर तुरन्त ही दुरूहता, अस्वाभाविकता आदि का आक्षेप कर बैठते हैं, उन्हें प्रेमचन्द के इन शब्दों को ध्यान में रखना चाहिए— 'जब तक जनता में शिक्षा का अच्छा प्रचार नहीं हो जाता, उसकी व्यावहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम उसके समझने लायक भाषा में तात्त्विक विवेचनाएँ नहीं लिख सकते।" शिक्षा का प्रचार होने पर वही कठिन शब्द "जिन्हें देखकर आज हम भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जाएँगे तो उनका हौवापन जाता रहेगा।" ('हंस, जनवरी, १९३५)

राष्ट्रभाषा के राजनीतिक महत्व को वह पूरी तरह स्वीकार करते थे और इसके लिए उन्होंने नेताओं पर यह दोष भी लगाया है कि वे इस सम्बन्ध में *अधिक सचेष्ट नहीं रहे। "जब हमारे नेता हिन्दी-साहित्य से बेखबर से* हैं, जब हम लोग थोड़ी-सी अंग्रेज़ी लिखने की सामर्थ्य होते ही हिन्दी को तुच्छ और ग्रामीणों की भाषा समझने लगते हैं, तब यह कैसे आशा की जा सकती है कि हिन्दी में ऊँचे दर्जे के साहित्य का निर्माण हो।' ('हंस', जनवरी, १९३६)

फिर भी उनका विचार था देश का साहित्य यदि उन्नति कर सकता है तो राष्ट्रभाषा के द्वारा ही, अन्य उपभाषाओं से नहीं, राष्ट्रभाषा का साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता में ठहर सकेगा, दूसरा नहीं। "यह स्वप्न देखना कि भारत *की सभी प्रान्तीय-भाषाएँ संसार की समुन्नत भाषाओं के बराबर हो सकती हैं,* भूल है। एक राष्ट्र एक ही भाषा को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सभा के सामने खड़ा हो सकता है।' ('हंस', नवम्बर, १९३५)

इससे मालूम होता है, राष्ट्रभाषा के प्रश्न को प्रेमचन्द कितना महत्वपूर्ण समझते थे और उसके साहित्य की उन्नति के लिए उनमें कैसी उत्कट अभिलाषा

थी। उसी लगन से साहित्य रचकर उन्होंने राष्ट्रभाषा का मस्तक भी ऊँचा किया है।

लिपि के सम्बन्ध में उन्होने विशेष कुछ विवेचनात्मक नही लिखा, परन्तु जैसे भाषा के सम्बन्ध मे उनकी पहली कसौटी बोधगम्यता की है, उसी प्रकार लिपि के लिए उन्होंने पहले पहल उसका सरल और सुबोध होना आवश्यक समझा है। इसलिए उन्होने देवनागरी लिपि का ही समर्थन किया था, "हिन्दुस्तानी भाषा के लिए हिन्दी लिपि रखना ही सुविधा की बात है।" ('हंस', नवम्बर, १९३५)

(१९४०)

२

प्रेमचन्द ने साहित्यकारो के लिए लिखा था कि उन्होंने कौम की तारीख बनाई है, उसकी संस्कृति बनाई है। प्रेमचन्द किस कौम की तारीख बनानेवाले साहित्यकार थे ? वैसे तो उनके साहित्य का आदर सारे हिन्दुस्तान मे हुआ है लेकिन वह खास तौर मे हिन्दीभाषी जाति के लेखक थे। वह हिन्दुस्तानी कौम की तारीख बनानेवाले साहित्यकार थे। उन्होंने हिन्दी और उर्दू दोनो ही मे रचनाएँ की। हिन्दी और उर्दू के लेखकों को नजदीक लाने में, हिन्दी और उर्दू के सामन्ती साहित्य का मुकाबला करने मे, हिन्दी और उर्दू के नये साहित्य मे आजादी और जनतन्त्र के भाव और विचार भरने मे प्रेमचन्द ने हमारी जाति की अद्वितीय सेवा की है। तुलसीदास के बाद हिन्दी के वह सबसे बड़े साहित्यकार थे जिन्हें हमारी किसान जनता ने अपनाया। जहाँ-जहाँ हिन्दी-उर्दू पढनेवालो ने प्रेमचन्द की रचनाओ मे रस लिया, वहाँ-वहाँ जातीय एकता का भाव और मजबूत हुआ।

हिन्दुस्तानी कौम की एकता मे हिन्दी-उर्दू का विवाद एक बहुत बडी बाधा बना हुआ था। प्रेमचन्द इसके लिखनेवालों को दो कौमों का लेखक न मानते थे। वह उन्हें नजदीक लाना चाहते थे जिससे कि एक मिली-जुली साहित्यिक भाषा का चलन हो सके। दिल्ली मे हिन्दुस्तानी सभा के स्थापित होने पर उन्होंने उसका स्वागत किया था क्योंकि उसमे हिन्दी और उर्दू के लेखक एक साथ बैठते और बहस करते थे। हिन्दी उर्दू के लेखकों का परस्पर मिलना जुलना और एक साथ भाषा और साहित्य की समस्याओ पर विचार करना उनकी नजर में कितना जरूरी था यह 'हिन्दुस्तानी सभा' पर उनकी टिप्पणी से जाहिर होता है। इसमे उन्होंने लिखा था, "जब उर्दू का अदीब अपनी कोई रचना ऐसी समाज के सामने पढ़ेगा, जिसमे हिन्दी के लेखक भी शरीक हैं, तो वह ऐसी भाषा लिखने की कोशिश करेगा जो हिन्दीवालो की समझ में आए। इसी तरह हिन्दी का लेखक उर्दू के अदीबो की मण्डली मे अपनी भाषा को सुबोध रखने पर मजबूर होगा।" इस तरह के परस्पर प्रभाव और आदान-प्रदान से वह एक मिली जुली साहित्यिक शैली के विकास की आशा करते थे।

इस तरह के प्रयोग की सफलता एक दूसरी बात पर भी निर्भर है और वह

यह कि इस तरह की सभाओं में शामिल होनेवाले लेखक किस हद तक जनता के लिए लिखते हैं और किस हद तक अपने जीवन में जनता के नज़दीक हैं। जनता के लिए न लिखने पर साहित्यकार उसी पुरानी लफ्फाज़ी और उन्हीं पुराने अलंकारों की दुनिया में चक्कर लगाता रहता है और तब हिन्दी और उर्दू के लेखक एक दूसरे से सीखने के बदले एक-दूसरे के कठिन शब्दों को ढूंढने में लग जाते हैं। एक मिली-जुली साहित्यिक भाषा के ज़रिये कौम की सेवा करने और उसको संगठित करने का सवाल पीछे पड़ जाता है। जहां पर हिन्दी-उर्दू लेखकों के मिलकर काम करने और सभाएं चलाने के काम पूरी तरह सफल नहीं हुए वहां असफलता का मुख्य कारण जनता से लेखकों के अलगाव को समझना चाहिए।

एक साहित्यिक शैली गढ़ने के पक्ष में होते हुए भी प्रेमचन्द उसे गढ़ने की कठिनाइयों को जानते थे। 'भारतीय साहित्य परिषद्' में हिन्दुस्तानी को जगह न देने पर मौलाना अब्दुल हक़ की आलोचना का जवाब देते हुए उन्होंने जून, सन् '३६ के 'हंस' में लिखा था, "और जो हिन्दुस्तानी अभी व्यवहार में नहीं आई, उसके और ज्यादा हिमायती नहीं निकले तो कोई ताज्जुब नहीं। जो लोग हिन्दुस्तानी का वकालतनामा लिये हुए हैं, और उनमें एक इन पंक्तियों का लेखक भी है वे भी अभी तक हिन्दुस्तानी का कोई रूप खड़ा नहीं कर सके। केवल उसकी कल्पना-मात्र कर सके हैं, यानी वह ऐसी भाषा हो जो उर्दू और हिन्दी दोनों ही के संगम की सूरत में हो जो सुबोध हो और आम बोलचाल की हो।'

इससे नतीजा यही निकलता था कि एक मिली जुली साहित्यिक शैली के लिए वक्त की जरूरत थी। हिन्दी को बहुत ज्यादा संस्कृतमय और उर्दू को फ़ारसी-अरबीमय बनाने का विरोध करना सही था लेकिन हिन्दी और उर्दू की जो दो शैलियां चल रही थीं, उन्हें एकाएक छोड़ा नहीं जा सकता था। प्रेमचन्द हिन्दी और उर्दू दोनों में लिखते थे और उनकी हिन्दी उर्दू में भेद भी रहता था। इस पर कुछ लोगों ने उन पर यह तोहमत लगाई कि वह मुंह से तो हिन्दुस्तानी की हिमायत करते हैं, अमल से हिन्दी का प्रचार करते हैं।

'हंस' के 'प्रेमचन्द स्मृति अंक' में श्री अशफ़ाक हुसेन ने एक दिलचस्प घटना का ज़िक्र किया है। "अलीगढ़ से 'सुहैल' नाम का एक उर्दू अख़बार निकलता है। उसमें छापने के लिए प्रेमचन्दजी ने अपनी दो रचनाएँ भेजी थीं जिनमें एक तो हिन्दी में थी और दूसरी उर्दू में। इसके लिए एक साहब ने प्रेमचन्द के बारे में बहुत-सी उल्टी-सीधी बातें लिख डाली थीं। उनकी हिन्दीवाली रचना में तो संस्कृत के कई शब्द थे और उर्दूवाली रचना में उससे भी अधिक फ़ारसी के शब्द थे। इसकी आलोचना जिस तरह के लोगों को करनी चाहिए थी, उसी तरह के लोगों ने की थी और कहा था कि 'प्रेमचन्दजी दोरुखी चालें चलते हैं, दोनों तरफ़ मिले रहना चाहते हैं और दोनों तरफ़ से अच्छे बने रहना चाहते हैं।'"

अगर प्रेमचन्द का यह दावा होता कि हिन्दी-उर्दू का बायकाट करके, तुरन्त हिन्दुस्तानी रायज की जा सकती है, तो शायद इस आलोचना में कुछ तथ्य होता। लेकिन जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रेमचन्द हवाई सिद्धान्तवार नहीं थे; वह अमल में तुरन्त एक मिली-जुली भाषा-शैली ईजाद करने की कठिनाइयों को जानते थे। इसलिए हिन्दी और उर्दू दोनों में कुछ हेर-फेर के साथ लिखने की उनकी नीति सही थी; बोलचाल की कौमी जबान हिन्दुस्तानी का समर्थन करना भी ठीक था।

'प्रेमचन्द-स्मृति अंक' में श्री मोहम्मद आकिल ने इस तरह की दूसरी घटना का जिक्र किया है। 'इस सिलसिले में देहली के रिसाले 'साकी' ने जो तनकीद की थी कि प्रेमचन्दजी उर्दू के लिए मरहूम हो चुके हैं, उसके बारे में हँसकर कहने लगे कि 'साकी' के एडीटर को मैंने लिखा है कि मैं उर्दू के लिए न सिर्फ जिन्दा हूँ बल्कि ज्यादा जोरों से जी रहा हूँ।'' प्रेमचन्द उन थोड़े से लेखकों में थे जिनमें हिन्दी-उर्दू को लेकर बढ़ा-चढ़ी का भाव नहीं था। यह भाव तब पैदा होता है जब लेखक के दिमाग में हिन्दी-उर्दू के पीछे हिन्दुस्तानी कौम नहीं होती बल्कि हिन्दू धर्म और इस्लाम होता है। प्रेमचन्द ने अपने अमल से दिखलाया कि साहित्य का जातीय रूप समृद्ध करने से, उसमें जनवादी विचारों का समावेश करने से भाषा की समस्या हल करने में मदद मिलती है। प्रेमचन्द के जल्दबाज आलोचक, जो तुरन्त हिन्दुस्तानी रायज करना चाहते थे, इस दिशा में ऐसा कोई बड़ा काम नहीं कर पाए।

प्रेमचन्द ने राष्ट्रभाषा और हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में जो भाषण दिए थे, उनमें एक तरफ तो साम्राज्यवादियों की गुलामी के हर रूप से बेहद नफरत जाहिर होती है दूसरी तरफ हर जगह उनका यह दृढ़ विश्वास भी जाहिर होता है कि हिन्दी और उर्दू एक ही कौम की जबान हैं और इनका एक होना लाजमी है।

प्रेमचन्द को देश के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में अंग्रेजी भाषा की प्रभुता खलती थी। यह उनकी साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय चेतना, उनके आत्म-सम्मान की भावना का जबर्दस्त सबूत था। किसी ने साम्राज्यवादियों की अंग्रेजी लादने की नीति के खिलाफ, बुद्धिजीवियों में इस नीति के सामने सिर झुकाने की नीति के खिलाफ इतने रोष और तर्क के साथ बगावत न की थी जैसे प्रेमचन्द ने। सन् '३४ में बम्बई के राष्ट्रभाषा-सम्मेलन में उन्होंने पशुओं और मनुष्यों में यह भेद बतलाया कि मनुष्य भाषा इस्तेमाल करते हैं, पशु नहीं करते। "समाज की बुनियाद भाषा है।" इस महत्व की जगह से अंग्रेजी यहाँ की भाषाओं को हटाने की कोशिश करती रही थी। सारे देश के लोग आपस में किस भाषा का व्यवहार करें, इस बारे में नेताओं वगैरह की उदासीनता का जिक्र करते हुए उन्होंने इस सम्मेलन में कहा था—'इस लापरवाही का खास सबब है—अंग्रेजी जबान का बढ़ता हुआ प्रचार और हममें आत्म-सम्मान की

वह कमी, जो गुलामी की शर्म को नहीं महसूस करती।"

किसी भी देश और जाति की उन्नति में वह आत्म सम्मान की भावना जनता में जोश भर देती है, उसे सगठित होकर नए-नए मोर्चे फतह करने में बेहद मदद देती है। प्रेमचन्द का स्वाभिमान यह देखकर तिलमिला उठता था कि *गुलाम देश के बुद्धिजीवी अपने मालिकों की भाषा पर अभिमान करते हैं।* अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व को उन्होंने साम्राज्यवादी प्रभुत्व का ही अटूट हिस्सा बतलाते हुए कहा था—"अंग्रेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का हमारे ऊपर जैसा घातक है, उससे कही ज्यादा अंग्रेजी भाषा का है। अंग्रेजी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते हैं, लेकिन अंग्रेजी भाषा को आप गुलामी के तौक की तरह गर्दन में डाले हुए हैं।"

प्रेमचन्द के इन उचित क्रोध से भरे हुए वाक्यों के सामने कोई दलील कारगर नहीं हो सकती। सवाल है राष्ट्रीय आत्म-सम्मान का। कौन सा देश, जो स्वाधीन है या स्वाधीनता के लिए लड़ रहा है, हमारी तरह दूसरों की जबान को अपने राजकाज की जबान बनाए हुए है ? प्रेमचन्द ने उन लोगो को कड़ी फटकार बताई जो इस गुलामी पर नाज करते थे। उन्होंने तमाम अंग्रेजी-भक्तो पर घड़ो पानी उड़ेलते हुए कहा था—'अंग्रेजी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते हैं। उनके व्यापार की जगह अपना व्यापार चाहते हैं, लेकिन अंग्रेजी भाषा का सिक्का हमारे दिलो पर बैठ गया है, उसके बिना हमारा पढा लिखा समाज अनाथ हो जाएगा। पुराने समय में आर्य और अनार्य का भेद था, *आज अंग्रेजीदा और गैर अंग्रेजीदां का भेद है। अंग्रेजीदां आर्य है।* उसके हाथ में, अपने स्वामियो की कृपा दृष्टि की बदौलत कुछ अख्तियार हैं, रोब है, सम्मान है, गैर-अंग्रेजीदां अनार्य है और उसका काम केवल आर्यों की सेवा टहल करना है और उनके भोग-विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है।" प्रेमचन्द ने भारत के अंग्रेजो प्रेमी आर्यों के लिए ये शब्द अठारह *साल पहले कहे थे। उनका महत्व आज भी कम नहीं हुआ।*

प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू को एक जबान मानते थे। राष्ट्रभाषा सम्मेलन वाले भाषण में उन्होंने हिन्दी-उर्दू का भेद संस्कृत और फारसी शब्दो के प्रयोग पर निर्भर बतलाया था। इस भाषण में उन्होंने हिन्दी की बोलियो के स्वभाव की तरफ ध्यान दिलाया था, कि किस तरह वे संस्कृत शब्दो को ज्यों-का-त्यों नही लेती। *उन्होंने इस कुतर्क का जोरो से खण्डन किया कि हिन्दी में संस्कृत शब्दो की* भरमार करने से वह सभी प्रान्तो के लोगो के लिए आसान हो जाएगी।

हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता के बारे में प्रेमचन्द कहते हैं—'हमारे सूबे के देहातो में रहनेवाले मुसलमान प्राय देहातियो की भाषा ही बोलते हैं। जो बहुत से मुसलमान देहातो से जाकर शहरो में आबाद हो गए हैं वे भी अपने घरो में देहाती *जबान ही बोलते हैं। बोलचाल की हिन्दी समझने में न तो* साधारण मुसलमानो को ही कोई कठिनाई होती है और न बोलचाल की उर्दू

समझने में साधारण हिन्दुओं को ही। बोलचाल की हिन्दी और उर्दू प्रायः एक-सी है।"

यहाँ पर प्रेमचन्द ने इस अवैज्ञानिक सिद्धान्त का खण्डन किया है कि भाषा का आधार धर्म है और इसलिए हिन्दुओं की भाषा हिन्दी है और मुसलमानों की भाषा उर्दू है। उन्होंने धर्म के नाम पर भाषा और कौम का बँटवारा करने वाले साम्राज्यवादी और सामन्ती भाषा-वैज्ञानिकों का खण्डन किया और हिन्दुस्तानी जाति की भाषा और संस्कृति के विकास में बहुत बड़ी मदद की। इस जाति की भाषा की लिपि के लिए वह देवनागरी लिपि के पक्षपाती थे। राष्ट्रभाषा-सम्मेलन में उन्होंने कहा था—"प्रान्तीय भाषाओं को हम प्रान्तीय लिपियों में लिखते जाएँ, कोई एतराज नहीं; लेकिन हिन्दुस्तानी भाषा के लिए हिन्दी लिपि रखना ही सुविधा की बात है, इसलिए नहीं कि हमें हिन्दी लिपि से खास मोह है; बल्कि हिन्दी लिपि का प्रचार बहुत ज्यादा है और उसके सीखने में भी किसी को दिक्कत नहीं हो सकती। और जो लोग उर्दू लिपि के आदी हैं, उन्हें हिन्दी लिपि का व्यवहार करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। अगर जबान एक हो जाय, तो लिपि का भेद कोई महत्व नहीं रखता।"

हिन्दी उर्दू को एक करने, कौमी भाषा और संस्कृति का नया विकास करने की जिम्मेदारी प्रेमचन्द अपनी पीढ़ी पर छोड़ गए थे। उनके बताये हुए रास्ते पर चलकर ही हम इस जिम्मेदारी को पूरा कर सकते हैं। (१९५२)

२

उत्तर प्रदेश की सरकार और हिन्दी

१५ अगस्त, १६६५ की 'उत्तर प्रदेश पचायती राज्य' नामक पत्रिका मे श्रीमती सुचेता कृपालानी का एक लेख छपा है 'उत्तर प्रदेश और राष्ट्रभाषा।' इसमे उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के सिलसिले मे जो बातें कही हैं, उनका सम्बन्ध राजनीतिज्ञो से अधिक साहित्यकारों से है। आशा है, हिन्दी लेखक उन पर उचित ध्यान देंगे।

पहले तो उन्होंने यह बताया कि हिन्दी का प्रचार गलत ढग से किया गया और वह गलत ढग छोड देना चाहिए। फिर उन्होंने बताया कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सही तरीका क्या है।

जिस तरीके से हिन्दी का प्रचार हुआ, उससे अहिन्दी जनता के मन मे यह प्रतिक्रिया पैदा हुई—"हम क्यो हिन्दी सीखें ?"

"भाषा का प्रचार तलवार स नही होता।"

बिलकुल सही बात है। राज्यसत्ता काग्रेस के हाथ मे है। तलवार का किसी ने प्रयोग किया होगा तो वह काग्रेसी नेता ही होगा। उत्तर भारत मे तमिल के विरोध मे या अग्रेजी के विरोध मे स्टेशनो, डाकखानो वगैरह पर हमला नही हुआ। इस तरह की कार्रवाई तमिलनाडु मे हुई। इसे तलवार का प्रयोग कहा जाय या प्रेम-प्रदर्शन, यह काग्रेसी नेता तय करें। एक बात निश्चित है कि तलवार का प्रयोग हिन्दी जनता या हिन्दी प्रचारको ने नही किया।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सही तरीका उन्होने यह बताया—

"हिन्दी भाषा को प्रगति पर लाएँ। हिन्दी को उस स्तर पर लाएँ कि हरेक हिन्दी को खुशी से सीखें।"

"अगर भाषा उन्नत हो, भाषा मधुर हो, भाषा सुन्दर हो, भाषा में इतने शब्द हो या भाषा इस स्तर में पहुँची हो कि हमारी हरेक जरूरियात को पूरी कर सके तब लोग आप-से-आप भाषा को सीख लेते हैं।"

"हिन्दी को अगर भारत की भाषा बनाना है, भारत की राष्ट्रभाषा बनाना है, तो हिन्दी-प्रेमी बैठकर खोज करें, अनुसन्धान करें, किताबें लिखें, लोगो को

बैठकर हिन्दी सिखाएँ। ऐसी सुन्दर किताबें लिखी जाएँ, ऐसी भाषा में किताबें लिखी जाएँ कि लोग उसे ग्रहण करने के लिए आग्रह करें।"

'हिन्दी को लोगों द्वारा ग्राह्य बनाने के लिए तलवार से नहीं बल्कि साहित्य के महत्व से, साहित्य की उच्चता और सुन्दरता से और प्रचार और प्रसार करने के सुन्दर तरीके से यह होगा।"

जहाँ तक भाषा के सुन्दर और मधुर होने का सम्बन्ध है, हिन्दी जैसी है, वैसी है। हर व्यक्ति को अपनी भाषा सबसे ज्यादा मीठी लगती है। यदि वह कहे कि दूसरे की भाषा ज्यादा मीठी है तो समझना चाहिए कि उसके संस्कारों में कहीं कोई दोष है। मिठास के कारण कोई अपनी भाषा के मुकाबले दूसरी भाषा को महत्व नहीं देता।

जहाँ तक भाषा में 'हरेक जरूरियात' के शब्द होने का सवाल है, दस साल तक कांग्रेसी सरकार का शिक्षा-मन्त्रालय और उसके विशेषज्ञ यह काम करते रहे हैं। यदि हिन्दी अभी तक आवश्यक शब्द इकट्ठे न कर पाई, तो इसमें दोष सुचेताजी की पार्टी के नेताओं का है। लेकिन राजकाज के लिए उन तमाम शब्दों की जरूरत नहीं होती जिन्हें गढ़ने या इकट्ठा करने में दस साल से विशेषज्ञ लग रहे हैं। राजकाज की जरूरियात-भर को तो हिन्दी में शब्द हैं, भले ही हरेक जरूरियात के लिए न हों।

जहाँ तक साहित्य की उच्चता का सम्बन्ध है, अंग्रेजी काफी उच्च भाषा है। लेकिन आगरा विश्वविद्यालय की बी० एस-सी० परीक्षाओं में जब से अंग्रेजी ऐच्छिक विषय हो गई है, तब से अंग्रेजी लेनेवाले छात्रों की संख्या लगभग अस्सी फी सदी कम हो गई है। जो बी० ए० में अंग्रेजी पढ़ते हैं, उनका हाल मत पूछिये। किताबें पढ़े बिना ही बाजार से या प्रोफेसर के लिखाए हुए नोट पढ़कर पास होना चाहते हैं। जो छात्र एम० ए० में अंग्रेजी पढ़ते हैं, उनमें निन्यानवे फी सदी ऐसे होते हैं जो किसी तरह पास होना चाहते हैं या डिवीजन बनाना चाहते हैं। साहित्य प्रेम से उन्हें कोई वास्ता नहीं है।

अंग्रेजी के अलावा भारत की जो दूसरी मधुर भाषाएँ हैं उनके साहित्य को वे फूटी आँखों भी नहीं देखते। आगरा और लखनऊ में ऐसे हिन्दी-भाषी छात्र कम मिलेंगे जिन्होंने रवीन्द्रनाथ की रचनाएँ बंगला में पढ़ी हों। कलकत्ता के बंगलाभाषी युवक सुब्रह्मण्य भारती या वल्लत्तोल की रचनाएँ बड़े चाव से पढ़ते हों, ऐसा भी मेरे देखने में नहीं आया।

भारत की शिक्षा व्यवस्था नौकरियों से जुड़ी है और नौकरियों की भाषा है अंग्रेजी। इसके लिए सुचेताजी की पार्टी के नेता जिम्मेदार हैं, हिन्दी साहित्यकार नहीं।

मान लिया कि हिन्दी भाषा सुन्दर नहीं है और उसका साहित्य घटिया किस्म का है। भारत की किन भाषाओं का साहित्य—अनुवादित हुए बिना—अन्य प्रदेशों में बहुतायत से पढ़ा जाता है? अंग्रेजी को भारतीय जीवन से जो

उत्तर प्रदेश की सरकार

महत्व दिया गया है, उससे समस्त भारतीय भाषाओं के पठन-पाठन में बाधा पड़ती है, हिन्दी के प्रचार-प्रसार में ही नहीं।

मान लिया, हिन्दी-प्रचारकों के ग़लत उत्साह के कारण लोग अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी से नाखुश हो गए। बंगाल में बँगला राजभाषा क्यों नहीं है? वहाँ बँगला के व्यवहार पर किन लोगों ने प्रतिबन्ध लगाया है? तमिलनाडु में तमिल के व्यवहार पर किसने रोक लगाई है?

हिन्दी प्रचारकों को दोष देना एक बहाना है जिससे केन्द्र और प्रान्तों में अंग्रेज़ी का चलन बना रहे।

खुद उत्तर प्रदेश में राजभाषा हिन्दी का क्या हाल है?

'राष्ट्रभाषा सन्देश' (प्रयाग) ने २ सितम्बर, १९६५ के अंक में लिखा है, "वास्तविक स्थिति कम-से-कम उत्तर प्रदेश में यह है कि यहाँ निन्यानवे प्रतिशत से अधिक सरकारी काम अंग्रेज़ी में किया जाता है।"

उत्तर प्रदेश भारत का सबसे बड़ा हिन्दीभाषी राज्य है। सारे देश में हिन्दी की स्थिति क्या होती है, यह बहुत कुछ उत्तर प्रदेश में हिन्दी की स्थिति पर निर्भर है।

उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री श्रीमती सुचेता कृपालानी ने हिन्दी भाषा में उच्च साहित्य की आवश्यकता पर जो विचार प्रकट किये हैं, वैसे विचार सन् '३६-४० में कांग्रेसी नेता पहले भी प्रकट किया करते थे। लेकिन वे हिन्दी लिख-पढ़ लेते थे। सुचेताजी ने अपने उपर्युक्त लेख में बताया है कि उन्होंने "मर-मर-कर रोज़ सुबह एक घंटा लगाकर 'रामचरितमानस' पढ़ा। उसमें उन्हें कोई चीज़ मिली। लेकिन मालूम होता है, लिखने में उन्हें अब भी कठिनाई होती है।

'मैं हिन्दी लिख नहीं सकती"—श्रीमती सुचेता कृपलानी का यह वाक्य पढ़कर किसे दुःख न होगा? आशा है अगले चुनाव तक वह अपनी यह कठिनाई भी दूर कर लेंगी। तब शायद हिन्दी साहित्यकारों को वह जो उपदेश देंगी, वे और भी मधुर और लाभप्रद होंगे। (१९६५)

३

भारत का भाषा-संकट

श्री मोहनकुमार मंगलम ने अंग्रेज़ी में एक बहुत सुन्दर पुस्तक लिखी है जिसका नाम है—'भारत का भाषा-संकट'[1]। जो लोग चाहते हैं कि भारत में अंग्रेज़ी का प्रभुत्व खत्म हो, उन्हें यह पुस्तक ज़रूर पढ़नी चाहिए। उत्तर भारत में लाखों आदमी ऐसे हैं जो चाहते हैं कि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो। वे चाहते हैं कि विभिन्न प्रदेशों में वहाँ की भाषाएँ राजभाषा के गौरवमय आसन पर प्रतिष्ठित हों। प्रश्न यह है कि वे राजभाषा क्यों नहीं बन पातीं ? कौन-सी शक्ति उन्हें अपने उचित आसन पर बैठने से रोकती है ?

श्री मोहनकुमार मंगलम की पुस्तक के छठे अध्याय में इस विषय का विवेचन किया गया है कि तमिलनाडु में तमिल अभी तक क्यों राजभाषा नहीं बन पाई। तमिल को सरकारी तौर पर सन् '५७-५८ में राजभाषा बना दिया गया था किन्तु इसके बाद मद्रास में अंग्रेज़ी का रुतबा बढ़ा है, कम नहीं हुआ। अधिकांश विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी है। कुछ साल पहले अंग्रेज़ी की शिक्षा छठे दर्जे में शुरू होती थी, अब वह तीसरे दर्जे से शुरू होती है। शिक्षा-केन्द्रों में अंग्रेज़ी का प्रभुत्व अटल है। "माता-पिता सोचते हैं कि बेटे को तरक्की करनी है तो बढ़िया अंग्रेज़ी सीखकर ही वह आगे बढ़ सकता है। इसलिए जिन स्कूलों में शिक्षा का माध्यम तमिल थी, उनमें छात्रों की संख्या लगातार कम होती गई और वे अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षा पाने लगे।"

तमिलनाडु की जनता अपने मातृभाषा-प्रेम के लिए प्रसिद्ध है। उसे अपनी भाषा की प्राचीनता और साहित्य की समृद्धि पर उचित गर्व है। फिर क्या कारण है कि स्कूलों और कालेजों में तमिल शिक्षा का माध्यम नहीं हो पाती ?

इस प्रश्न का उत्तर श्री मोहनकुमार मंगलम ने बहुत स्पष्ट शब्दों में दिया है। उन्होंने लिखा है : "ऐसा इसलिए होता है कि सरकार और यूनिवर्सिटी अधिकारियों ने छात्रों के सामने लक्ष्य यह रखा है—"अंग्रेज़ी खूब अच्छी तरह सीखो

[1] इंडियाज लैंग्वेज क्राइसिस : मोहनकुमार मंगलम, प्रकाशक न्यू सेंचुरी बुक हाउस मद्रास पृ० १२२, मू० ५ रु०।

जिससे अखिल भारतीय स्तर पर ऊँची नौकरियों के लिए होड़ कर सकें और यूनिवर्सिटी में भी कारगर ढंग से शिक्षा प्राप्त कर सकें।"

हमारे देश में शिक्षा-संस्थाएँ नौकरियों से जुड़ी हुई हैं। अंग्रेजों ने शासन-तन्त्र चलाने के लिए क्लर्क से लेकर कमिश्नर तक के लिए अंग्रेजी की शिक्षा अनिवार्य कर दी थी। वही स्थिति आज भी है।

श्री मोहनकुमार मंगलम ने दो साल पहले दिया हुआ श्री भक्तवत्सलम का भाषण उद्धृत किया है। इसमें उन्होंने कहा था, "माता-पिता चाहते हैं कि उनके बच्चे सरकारी नौकरियाँ पाएँ। राज्य की नौकरियों के मुकाबले में केन्द्रीय नौकरियाँ ज्यादा आकर्षक होती हैं। इसलिए माता पिता और छात्रों की भी पहली तमन्ना यह होती है कि वे आई० ए० एस० और आई० पी० एस० जैसी केन्द्रीय सेवाओं की परीक्षा में बैठें।" यही कारण है कि तमिलनाडु में तमिल राजभाषा नहीं बन पाती। उसे कागजी तौर पर राजभाषा बना दिया जाता है लेकिन वास्तविक प्रभुसत्ता रहती है अंग्रेजी के हाथ में। श्री मोहनकुमार मंगलम के शब्दों में—"अंग्रेजी की शिक्षा पाये बिना किसी भी तमिलभाषी के लिए केन्द्रीय नौकरी पाने का सवाल नहीं उठता।"

कांग्रेसी नेताओं ने केन्द्र में अंग्रेजी का प्रभुत्व कायम रखकर राज्यों में वहाँ की भाषाओं को पददलित कर रखा है। तमिल जैसी प्राचीन और सम्पन्न भाषा अंग्रेजी की दासी बनी हुई है। मद्रास में तमिल राजभाषा नहीं बन पाई, इसका कारण यह नहीं है कि हिन्दी उसका दमन कर रही है, इसका कारण यह है कि कांग्रेसी नेताओं ने साम्राज्यवादियों की चलाई हुई—शासन-तन्त्र और शिक्षा के बारे में अंग्रेजी के व्यवहार की—नीति को बरकरार रखा है। इस नीति के लिए केवल हिन्दी क्षेत्र के नेता जिम्मेदार नहीं हैं—यद्यपि उन्हें ज्यादा शर्म आनी चाहिए क्योंकि वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का दावा भी करते हैं—अहिन्दी क्षेत्रों के नेता भी उतने ही जिम्मेदार हैं।

भारतीय भाषाओं में मुख्य अन्तर्विरोध हिन्दी अहिन्दी का नहीं है, मुख्य अन्तर्विरोध अंग्रेजी और समस्त भारतीय भाषाओं का है। राज्यों में अंग्रेजी के प्रभुत्व का कारण है—केन्द्रीय सेवाओं में उसका व्यवहार।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब तक केन्द्रीय सेवाओं से अंग्रेजी न हटेगी, तब तक तमिल भी मद्रास में व्यावहारिक रूप में राजभाषा न बनेगी। इसलिए समाधान ऐसा होना चाहिए जिससे केन्द्रीय सेवाओं में अंग्रेजी का चलन खत्म हो।

श्री मोहनकुमार मंगलम ने कांग्रेस के पुराने प्रस्ताव का हवाला देते हुए सभी भारतीय भाषाओं को अखिल भारतीय परीक्षाओं का माध्यम बनाने की बात कही है। उनका सुझाव सही है। कमी इतनी है कि उन्होंने केन्द्रीय सेवाओं में केवल परीक्षाओं के लिए भारतीय भाषाओं के ऐच्छिक माध्यम होने का सवाल उठाया है। जब मद्रास के छात्र तमिल में परीक्षा देकर अफसर बनेंगे,

तब वे अंग्रेजी का व्यवहार करेंगे, या भारतीय भाषाओं का—इस प्रश्न पर उन्होंने विचार नहीं किया। अखिल भारतीय सेवाओं का माध्यम अंग्रेजी ही रहेगी—इसलिए संकट ज्यों-का त्यों बना रहता है। परीक्षा आप चाहे जिसमें दे लें, काम अंग्रेजी में ही करना पड़ेगा।

श्री मोहनकुमार मंगलम ने तीन भाषाओं वाले फार्मूले का समर्थन किया है। इस फार्मूले में अंग्रेजी का स्थान सुरक्षित है। अंग्रेजी का स्थान सुरक्षित रखकर अंग्रेजी का प्रभुत्व नहीं खत्म किया जा सकता। फलतः तमिलनाडु में भी तमिल को राजभाषा और उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया जा सकता।

अंग्रेजी की शिक्षा वैकल्पिक हो—यह माँग करनी चाहिए। किसी भी स्वाधीन देश के विद्यालयों में किसी विशेष विदेशी भाषा का अध्ययन सभी छात्रों के लिए अनिवार्य नहीं होता। केन्द्र में अंग्रेजी का प्रभुत्व खत्म करना चाहिए। उसकी जगह हिन्दी चले या अनेक भारतीय भाषाओं का व्यवहार हो—श्री मोहनकुमार मंगलम जो फैसला करेंगे, मैं उसका समर्थन करूँगा। लेकिन केन्द्र में अंग्रेजी चलाते रहने से भारत का भाषा-संकट हल न होगा, उल्टे वह और गहरा होगा और इससे तमिल की उतनी ही हानि होगी जितनी हिन्दी की।

भारतीय भाषाओं को प्रदेशों में राजभाषा का पद न दिया जाय—इसके लिए अंग्रेजी प्रेमी विद्वान तर्क देते हैं कि वे भाषाएँ पिछड़ी हुई हैं। यद्यपि किसी ने भारतीय भाषाओं में एक भाषा लेकर वैज्ञानिक परीक्षा करके यह नहीं दिखाया कि पिछड़ापन किस बात में है—फिर भी यह सर्वमान्य सत्य बन गया है कि अंग्रेजी के मुकाबले में भारतीय भाषाएँ आम तौर से—और हिन्दी खास तौर से—पिछड़ी हुई हैं।

तमिल विकसित भाषा है या नहीं ? उसमें मद्रास राज्य का सरकारी काम हो सकता है या नहीं ? उसमें उच्च शिक्षा दी जा सकती है या नहीं ?

श्री मोहनकुमार मंगलम ने इन प्रश्नों के परस्पर-विरोधी उत्तर दिये हैं। उनकी समझ में भारत के भाषा संकट का मुख्य कारण यह है कि सरकारी परवरिश के कारण हिन्दी को विकसित होने का मौका मिला लेकिन अहिन्दी भाषाएँ अविकसित रह गईं। इसलिए समस्या का समाधान यह है कि पहले इन भाषाओं को राजभाषा बना दिया जाय, उन्हें विकसित होने दिया जाय, इसके बाद ही केन्द्र से अंग्रेजी हटाने का सवाल उठेगा।

उन्होंने लिखा है, ' हमें यह न भूलना चाहिए कि अपनी प्राचीनता, अपनी देन, अपने उत्कृष्ट साहित्य आदि गुणों के बावजूद वे किसी भी समय, बहुत से बहुत, एक संकुचित गुट के विचारों का वाहन ही रही हैं।"

इसका अर्थ है कि वे वर्तमान सभ्य समाज की शिक्षा-संस्कृति राजनीति का माध्यम बनने के योग्य नहीं हैं।

उनके विचार से अंग्रेजों के आने से पहले भारत की संस्कृति प्राचीन होते

हुए भी गतिरुद्ध (स्टैगनेन्ट कल्चर ग्रॉफ इंडिया) हो चुकी थी। अंग्रेज़ी के प्रभुत्व से भारतीय भाषाओं की प्रगति रुक गई थी, "अर्थात् आधुनिक भाषाओं के रूप में, आधुनिक विचारों को प्रकट करनेवाले माध्यम के रूप में विकसित होने से रोका गया।"

मैं नहीं जानता कि वे आधुनिक विचार कौन से हैं जो तमिल या हिन्दी के माध्यम से प्रकट नहीं किए जा सकते। इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि आदरणीय बन्धु मोहनकुमार मंगलम ने जो विचार इस पुस्तक में प्रकट किये हैं, वे किसी भी भारतीय भाषा में बखूबी प्रकट किए जा सकते हैं।

कुमारमंगलमजी ने यह मत भी बड़ी स्पष्टता से प्रकट किया है कि भारतीय भाषाएँ सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप पूर्णतः विकसित हैं। उन्होंने पुस्तक के पृष्ठ ४० पर लिखा है—

"हकीकत यह है कि (आठवीं अनुसूची में उल्लिखित) सभी भाषाएँ विकसित भाषाएँ हैं। इन्हें करोड़ों आदमी बोलते हैं और मानते हैं कि उच्च शिक्षा का माध्यम बनने के लिए वे पूरी तरह विकसित हैं।"

यदि भारतीय भाषाएँ विकसित हैं तो भाषा-संकट इसलिए नहीं पैदा हो गया कि सरकार ने हिन्दी को ज्यादा विकसित कर दिया है और तमिल पीछे रह गई है। भाषाएँ अविकसित हैं—यह एक बहाना है जो हिन्दी और तमिल, सभी भारतीय भाषाओं के खिलाफ इस्तेमाल किया जाता है। संकट का असली कारण है केन्द्र में अंग्रेज़ी का प्रभुत्व। इसी प्रभुत्व के कारण तमिल अपने प्रदेश में राजभाषा नहीं बनी, इसी कारण वह शिक्षा का माध्यम नहीं बनी। जो भी केन्द्र में अंग्रेज़ी कायम रखकर राज्यों से अंग्रेज़ी हटाने का सपना देखता है, वह अपने को और दूसरों को धोखा देता है। जब तक केन्द्रीय सेवाओं में अंग्रेज़ी का चलन रहेगा, तब तक मद्रास का विद्यार्थी कभी अंग्रेज़ी छोड़ने को राज़ी न होगा।

श्री मोहन कुमारमंगलम कम्युनिस्ट पार्टी के पुराने कार्यकर्ता हैं। श्रमिक जनता के आन्दोलन से उनका गहरा सम्बन्ध रहा है। उनसे हम आशा कर सकते हैं कि वे मज़दूर वर्ग की एकता और भाषा समस्या पर भी कुछ कहेंगे। लेकिन उन्होंने इस पर कुछ नहीं कहा।

अखिल भारतीय स्तर पर मज़दूरों के संगठन की भाषा अंग्रेज़ी क्यों है? अखिल भारतीय किसान-सभा के केन्द्रीय दफ्तर की कार्यवाही अंग्रेज़ी में क्यों होती है (या होती थी)? कम्युनिस्ट पार्टी के नेता सम्पर्क भाषा के रूप में अंग्रेज़ी का व्यवहार क्यों करते हैं? कम्युनिस्ट पार्टी के केन्द्रीय दफ्तर में अंग्रेज़ी का व्यवहार क्यों होता है? पार्टी और जन-संगठनों में अंग्रेज़ी के इस प्रभुत्व से हानि होती है या लाभ? श्री मोहनकुमार मंगलम ने ऐसा एक भी सवाल अपनी पुस्तक में नहीं उठाया। यह उसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है।

इस देश में जब अंग्रेज आए, तब यहाँ के राजा और नवाब, मिलकर उनसे लड़ने के बजाय, आपस में लड़ते रहे। आपस में लड़ने के लिए वे बारी-बारी

से अंग्रेजों की मदद लेते रहे और अंग्रेज बारी-बारी से उन्हें खत्म करके उनका राज्य हड़पते रहे।

वर्तमान काल में जातीय विद्वेष जोर स बढा है। गोआ को लेकर मैसूर के मुख्यमन्त्री ने जितनी सरगर्मी महाराष्ट्र के विरुद्ध दिखाई है, उतनी सरगर्मी पुर्तगाल के खिलाफ न दिखाई थी। भाषा की समस्या जातीय समस्या का अग है। भारतीय भाषाओं के हिमायती आपस में लडते हैं और अंग्रेजी की जय बोलते हैं। जातीय विद्वेष का एक रूप भाषागत विद्वेष है। इस तरह का द्वेष पूंजीपतियों के लिए स्वाभाविक है, पूंजीवादी विचारधारा से प्रभावित मध्यवित्त श्रेणी के बुद्धिजीवियों के लिए यह विद्वेष बहुत कुछ सुखकर और जीवन की मुख्य प्रेरणा है। केवल मजदूर वर्ग में यह क्षमता है कि वह इस विद्वेष से ऊपर उठकर अन्तर्जातीय भाईचारे के आधार पर राष्ट्रीय एकता दृढ करे। इसीलिए अंग्रेजी और मजदूर वर्ग की अखिल भारतीय एकता का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

भाषा सकट क्यों पैदा हुआ, मद्रास में अंग्रेजी क्यों कायम रहती है, सविधान के निर्माताओं की किन गलतियों से प्रादेशिक भाषाओं का चलन न हुआ, यह समस्त सूक्ष्म विश्लेषण, कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर अंग्रेजी के व्यवहार पर नजर डालते ही, वकीलों की जिरह की तरह कानूनी तौर पर सही परन्तु न्याय के प्रतिकूल मालूम होने लगता है। भला भाषाओं के विकास में 'इम्बैलेन्स' पैदा हो जाने से कम्युनिस्ट पार्टी में अंग्रेजी का चलन क्यों हो?

भारतीय जनतत्र को चलाने के लिए आसमान से फरिश्ते नहीं आते। वर्तमान युग में जनतन्त्र को चलाती हैं पार्टियां और पार्टियों के नेता। जब तक देश की राजनीतिक पार्टियां अपना अखिल भारतीय काम अंग्रेजी में करती हैं, तब तक न तो वे देश की भाषा समस्या हल कर सकती हैं, न दरअसल उन्हें इस समस्या पर बोलने का नैतिक अधिकार है।

श्री मोहनकुमार मगलम ने लिखा है कि हर नागरिक का यह अधिकार होना चाहिए कि वह लोकसभा में अपनी मातृभाषा में बोल सके।

मैं इस मांग का समर्थन करता हूं। हमारे साथी बोलें तो भारतीय भाषाओं में। फिर देखें, हिन्दी और अहिन्दी भाषियों का कैसा जबर्दस्त अंग्रेजी विरोधी मोर्चा बनता है। लेकिन वे खुद बोलेंगे अंग्रेजी में, दूसरों के लिए मातृभाषा में बोलने का अधिकार मांगेंगे! इस तरह सात जन्म में अंग्रेजी का प्रभुत्व दूर न होगा।

लोकसभा में भारतीय भाषाओं का व्यवहार कीजिए। जन-सगठनों का अखिल भारतीय काम देशी भाषाओं में कीजिए। अपने केन्द्रीय दफ्तर से अंग्रेजी निकालिए। भारत का भाषा सकट हल करने का यही कारगर तरीका है।

(१९ ५)